श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतम्-अन्तिमम्

सेवाफलम् ।

(समस्त चौदह संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ
एवं

अनुस्यूता

टीका सहित)

□ संपादक व लेखक □

गोस्वामी राजकुमार

□ *प्रकाशक* □
गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी
"चरणाट" बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. ● दूरभाष : २८८४ ६५०६
वि. सं. २०६५ ● वल्लभाब्द ५३१
प्रति : १०००

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-अन्तिमम्

सेवाफलम् ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	सेवाफलम् (मूल पाठ) श्लोकार्थ	१
२.	श्रीकल्याणरायाणाम्	३
३.	चाचाश्रीगोपेशानाम्	९
४.	श्रीदेवकीनन्दनानाम्	१९
५.	श्रीहरिरायाणाम्	२७
६.	श्रीवल्लभानाम्	३८
७.	श्रीपुरुषोत्तमानाम्	४५
८.	श्रीद्वारकेशानाम्	५९
९.	श्रीलालूभट्टानाम्	६६
१०.	श्रीजयगोपालभट्टानाम्	८०
११	श्रीलक्ष्मणभट्टानाम्	१५५
१२.	श्रीगोकुलनाथानाम्	१६२
१३.	केषाञ्चित्	१७२
१४.	केषाञ्चित्	१८१
१५.	श्रीव्रजभूषणानाम्	१९१

॥ सेवाफलं सविकरणम् ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

जिस प्रकार **की सेवा** हमने पहले कही, वह सेवा सिद्ध होने पर उसका फल कह रहे हैं।
जब प्रभु अलौकिक का दान करते हैं, तब आद्य मनोरथ सिद्ध होता है॥ १॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

सेवा में प्राप्त होने वाले फल में अथवा तो सेवा का अधिकार मिलने में काल नियामक **(शासनकर्ता)** नहीं है अपितु भगवान ही हैं। १

सेवायां फलत्रयं अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो[1] *वैकुण्ठादिषु।*
सेवा में तीन फल प्राप्त होते हैं ; एक अलौकिक सामर्थ्य, दूसरा सायुज्य, तीसरा वैकुण्ठ आदि में प्रभु की सेवा में उपयोगी देह।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥

भगवत्सेवा में उद्वेग, प्रतिबन्ध या भोग बाधक होते हैं॥२॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्नहि।

इन तीनों के अलावा यदि भगवान ही सेवा के फल को सर्वथा सिद्ध नहीं करना चाहते, तब तो जीव की कोई गति ही नहीं रह जाती **(अर्थात् जीव विवश हो जाता है)**।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ३॥

तब तो जीव के पास "मैं आसुरी हूँ" इस तत्व का निर्धारण कर लेना एवं विवेकपूर्ण रहना, ये दो ही साधन रह जाते हैं॥ ३॥

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।

जीव को सेवा में आनेवाले बाधकों का परित्याग करना चाहिए, उसमें भी लौकिक-अलौकिक भोग में से लौकिकभोग का त्याग करना चाहिए।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ४॥

दूसरे अलौकिकभोग का नहीं क्योंकि अलौकिकभोग श्रेष्ठ है, निष्कंटक है एवं महान है ; वह प्रथमफल में(अर्थात् अलौकिक सामर्थ्य में) प्रवेश करता है॥ ४॥

"अलौकिकभोग प्रथमफल-अलौकिकसामर्थ्य में प्रवेश करता है" इस पंक्ति का अर्थ यह है कि अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्य के अंतर्गत आता है। भगवान जब अलौकिक सामर्थ्य देते हैं, तब जीव अपने नेत्रों से साक्षात् भगवद्-दर्शन कर पाता है, भगवद्-अधरामृत का पान कर पाता है, भगवद्-कूजित का श्रवण कर पाता है। इसका अभिप्राय यह है कि, जब जीव को अलौकिकसामर्थ्य प्राप्त होती है, तब ही वह अलौकिकभोग कर पाता है। अतः अलौकिकभोग प्राप्त कर लेने को प्रथमफल-अलौकिकसामर्थ्य के अंतर्गत गिनना चाहिए। प्रथमफल का तात्पर्य है- अलौकिकभोग।

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयं उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा। सेवा में प्रतिबन्धक तीन हैं- उद्वेग, प्रतिबन्ध एवं भोग। *त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः।* ये तीन जिन साधनों से उत्पन्न होते हैं, उन साधनों का परित्याग करना चाहिए। ***भोगो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकस्त्याज्य एव।*** भोग दो प्रकारका होता है- लौकिकभोग एवं अलौकिकभोग। इसमें लौकिकभोग तो त्याज्य ही है। ***अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति।*** किंतु अलौकिकभोग तो सेवा के तीनों फलों के अंतर्गत प्रथमफल(अलौकिक सामर्थ्य) में प्रवेश करता है। ***प्रतिबन्धोपि द्विविधः साधारणो भगवत्कृतश्च।*** प्रतिबन्ध भी दो प्रकार का होता है - साधारण प्रतिबन्ध एवं भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध। ***तत्र आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः।*** इसमें पहला अर्थात् साधारण प्रतिबन्ध तो बुद्धिपूर्वक चतुराई द्वारा त्याग देना चाहिए। ***भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यतीति***

---

[1] "सेवोपयिकदेह" इत्यपि पाठः.

मन्तव्यम्। किंतु जब भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होता है तब तो "भगवान फल नहीं देंगे" यह मान लेना चाहिए। *तदा अन्यसेवापि व्यर्था।* ऐसी परिस्थिति में अन्यसेवा (अन्यसेवा का अर्थ भिन्न भिन्न टीकाकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है अतः वे टीकाएँ देख लेनी चाहिए) भी व्यर्थ हो जाती है। *तदा आसुरोयं जीव इति "निर्धारः"। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति "विवेकः"।* तब उसे "मेरा जीव आसुरी है" ऐसा निर्धारित कर लेना चाहिए और अपने शोक को दूर करने के लिये ज्ञानमार्ग में रहना चाहिए, यह विवेक है। *ननु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह -*

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।

किंतु प्रश्न यह होता है कि आखिर साधारणभोग का त्याग क्यों करें ? तो इसका उत्तर अग्रिमपंक्ति में कहते हैं - साधारणभोग विघ्नसहित है, अल्प है एवं घातक है अतः साधारण भोग एवं साधारण प्रतिबन्ध दोनों बड़े बलशाली माने गये हैं।

"सविघ्नो अल्पो घातकः *स्याद्" इति सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् भोगस्त्याज्यः।* विघ्नसहित एवं अल्प होने के कारण भोग घातक होता है अतः इन दोनों कारणों से भोग का त्याग कर देना चाहिए। *"एतौ" प्रतिबन्धकौ।* ये भोग एवं प्रतिबन्ध दोनों प्रतिबन्धक हैं।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

द्वितीय (भगवतकृत प्रतिबन्ध) होने पर तो "प्रभु ने मेरे लिये संसार ही निश्चित कर रखा है" यों मानकर अलौकिकफल प्राप्त करने की चिन्ता सर्वथा त्याग देनी चाहिए॥ ५॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः। द्वितीयप्रतिबन्ध भगवतकृतप्रतिबन्ध है। *ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह "द्वितीय" इति।* ज्ञानमार्ग में रहने पर भी यदि प्रतिबन्ध आ रहे हों तो उस चिन्ता को दूर करने के लिये आचार्यचरणों ने आगे "द्वितीय" इत्यादि शब्दों से कहा है।

नत्वाद्ये दातृता नास्ति ....

यदि आद्यफल (अलौकिक सामर्थ्य) प्राप्त नहीं होता है , तो फिर भगवान की दातृता (देने की इच्छा) नहीं है- यह मान लेना चाहिए। *आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति। तदा सेवा नाधिदैविकी इत्युक्तं भवति।* यदि जीव को आद्यफल नहीं मिलता तो भगवान की दातृता(देने की इच्छा)नहीं है। तब वह सेवा आधिदैविकी नहीं है- यह कहना पड़ेगा।

.. तृतीये बाधकं गृहम्।

तृतीय अर्थात् साधारणभोग का परित्याग करने में गृह बाधक बनता है।

भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः। साधारणभोग तो तब ही त्यागा जा सकेगा, जब गृह का परित्याग करेंगे।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥

हमारी कही इस रीति का सदा भावन करें, इसके अतिरिक्त सभी कुछ मन का भ्रम है॥ ६॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

तदीयों को भी इसी रीति का भावन करना चाहिए ; पुष्टिपद्धति से अंगीकार करने पर प्रभु फलदान में विलंब नहीं करेंगे।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

गुणक्षोभ (माया के कारण मन विचलित) हो जाने पर भी इसी रीति का भावन करना चाहिए, यह मेरा मत है।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।

मेरे मत के अतिरिक्त अन्य दूसरा कुछ भी विचार करना कुसृष्टि है और वह निश्चितरूप से भ्रम ही है।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं सविवरणं सेवाफलं समाप्तम्॥

यह श्रीवल्लभाचार्यचरण द्वारा प्रकटित विवरणसहित सेवाफल समाप्त हुआ॥

* * *

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सेवाफलम्।

श्रीकल्याणरायविरचितसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम्।

⁂

श्रीमदाचार्यमार्गेण सेव्यमानोस्मदीश्वरः।
निवारयतु [१]नस्तापान् सुखसन्दोहसिद्धये॥ १॥

श्रीवल्लभाचार्यमार्गोक्तप्रकारेण सेव्यमानो भगवानितोधिकं किञ्चित् फलं दास्यति मुक्तिमेव वेति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्वल्लभाचार्याः [२]सेवासिद्धौ फलं **निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति। यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।** भक्तिमार्गे सेवा मया यादृशी प्रकर्षेणोक्ता "चेतस्तत्प्रवणं सेवे"ति तत्सिद्धौ सत्यां यत् फलं भवति तदुच्यते।

श्रीमदाचार्य के मार्ग द्वारा सेव्यमान हमारे ईश्वर।
अत्यधिकसुख की प्राप्ति के लिये हमारे तापों का निवारण करें॥ १॥

"श्रीमद्वल्लभाचार्य के मार्ग में कहे गये प्रकार से सेव्यमान भगवान इस सेवा से अधिक कुछ फल देंगे या फिर मुक्ति ही देंगे ?"- इस प्रकार के विचार द्वारा संदिग्ध चित्तवालों का समाधान करने के लिये श्रीमद्वल्लभाचार्य सेवा सिद्ध होने पर जो फल प्राप्त होता है, उस फल का निरूपण **यादृशी सेवना** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आचार्यचरणों का उक्त पंक्ति से तात्पर्य यह है कि, इस भक्तिमार्ग में हमने प्रकर्षरूप से जिस प्रकार की सेवा - "चित्त का भगवान में प्रवण होना सेवा है(सि०मु०-१)" - इत्यादि वाक्यों से कही है, वह सेवा सिद्ध होने पर जो फल होता है वह कह रहे हैं।

अस्य ग्रन्थस्य गूढार्थत्वाद्विवरणमपि श्रीमदाचार्याः कृतवन्तः।

सेव्यमानो भगवान् प्रसादानुसारेणोत्तममध्यमसाधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति त्रैविध्याद्विवरणे **सेवायां फलत्रयमित्युक्तम्।** तत्रोत्तमं फलमाहुः **अलौकिकसामर्थ्यमिति।** भगवता सह गानादौ सामर्थ्यं, मुख्यानामिव। मध्यमं फलमाहुः **सायुज्यमिति।** सह युनक्तीति सयुक् , सयुजो भावः सायुज्यं सहभावः, गोपानामिव। साधारणं फलमाहुः **सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठादिष्विति।** [३]आदिपदाद्भूलोके उद्धवादीनामिव।

यह ग्रंथ गूढ़ होने के कारण **श्रीमदाचार्य** ने इसका विवरण भी किया है।

यहाँ यह समझिये कि सेव्यमान भगवान उनकी अपनी कृपा के अनुसार उत्तम-मध्यम-साधारण प्रकार से फल देते हैं अतः यह फल तीन प्रकार का होने के कारण विवरण में आचार्यचरणों ने- **सेवायां फलत्रयम्** (सेवा में तीन फल हैं) -यों कहा है। इन तीनों में जो उत्तमफल है उसे आपश्री ने **अलौकिक सामर्थ्य** इन शब्दों से कहा है। इसका तात्पर्य भगवान के संग गान-आदि करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जानी है; जैसे कि मुख्य गोपिकाओं को अर्थात् नित्यसिद्धा गोपिकाओं को प्राप्त हुआ। मध्यमफल को आपश्री ने विवरण में **सायुज्यं** शब्द से बताया है। संग में जुड़ने को सयुक् कहते हैं ; संग में जुड़े रहने के भाव को सायुज्य कहते हैं अर्थात् सहभाव (साथ रहना) , जैसे कि भगवान के ग्वालबाल उनके संग सदा रहते थे। साधारणफल को आचार्यचरणों ने **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु** (भगवान के वैकुण्ठ में उनकी सेवा में उपयोगी देह प्राप्त होनी) इत्यादि शब्दों से कहा है। यहाँ "आदि" पद से यह ज्ञात होता है कि, यह फल प्राप्त होने पर वैकुण्ठ में तो सेवोपयोगिदेह प्राप्त होती ही है परंतु इस भूलोक में भी ऐसी देह मिल सकती है , जैसे कि उद्धवजी-आदि को प्राप्त हुई थी।

---

[१] मत्पापानिति पाठः। [२] सेवाफलसिद्धाविति पाठः। [३] भूलोकेषु गवादीनामिवेति पाठः।

सेवासिद्धौ सत्यां यदि भगवानलौकिकं देहादिकं सम्पादयति तदा फलविषयको मनोरथोन्योपि सिध्यतीत्याहुः अलौकिकस्येति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

अलौकिकस्य योग्यस्य शरीरादेर्दाने सति अधिकारसम्पत्तौ सत्यां पूर्वोक्तं फलं प्राप्नोतीत्यर्थः। हीति युक्तश्चायमर्थः। एतत् फलं साधनानां साधनासाध्यत्वात्। चोप्यर्थे। चाल्प इतिपाठे साधारणहीनमध्यमयोः कथञ्चित्सिद्धावपि भगवद्दानं विनोत्तमं फलं न सिध्यतीत्यर्थः॥ १॥

सेवासिद्ध होने पर यदि भगवान अलौकिक देहादि का संपादन करते हैं, तब जीव के अन्य फलविषयक मनोरथ भी सिद्ध होते हैं - इस बात को आपश्री **अलौकिकस्य** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

अलौकिक का दान होना अर्थात् भगवत्सेवा के लिये भगवान द्वारा एक योग्य शरीर का दान। ऐसे योग्य शरीर का दान मिलने पर जीव उस फल को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है एवं तब वह पूर्व में कहे गये अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल को प्राप्त करता है। अधिकारी बनने पर फल प्राप्त होना तो युक्त ही है - इस बात को बताने के लिये यहाँ "हि" अव्यय का प्रयोग है। क्योंकि पूर्व में कहा गया अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल प्रभुकृपा के बिना अन्य साधनों में किये जाने वाले कियाकलापों से असाध्य है। यहाँ "च" शब्द को "अपि(भी)" के अर्थ में समझिये, जिसका तात्पर्य यह है कि जब भगवान् अलौकिक शरीर का दान करेंगे तब मनोरथ भी सिद्ध हो जायेगा। और यदि "चाद्य" के स्थान पर "चाल्प" पाठ मान लिया जाय तो अर्थ यह बनेगा कि हीन-मध्यम(अर्थात् सायुज्य एवं सेवोपयोगिदेह) ये दोनों साधारणफल तो जैसे-तैसे सिद्ध हो भी जाएँ परंतु उत्तमफल तो भगवान जब तक दान न करें, तब तक सिद्ध नहीं हो सकता॥ १॥

कालकर्मवशादिदं कदाचिद्भवेदित्याशंक्याहुः फलं वेति।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

भजनानन्दलक्षणफले तदधिकारयोः कालो नियामको दाता प्रतिबन्धको वा न भवतीत्यर्थः।

अब किसी को यदि ये शंका हो कि पूर्व में कहे ये फल तो कदाचित् कालकर्म के अनुसार भी प्राप्त हो जायेंगे, तो इसका निवारण करने के लिये आपश्री आगे **फलं वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ***** एक सामान्य नियम यह है कि व्यक्ति को फल या तो कर्मों द्वारा प्राप्त होता है या फिर काल द्वारा। संसारसंबंधी लौकिकफल कालचक्र के द्वारा स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। जैसे दुःख बिना प्रयास के प्राप्त होता है, वैसे सुख भी अपने आप बिना प्रयास के प्राप्त हो जाता है। विशेष जानने के लिये देखें श्री०भा० १-५-१८। किंतु यहाँ कहा जाने वाला फल काल-कर्म के अनुसार प्राप्त नहीं होता अपितु केवल भगवान की कृपा द्वारा ही प्राप्त होता है, यह टीकाकार आगे बता रहे हैं।***** आचार्यचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, भजनानन्दरूपी उतमफल प्राप्त होने में एवं भजनानन्दरूपी फल प्राप्त होने के दोनों अधिकार [अर्थात् सायुज्य(मध्यमफल) एवं सेवोपयोगिदेह(हीनफल)] प्राप्त होने में काल नियामक अथवा तो प्रतिबन्धक भी नहीं हो सकता है।

सेवासिद्धौ व्यवस्थया फलमुक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकान्याहु उद्वेग इति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥

सेवायां क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिरुद्वेगः। सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्ति अन्यकृतान्तरायादिश्च प्रतिबन्धः। भोगो विषयाणाम्।

एते त्रयः प्रत्येकं बाधकाः। तेनैतेषां साधनपरित्यागः कर्तव्यः। भोगो द्विविधः। लौकिकोऽलौकिकश्च। लौकिको लोकसिद्धः। यथा लोकाः स्वार्थमुच्चावचान् पदार्थानानीय भोगं कुर्वन्ति स लौकिको बुद्ध्या त्याज्यः। एतेन श्रुतिस्मृतिपुराणादिसिद्धो भोगो व्यावर्तितः। अलौकिको भगवद्दत्तः अम्बरीषादेरिव। स तु साधारणमध्यमोत्तमफलेषु प्रथमफले प्रविशति, यथा सेवोपयोगिदेहं दत्वा सेवां कारयित्वा प्रसादत्वेन दत्तानां भोगं कारयति भगवान् स अलौकिकभोगो न त्याज्यः। प्रतिबन्धोपि द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्च। तत्र साधारणः पूर्वमुक्तः। स बुद्ध्या त्याज्यः। यस्य यत्साधनस्य च प्रतीकारो न सम्भवति स भगवत्कृतः। स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यतीति ज्ञातव्यम्॥ २॥

यह तो सेवासिद्ध होने पर व्यवस्था के द्वारा फल कहा गया, अब सेवा की साधनदशा में जो बाधक होते हैं उन्हें आचार्यचरण उद्वेग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

सेवा करते समय प्रभु से अतिरिक्त अन्यत्र कहीं जाने की इच्छा-आदि होनी उद्वेग है। सेवासमय में लौकिकवैदिक अन्य कार्यों में आसक्ति होनी या फिर अन्यों के द्वारा व्यवधान होना इत्यादि प्रतिबन्ध है। भोग का अर्थ है - सांसारिक विषयों का भोग। इन तीनों में से प्रत्येक सेवा में बाधक हैं। अतः आचार्यचरण कह रहे हैं कि ये तीन जिन कारणों से होते हों उन कारणों का ही परित्याग कर दीजिये। भोग दो प्रकार का होता है - लौकिकभोग एवं अलौकिकभोग। लौकिकभोग तो लोक से सिद्ध होता है, जैसे लोग शास्त्रसंमत भोग का ध्यान न रखते हुए मनघड़ंत ढंग से अपने लिये छोटे बड़े पदार्थों को लाकर भोग करते हैं, ऐसा लौकिकभोग बुद्धिपूर्वक त्याग देना चाहिये। इस कथन से यह पता चलता है कि श्रुतिस्मृतिपुराणादि में कहे गये शास्त्रसिद्ध अलौकिकभोग को त्यागने की बात यहाँ नहीं कही जा रही है। .... जानना चाहिए कि शास्त्र ने मनुष्य के लिये अमुक लौकिकभोग निषिद्ध बताए हैं एवं अमुक लौकिकभोग संमत बताए हैं। टीकाकार का कहना यह है कि शास्त्रसंमत लौकिकभोगों का भोग करना अनुचित नहीं है।..... जैसे कि राजा अंबरीश को भगवान ने अलौकिकभोग इत्यादि दिया था, ऐसा भोग त्याज्य नहीं है। वैसा अलौकिकभोग तो साधारण-मध्यम-उत्तम फलों में से प्रथमफल अर्थात् साधारणफल के अंतर्गत आता है, जैसे कि भगवान भक्त को सेवोपयोगी देह देकर सेवा करवा कर प्रसादरूप से दी गयी वस्तुओं का भोग करवाते हैं, ऐसा अलौकिकभोग त्याज्य नहीं है। प्रतिबन्ध भी दो प्रकार का है। साधारणप्रतिबन्ध एवं भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध। साधारण प्रतिबन्ध के विषय में तो हम ऊपर कह चुके हैं कि उसका बुद्धिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये। किंतु जिस प्रतिबन्ध अथवा तो उसके साधनों का प्रतिकार करना संभव न होता हो, तो यह समझना चाहिये कि यह प्रतिबन्ध स्वयं भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध है। ऐसा प्रतिबन्ध जब हो, तब मान लें कि भगवान फल देना नहीं चाहते॥ २॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ३॥

अकर्तव्यं भगवतः। अस्य श्लोकस्य विवरणं भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तम्। **तदान्यसेवापि व्यर्थेति।** महादेवनारदादीनां भक्तिदातृत्वश्रवणान्महादेवादिसेवया सेवातत्फलसिद्धिर्भविष्यतीत्याशया कृता महादेवादिसेवापि व्यर्था, नैतत्फलसाधिकेत्यर्थः। **तदेति।** तदा आसुरः आसुरावेशवान् आसुरभाववान् वायं जीव इति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः। जीवस्यासुरत्वे सेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदा कथं ममैवं भवतीति शोकाभावाय भगवानीश्वरः स्वेच्छया सर्वं ददाति मम प्रायेण मुक्तिमेव दास्यतीति ज्ञात्वा ज्ञानमार्गेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वता स्थेयमित्यर्थः। यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथायं विवेको वा साधने इत्यर्थः। अत्रायं भावः। दुःसंगात् बाहिर्मुख्ये भक्तापराधे वा भगवान् प्रतिबन्ध करोति तदा अन्यसेवया स्वतो वा मुख्यं फलं न भवतीत्यर्थः॥ ३॥

अब **अकर्तव्यं भगवतः** इत्यादि शब्दों की व्याख्या की जाती है। इस श्लोक का विवरण आचार्यचरणों ने अपनी टीका में "**भगवतश्चेत्**" से आरंभ करके "विवेक" तक के शब्दों में किया है। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि यदि भगवान फल देना नहीं चाहते तो अन्यसेवाएँ भी फिर व्यर्थ हो जायेंगी अर्थात् "महादेव, नारद आदि अन्य देवता भक्ति दे देते हैं" - यह सुना होने से कोई यह सोच ले कि चलो भगवान भले ही न दें परंतु इन देवताओं की सेवा द्वारा फलसिद्धि हो जायेगी, तो इस आशा से की गयी इन देवताओं की सेवा भी व्यर्थ हो जायेगी, फलसाधिका नहीं होगी- यह अर्थ है। **तदा** का अर्थ है - तब ऐसा जीव या तो आसुरावेशी है या फिर आसुरभाववाला है, यह निर्धारण कर लेना चाहिये। क्योंकि जीव में यदि आसुरभाव है तो सेवा में उसकी प्रवृत्ति होगी ही नहीं। तब इस परिस्थिति में जीव यदि "मैंने साधन भी किये परंतु प्रतिबन्ध दूर नहीं होते, तो ऐसा मेरे संग क्यों हो रहा है?" इस प्रकार से शोक करे तो अपने शोक को दूर करने के लिये उसे यह सोचना चाहिये कि "भगवान ईश्वर हैं, उनकी इच्छा से ही सभी कुछ देंगे अतः मुझे कदाचित् पुष्टिफल न देकर मुक्ति ही देने वाले हैं" - इस प्रकार से सोच कर ज्ञानमार्ग द्वारा उसे श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते हुए रहना चाहिये। प्रथमतया "भगवान मुझे फल देना नहीं चाहते" ऐसे तत्वनिर्धारण कर लेना और दूसरा यह कि "अब मुझे मुक्ति ही मिलने वाली है अतः मुझे ज्ञानमार्गीय श्रवण-मनन इत्यादि करना चाहिये" इस बात का विवेक ; ये दोनों

ही शोक का निवारण करने में दो साधन हैं। उपर्युक्त पंक्तियों का भाव यह है कि दुःसंग से, वहिर्मुखता से अथवा भक्त का अपराध करने से भगवान प्रतिवन्ध करते हैं और तब अन्य देवताओं की सेवा या स्वयं के प्रयास द्वारा भी मुख्यफल प्राप्त नहीं होता ॥ ३॥

ननु साधारणो लौकिको भोगः किमर्थं त्याज्यः, भोगेनैव सेवा कर्तव्येत्याशंक्याहुः **सविघ्नोल्पो घातक इति**।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ मतौ
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ४॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ५॥

सविघ्नत्वात् सर्वथा न सिध्यति। जायमानोप्यल्पसुखजनको भवति, भावद्घातकोपि भवति, अतस्त्याज्यः। ननु सावधानतया स्थितेर्न भोगप्रतिबन्धकयोर्बाधकत्वमित्यत आहुः सावधानेपि भोगप्रतिबन्धौ वस्तुसामर्थ्यादेव प्रतिबन्धकौ सम्मतावित्यर्थः। बाधकानामितिश्लोक एवं योजनीयः। **बाधकानां परित्यागः कर्तव्यः। भोगेप्येकं** [1]परमुत्कृष्टमेकं भोगं विहाय तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। यतो निःप्रत्यूहं यथा स्यात्तथा महान् भोगः प्रथमे प्रविशति। पूर्वं व्याख्यातमेतत्।

अब प्रश्न यह होता है कि साधारण लौकिकभोग का त्याग क्यों करें, भोगपूर्वक ही सेवा क्यों न कर ली जाय ? इसका समाधान आचार्यचरण **सविघ्नोल्पो घातकः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि लौकिकभोग विघ्नसहित होने के कारण सर्वथा तो सिद्ध ही नहीं हो सकता। यदि हो भी जाय तो वह अल्पसुखदायी ही रहेगा, वह हमारे भगवद्भाव का घातक भी होता है अतः त्याज्य हैं। किंतु यदि "सावधानीपूर्वक रहें तो भोग और प्रतिबन्ध बाधक नहीं हो सकेंगे"- कोई ऐसा कहता हो तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भोग एवं प्रतिबन्ध की अपनी वस्तुसामर्थ्य ही ऐसी है कि सावधानी बरतने पर भी ये प्रतिबन्धक होते ही हैं। **बाधकानां** इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करनी चाहिये कि- बाधकों का परित्याग कर देना चाहिये और भोग में से भी एक **परम–उत्कृष्ट** (अर्थात् अलौकिकभोग) भोग को छोड़ कर दूसरे लौकिकभोग का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि अलौकिकभोग निष्कंटक है अतः उसे **महानभोग** की संज्ञा दी जाती है अतः यह प्रथमफल अलौकिकसामर्थ्य में प्रवेश कर जाता है। इस बात का व्याख्यान हम पहले कर चुके हैं।

ज्ञानस्थितीति। ज्ञानमार्गेण स्थितावपि प्रतिबन्धे या चिन्ता [2]तदभावार्थमित्यर्थः। अत्रायं भावः। पूर्वं ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्युक्तम्। अधुना श्रीकृष्णप्रासादाभावान्मुक्तिरपि न भवतीति स्वस्य संसारनिश्चयात् फलार्थं चिन्ता न कर्तव्येत्यर्थः। ननु पूर्वकृतसेवायाः सत्त्वात् फलं कथं न भवेदित्याशंक्याहुः **आद्येति**। आद्येन भगवता भगवत्कृतप्रतिबन्धेन फलाभावे कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वाभावात् सा सेवा नाधिदैविकी, कायवाङ्मनोभिस्तत्परतया कृतत्वेपि भक्तापराधादिना भगवांश्चेत्तां न मन्येत तदा सा सेवा नाधिदैविकी भवति, भगवद्गामिनी न भवति। आधिदैविक्या एवैतत्फलसाधकत्वात्। **भोगेति**। **गृहपरित्यागः** गृहासक्तिपरित्याग इत्यर्थः। **द्वितीय इति**। द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धस्तस्मिन् सति फलं कथं स्यादिति चिन्ता संसारनिश्चयात् सर्वथा त्याज्येत्यर्थः॥ ४,५॥

आचार्यचरणों के विवरण में **ज्ञानस्थिति** इत्यादि शब्दों का तात्पर्य यह है कि ज्ञानमार्ग में रहने पर भी यदि प्रतिबन्ध आते हों, और इससे जो मन में चिन्ता होती है, उसे दूर करने के लिये पूर्व में कहे तत्वनिर्धारण और विवेक ये दो साधन कर लेने चाहिए। भाव यह है कि पूर्व में यह कहा गया कि ज्ञानमार्ग में रहना चाहिये और अब ज्ञानमार्ग में रहने पर भी यदि श्रीकृष्ण की कृपा नहीं है तो मुक्ति भी नहीं होगी अतः इस परिस्थिति में यह सोचना चाहिये कि भगवान ने हमारे लिये संसार में ही डूबे रहना निश्चित कर रखा है अतः फल के लिये चिन्ता करनी व्यर्थ है। परंतु जीव को शंका यह होती है कि ज्ञानमार्ग में आने से पहले जो सेवा की है उसका अस्तित्व तो रहेगा ही , तो उसी सेवा से मुझे फल प्राप्त क्यों नहीं सकता ? तो इसका समाधान आपश्री आद्य इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आद्य का अर्थ है – भगवान। आद्य द्वारा प्रतिबन्ध होने का तात्पर्य है – भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होना। आद्यफलाभावे का अर्थ है - भगवान के द्वारा फल का अभाव कर दिये जाने पर। भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होने से फल का अभाव रहने का कारण यह है कि सेवा काया-वाणी-मन से तत्पर होकर न की गयी होने के कारण वह सेवा आधिदैविकी नहीं बन पायी, इसलिए। चलो,

---

[1] दुष्टमितिपाठः। [2] तद्भावार्थमितिपाठः।

काया-वाणी-मन से कर भी ली हो तथापि यदि जीव से किसी भक्त का अपराध बन गया हो और भगवान उस सेवा को मान्य नहीं करते, तब भी वह सेवा आधिदैविकी नहीं बन पाती अर्थात् वह सेवा भगवान तक नहीं पहुँचती। आधिदैविकी सेवा ही पुष्टिफल को सिद्ध कर सकती है। आचार्यचरणों के विवरण में भोग का त्याग करने का अर्थ है- गृह का त्याग अर्थात् गृह में रही अपनी आसक्ति का परित्याग करना चाहिये। मूलग्रंथ में कहे द्वितीय शब्द का अर्थ है - भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध। भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर "अब मुझे फल कैसे प्राप्त होगा ?" इस प्रकार की चिन्ता यह सोच कर सर्वथा त्याग देनी चाहिये कि भगवान ने मेरे लिये संसार में रहना ही लिखा है अतः अब चिन्ता करने से भी क्या लाभ ?॥ ४॥ ५॥

ननु प्रतिबन्धसाधारणभोगयोः सत्त्वेपि साधनकरणे फलं स्यादित्याशंक्याहुः न त्वाद्ये इति।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्
अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥

आद्ये भगवत्कृतप्रतिबन्धे भगवतो दातृता नास्ति। **तृतीये** साधारणभोगे गृहासक्तिर्बाधिकेत्यर्थः। **अवश्येयमिति**। इयं रीतिरवश्या, कर्तुमशक्यापि फलार्थं सदा कर्तव्यत्वेन भाव्या। **अन्यत्** सर्वसाधनं **मनोभ्रमः** स्वान्तभ्रान्तिरित्यर्थः॥। ६॥

अब यदि कोई ये सोचे कि, चलो भले ही मुझे प्रतिबन्ध भी होते रहें एवं मैं भोग भी करता रहूँ एवं साथ-साथ भगवत्सेवा भी करता रहूँ तो क्या मुझे फल प्राप्त हो जायेगा ? तो इसका समाधान आचार्यचरण अग्रिमपंक्ति **नत्वाद्ये** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं -**आद्ये** अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर ; जब भगवान ही प्रतिबन्ध करेंगे तब यह सोच लीजीए कि भगवान को किसी भी सूरत में फल देने की इच्छा नहीं है। **तृतीये** का अर्थ है -साधारणभोग ; आपश्री आज्ञा करते हैं - साधारणभोग को दूर करने में जीव की घर के प्रति उसकी आसक्ति अड़चन पैदा करती है। **अवश्येयं** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, यह हमने जो ऊपर इस मार्ग की रीति कही है वह यद्यपि अवश्या है अर्थात् जीव उसे करने में शक्य नहीं है तथापि पुष्टिफल प्राप्त करने के लिये हमारी कही रीति की सदा कर्तव्यरूप से भावना करें। हमारे द्वारा कहे गये साधनों से अतिरिक्त समस्त साधन केवल अपने मन का भ्रम है॥ ६॥

ननु भगवदीयानां स्वत एवैतत्फलं भविष्यति किमर्थं पूर्वोक्तं कार्यमित्याशंक्याहुः **तदीयैरिति**।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तसाधनं कार्यम्। मर्यादायामंगीकारात्। ननु भक्तिमार्गप्रवेशमात्रेण क्वचित् फलं दृश्यत इत्यत आहुः **पुष्टाविति**। पुष्ट्यंगीकारे तु भगवान् विलम्बं नैव कुर्यात् , तेन शीघ्रं फलसिद्धिरित्यर्थः।

परंतु प्रश्न यह है कि भगवदीयों को तो स्वतः ही उत्तमफल प्राप्त हो जायेगा, वे क्यों उपर्युक्त साधन करें ? तो आचार्यचरण इसे **तदीयैः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि, भले ही आप भगवदीय क्यों न हों तथापि पुष्टिमार्ग में प्रथमतया तो सभी का अंगीकार मर्यादापुष्टि में ही होता है अतः भगवदीयों को भी हमारे कहे साधन तो करने ही हैं। परंतु शंका यह होती है कि कहीं-कहीं तो ऐसा देखने में आता है कि किसी को भक्तिमार्ग में प्रवेश करते ही फल मिल जाता है, तो इसे आपश्री **पुष्टौ** शब्द से समझा रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भगवान जब किसी को पुष्टिपुष्टि में अंगीकार करते हैं तो फिर विलम्ब नहीं करते और इसी कारण उसे शीघ्र फलसिद्धि हो जाती है।

रजस्तमोभ्यां मनसः क्षोभेपि एतदेव साधनं कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यमित्याहुः **गुणक्षोभेपीति**।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

मम निश्चय एतावानेवेत्याहुः **मे मतिरिति**॥ ७॥

ननु साधनानां बहूनां सत्त्वात् किमिति एतदेव साधनमित्यत आहुः **कुसृष्टिरत्रेति**।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

अत्रास्मिन्फले **कुसृष्टिः** कुत्सितानां साधनानां या सृष्टिः कल्पना उत्पन्ना स्यात् सा भ्रम एव इत्यर्थः॥ ७॥

सेवाफलम्।

सेवाफलोक्तिविवृतेः स्वाचार्याणां यथामति
कृता कल्याणरायेन विवृतिः स्वसुखाय च॥ १॥

इतिश्रीवल्लभचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता सेवाफलोक्तिविवृतिः समाप्ता।

इसके आगे **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि रजतम गुणों के कारण मन में क्षोभ हो जाने पर भी ऊपर कहा साधन ही करना चाहिये।

"मेरा तो यही निश्चय है" यह कहने के लिये आपश्री मे **मतिः** कह रहे हैं।

अब किसी को शंका यह है कि साधन तो अनेक हैं फिर इस ग्रंथ में कहे गये साधन ही क्यों किये जाएँ ? तो आपश्री अग्रिम श्लोक में अन्य साधनों को **कुसृष्टि** बता रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि इस पुष्टिफल को प्राप्त करने के लिये **कुसृष्टि** अर्थात् हीन साधन करने की जो सृष्टि या कल्पना उत्पन्न होती है, वह तो भ्रम ही है॥ ७॥

हमारे आचार्यचरणों की सेवाफल की जो विवृत्ति है,
उसकी विवृत्ति मैं कल्याणराय ने यथामति अपने सुख के लिये की॥ १॥

यह श्रीवल्लभचरणों में एकनिष्ठ श्रीकल्याणराय द्वरा विरचित सेवाफलोक्ति की विवृति समाप्त हुई।

इस टीका का अध्ययन करने से पूर्व ग्रंथ के प्रति टीकाकार की योजना समझ लेनी आवश्यक है। आचार्यचरण ने जो यहाँ सेवा के तीन फल के विषय में कहा है, उसके लिये टीकाकार ने सेवा के तीन प्रकार के भेद किये हैं- पुष्टिपुष्टि, पुष्टिमर्यादा एवं मर्यादा सेवा। टीकाकार का मानना है कि,आचार्यचरणों ने अपने विवरण में जो तीन फल अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य-सायुज्य-वैकुण्ठ आदि में सेवोपयोगिदेह- यों तीन फल बताये हैं, वे क्रमशः इन्हीं तीन प्रकार की सेवाओं के फल हैं। तात्पर्य यह कि पुष्टिपुष्टिसेवा का फल "अलौकिक सामर्थ्य", पुष्टिमर्यादासेवा का फल "सायुज्य" एवं मर्यादासेवा का फल "वैकुण्ठ में सेवोपयोगिदेह" प्राप्त होनी है। इसके साथ-साथ पाठक यह भी ध्यान रखें कि, टीकाकार आगे अपनी टीका में यह भी कहेंगे कि मूलग्रंथ की प्रथमपंक्ति में आये "अलौकिक" शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य प्रथम अलौकिक सामर्थ्यरूपी फल से है। "फलं" शब्द से आपश्री का तात्पर्य दूसरे अर्थात् पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त होने वाले फल से है। और, "अधिकार" शब्द से आपश्री का तात्पर्य रमाप्रार्थितवैकुण्ठ में सेवोपयोगिदेह का अधिकार प्राप्त होने वाले फल से है। संक्षेप में टीकाकार का मानना यह है कि आचार्यचरणों ने इस ग्रंथ की प्रथम पंक्ति में ही अलौकिक-फल-अधिकार इन तीन शब्दों से सेवा के तीन फल गिना दिये हैं जो क्रमशः पुष्टिपुष्टि-पुष्टिमर्यादा-मर्यादा इन तीन प्रकार की सेवाओं के फल हैं।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सेवाफलम्।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम्

* * *

स्वमार्गोक्ततनुवित्तजायाः सेवाया मानसीसेवाफलमिति सिद्धान्तमुक्तावल्यां श्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्निबन्धे तु भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत इत्युक्तेः सन्दिहानान् स्वानुपदिशन्ति।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी यत्प्रकारिका **सेवना** सेवा **प्रोक्ता** स्वग्रंथेषु पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभेदैर्मया विविच्योक्ता **तत्सिद्धौ** [१]तस्यां स्वफलजननस्वरूपयोग्यतायां सत्यां तत्प्रकारकं **फलमुच्यत** इत्यर्थः।

आचार्यचरणों ने सिद्धांतमुक्तावली में यह कहा है कि - अपने मार्ग में कही गयी तनुवित्तजारूपीसेवा साधनसेवा(सेवा का ही दूसरा नाम भक्ति है) है एवं इसका फल मानसीसेवा है। परंतु निबंध में खुद आपश्री ने ही "भक्ति स्वतंत्र पुरुषार्थ है, शुद्ध एवं दुर्लभ है" यों कहा है ; यहाँ आपश्री ने भक्ति को साधन नहीं कहा किंतु स्वतंत्रपुरुषार्थरूपा कहा है अतः किसी को यह संदेह हो जाता है कि कदाचित् निबंध में कही भक्ति वो भक्ति नहीं होगी जो सिद्धांतमुक्तावली में कही गयी है - - इस प्रकार से जो लोग संदिग्ध हैं, उनके संदेह के निवारण के लिये आचार्यचरण निम्नलिखित वाक्यों से उपदेश कर रहे हैं। ****** स्वतंत्रपुरुषार्थ का अर्थ है- जो पुरुषार्थ किसी अन्य के आधीन न हो। सामान्यतया अन्य मार्गों में कही भक्ति ज्ञान या कर्म के आधीन होती है अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने पर ही भक्ति प्राप्त होती है या फिर दान-तप-होम-जप-स्वाध्याय संयम जैसे किसी विशेष कर्मों को करने पर ही भक्ति प्राप्त होती है। ऐसी भक्ति को ज्ञान या कर्म का सहारा लेना पड़ता है जबकि हमारे मार्ग में कही भक्ति भगवत्कृपा से या आचार्यचरणों की कृपा से अथवा गोपिकाओं की कृपा से ऊपर कहे साधनों के बिना ही सिद्ध हो जाती है अतः हमारे मार्ग में कही भक्ति स्वतंत्रपुरुषार्थरूपा कहलाती है। ****** आपश्री आज्ञा करते हैं कि जो सेवा मैंने अपने ग्रंथों में पुष्टिपुष्टि-पुष्टिमर्यादा-मर्यादा इत्यादि भेद से विवेचना कर के कही है,

---

[१] तस्या इति पाठः।

वह सिद्ध होने पर अर्थात् जब वह सेवा अपने फल को उत्पन्न करने वाली स्वरूपयोग्यता को प्राप्त कर ले, उस सेवा में प्राप्त होने वाला फल कह रहे हैं।

तत्र प्रथमं भगवदर्थं निरुपधिसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते यन्मुख्यं फलं भवति तदाहुः।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

अलौकिकस्य स्वरूपानन्दस्य, **दाने** वितरणे, **हि** निश्चिते सति, तथा च भगवतश्चिकीर्षिते सतीत्याशयः। **आद्यः** स्वरूपानन्दानुभवात् प्रथममुत्पन्नो **मनोरथः** "यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानां तु" इत्यादिना निरूपितस्वरूपो लिप्साविशेषः **सिध्येत्** सद्विषयकः स्यादित्यर्थः। इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्या सिध्येत् तद्विषयकः स्यादित्यर्थः। चेति मनोरथश्च स्यात् सिद्धश्च स्यादित्याशयः। इत्थञ्च प्रेमोत्पत्त्यनन्तरं भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां फलस्वरूपस्वविषयसहितस्य मनोरथस्योत्पत्तिः। दित्साया अभावे तु तदनुत्पत्तौ पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवायाः पुरुषोत्तमसायुज्यं फलं भवतीति ध्येयम्। वक्ष्यन्ति चेममर्थं **न त्वाद्ये दातृता नास्तीत्यनेन**॥ १॥

ऐसे में सर्वप्रथम भगवान को निस्वार्थरूप से सर्वस्व निवेदित करके उन्हीं में अपनी देह का विनियोग करने पर भगवान में प्रेम उत्पन्न होने पर जो मुख्यफल होता है ,उसे आचार्यचरण अग्रिम श्लोक से कह रहे हैं।

तात्पर्य यह कि प्रभु जब अलौकिक-स्वरूपानन्द का दान-वितरण करते हैं, तब निश्चितरूप से होने वाला जो फल होता है अर्थात् भगवान जब जीव को अलौकिक स्वरूपानन्द का दान करने की इच्छा कर लेते हैं, तब जो प्राप्त फल होता है उसे आचार्यचरण यहाँ कह रहे हैं, यह आशय है। अर्थ यह कि भगवान के स्वरूपानन्द का अनुभव होने पर जीव के हृदय में सबसे पहले जो मनोरथ प्रकट होता है, जिसे आपश्री ने **आद्यः मनोरथः** शब्द से कहा है, वह सिद्ध होता है। **आद्यः मनोरथः** का अर्थ यह है कि, "जो दुःख यशोदा, नन्द आदि एवं गोपिकाओं को हुआ(नि०ल०-१)" इत्यादि वाक्यों में निरूपित प्रभु के स्वरूप की आकांक्षा करने वाला जो मनोरथ है, वह प्रकट होता है। यह मनोरथ इस श्लोक में कहे प्रकार से प्रभु में प्रेम उत्पन्न होने से होता है अर्थात् वह मनोरथ प्रभुविषयक बन जाता है, यह अर्थ है। यहाँ "**च**" शब्द का अर्थ यह है कि- जीव को मनोरथ भी होता है एवं यह मनोरथ पूर्ण भी होता है। यह ऐसे होता है कि प्रभु में प्रेम की उत्पत्ति होने के पश्चात् जब भगवान अपने स्वरूपानन्द का दान करने की इच्छा करते हैं, तब अलौकिक-भगवद्विषयक मनोरथ की उत्पत्ति होती है। किंतु जब भगवान की इच्छा नहीं होती, तब जीव के मन में ऐसा कोई मनोरथ प्रकट होता ही नहीं और तब उसने जो प्रेमपूर्वक प्रभुसेवा की है उसका फल पुरुषोत्तम से सायुज्य होना होगा, यह ध्यान रखिये। इसी बात को आचार्यचरण आगे "**नत्वाद्ये दातृता नास्ति**" इस वाक्य द्वारा कहेंगे॥ १॥

एवं पुष्टिपुष्टिभजनस्य फलमुक्त्वा पुष्टिमर्यादामर्यादाभजनयोः फलमाहुः।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलं पुष्टिपुरुषोत्तमसायुज्यं पुष्टिमर्यादाभजनफलमित्यर्थं। **वेत्यनादरे**। **अधिकारो** रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिः मर्यादाभजनफलमित्यर्थः। **नेति**। अत्र फलत्रये **कालो** न प्रतिबन्धक इत्यर्थः।

विवृतौ **सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्वित्यनेन नियामक** इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **अलौकिकसामर्थ्यम**लौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्यर्थः।

इस प्रकार से पुष्टिपुष्टिभजन का फल कह कर, अब आचार्यचरण पुष्टिमर्यादा एवं मर्यादाभजन के फल कह रहे हैं।
यहाँ मूल में कहे **फलं** शब्द का अर्थ है - पुष्टिपुरुषोत्तम से सायुज्य प्राप्त होना। ये ही पुष्टिमर्यादाभजन का फल है। "वा" शब्द यहाँ अनादर अर्थ में है। इसका तात्पर्य यह है कि पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त होना दूसरी कोटि का फल है अतः पूर्व में कहे प्रभु के स्वरूपानन्द की कामना करने वाले मुख्यफल की तुलना में नीचा होने से आचार्यचरणों को इसमें रुचि कम है। **अधिकार** शब्द का तात्पर्य है- रमाप्रार्थित वैकुण्ठ, क्षीरसागर,श्वेतद्वीप इत्यादि स्थलों पर भगवत्सेवा के योग्य देहप्राप्ति का अधिकार मिलना, जो मर्यादासेवा का फल है। इन तीनों फलों में काल प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है, यह अर्थ है।

आचार्यचरणों ने अपनी विवृति में "**सेवायां.........वैकुण्ठादिषु**" तक की पंक्तियों में ग्रंथ के "**नियामक**" तक के शब्दों का व्याख्यान किया है। **अलौकिकसामर्थ्य** का अर्थ है- अलौकिक भजनानन्द का अनुभव करने के लिये स्वरूपयोग्यता प्राप्त होनी।

मूले सेवायां प्रतिबन्धकान्यपराण्याहुः।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥

उद्वेगः श्रवणे कीर्तने भगवद्दर्शनसेवायां च जराव्याधिजनितापाटवेन स्वतो प्रवर्तमानानामिन्द्रियाणां प्रसह्य प्रवर्तनाद्विक्षेप इत्यर्थः। **प्रतिबन्धो** वेदनिन्दा म्लेच्छबलिष्ठबहिर्मुखजनितोपद्रवश्च, **साधारणो भगवत्कृतो** बाहिर्मुख्यरूपश्चेति द्विविधोपीत्यर्थः। **भोगो** रूपरसगन्धशब्दस्पर्शानां लौकिकविषयाणामत्यासक्त्या सेवनमित्यर्थः। त्विति। एतत्त्रयं तु प्रतिबन्धकं भवेदेव। कालस्तु न स्यादित्यर्थः। विवृतौ **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयं उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो** वेत्यनेन बाधकमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः॥ २॥

इसके आगे की पंक्तियों में मूलग्रंथ में कहे सेवा में होने वाले अन्य प्रतिबन्धों को कहते हैं।

उद्वेग का अर्थ है - श्रवण, कीर्तन, भगवद्दर्शन एवं भगवत्सेवा में वृद्धावस्था अथवा किसी रोग से असमर्थ हो जाने के कारण जब भगवत्सेवा कुशलता से नहीं हो पाती , तब स्वतः सेवा में प्रवृत्त न होने वाली इन्द्रियों को हठात् खींच कर सेवा में लगाने से होने वाला विक्षेप। **प्रतिबन्ध** का अर्थ है - वेदनिन्दा करने के कारण एवं म्लेच्छ या किसी बलिष्ठ बहिर्मुख के द्वारा उत्पन्न होने वाला उपद्रव। साधारण प्रतिबन्ध तो वेदनिन्दा करने के कारण होता है एवं भगवत्कृत प्रतिबन्ध होने से जीव बहिर्मुख बन जाता है- यों दो प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं, यह अर्थ है। **भोग** का अर्थ है - रूप, रस, गन्ध,शब्द, स्पर्श इत्यादि लौकिक विषयों में अति आसक्ति रखते हुए इनका सेवन करना। ये तीनों तो भगवत्सेवा में प्रतिबन्धक होते ही हैं किंतु काल प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, यह अर्थ है। आचार्यचरणों ने विवृति में "**सेवायां.......... भोगो वा**" इन पंक्तियों द्वारा मूलग्रंथ के बाधकं शब्द तक का व्याख्यान किया है॥ २॥

मूले प्रतिकारमाहुः बाधकानामिति।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ३॥

बाधकानामुद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगसाधनानां **परित्यागः** कर्तव्य इत्यर्थः। तत्र उद्वेगसाधनं प्रसह्येन्द्रियोजनम्। वेदनिन्दायाः म्लेच्छकृतोपद्रवस्य बलिष्ठबहिर्मुखकृतोपद्रवस्य च जननात् साधारणप्रतिबन्धसाधनं स्वस्मिन् [१]भक्तत्वस्फूर्तिनिबंधनो हठगर्वविशेषः। लौकिकभोगसाधनं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः। तथा च तत्साधनत्रयं त्यजेदित्यर्थः। लौकिकालौकिकसाधनयोर्लौकिकभोगसाधनस्य त्यागः कर्तव्यो न त्वलौकिकभोगसाधनस्येत्याहुः भोग इति। भोगे यत्साधनद्वयं तत्रैकं तथा तादृशं लौकिकभोगरूपं प्रतिबन्धजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः। परं द्वितीयं साधनं पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवारूपं **निष्प्रत्यूहं** निर्गतः प्रत्यूहः प्रतिरूपो भोगो यस्मात्तत्तथा। एवञ्च त्यागहेतोः प्रतिबन्धस्याजननान्न त्यक्तव्यमित्यर्थः।

अब मूलग्रंथ में **बाधकानां** इत्यादि शब्दों से इन बाधकों का प्रतीकार कह रहे हैं।

तात्पर्य यह कि उद्वेग,साधारण प्रतिबन्ध एवं लौकिकभोग होने के मूल कारणों का परित्याग करना चाहिए। इनमें उद्वेग उत्पन्न होने का कारण है - इन्द्रियों को हठात् भगवत्सेवा में जोड़नी। साधारण प्रतिबन्ध उत्पन्न होने के कारण हैं - वेदनिन्दा करने से, म्लेच्छ के द्वारा अथवा किसी बलिष्ठ बहिर्मुख के द्वारा उपद्रव करने से होने वाले साधारण प्रतिबन्ध ; जिससे खुद को बहुत बड़ा भक्त समझने का गर्व करना। लौकिकभोग के साधन हैं - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द। तात्पर्य यह कि उद्वेग, साधारण प्रतिबन्ध एवं लौकिकभोग इन तीनों के ये सभी मूल कारणों का त्याग कर देना चाहिए। किंतु लौकिकभोग-अलौकिकभोग उत्पन्न होने के कारणों में से लौकिकभोग होने के कारणों का ही त्याग करें, अलौकिकभोग के कारणों का नहीं - यह बात आचार्यचरण भोग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन दोनों भोगों के कारणों में से लौकिकभोग प्रतिबन्धक होने के कारण त्याग देना चाहिए परंतु द्वितीय अलौकिकभोग पूर्व में कही प्रेमपूर्णसेवा बनने का कारण बनता है अतः इसका त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि अलौकिकभोग निष्प्रत्यूह है अर्थात् जिस भोग में से प्रतिकूल भोग निकल चुका है, ऐसा भोग है। अतः जब वह त्याग करने के मूल कारण प्रतिबन्ध को ही उत्पन्न नहीं करता फिर उसका त्याग करने की आवश्यकता नहीं है, यह अर्थ है।

---

[१] अभक्तत्वमिति पाठः।

ननु भोगः प्रतिबन्ध इत्युक्तम्। तथा च तज्जननात् कथं न त्यक्तव्यमत आहुः **महानिति**। पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवालक्षणं साधनं कारयित्वा भगवता दत्तो दुःखविशेषसुखविशेषानुभवलक्षणो "यच्च दुःख"मित्यादिना निरूपितस्य मनोरथस्य विषयतामापन्नो भोगो महान् स्वेष्टतम एवेत्यर्थः। कथमिष्टतमत्वमत आहुः **प्रथम** इति।

प्रथमे उत्तमफले **विशते** प्रविष्टो भवति। तथा च फलरूपः। अत एव न प्रतिबन्धरूप इति। तत्साधनं न त्यक्तव्यमिति भावः। रसिकानुभवाद्वेद्य"मान्तरं तु महाफल"मिति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिरत्रानुसन्धेयेति दिक्। भोगेपीत्यपिशब्दात् प्रतिबन्धेप्येकमेव त्यक्तव्यम्। द्वितीयस्य तु [1]भगवत्कृतत्वेन तत्त्यागस्य शशविषाणायमानत्वादिति ध्येयम्।

किंतु प्रश्न यह होता है कि, भोग को तो आचार्यचरण पहले प्रतिबन्ध कह आए हैं फिर अब उसका त्याग न करने की बात क्यों कर रहे हैं? तो इसे आपश्री **महान्** शब्द से कह रहे हैं। अर्थ यह कि, यह अलौकिक महान भोग पहले भगवान में प्रेम उत्पन्न होने के साधन करवा कर फिर भगवान द्वारा दिये गये दुःख-सुख के मनोरथ कराता है, जो नि०ल०ग्रं में "यच्च दुःखं(१)" इत्यादि वाक्यों से निरूपित किया गया है अतः महान है एवं वांछनीय ही है। अलौकिकभोग क्यों वांछनीय है ? इसे आचार्यचरण **प्रथम** शब्द से बता रहे हैं कि यह प्रथम अर्थात् उत्तमफल में प्रवेश करता/कराता है और इसी कारण फलरूप भी है अत एव प्रतिबन्धरूप नहीं होता और इसीलिए इसके कारणों का त्याग नहीं करना है। यह बात तो रसिकजनों के अनुभव द्वारा ही जानी जा सकती है, जिसे आचार्यचरणों ने "आंतर-विप्रयोग महाफल है" इस पंक्ति द्वारा कही है। इसी के साथ-साथ भोग शब्द में जुड़े हुए "अपि" शब्द से यह बात भी ज्ञात हो जाती है कि दोनों प्रतिबन्धों में से भी एक ही प्रतिबन्ध का त्याग करना है क्योंकि दूसरा तो भगवान द्वारा किया गया है अतः उसका त्याग करना तो ठीक वैसे ही असंगत है, जैसे कह दिया जाय कि "खरगोश के सींग होते हैं "।

विवृतौ **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः। भोगो द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्च। तत्राद्यो बुद्धया त्याज्यः। अलौकिकभोगस्तु** फलानां मध्ये **प्रथमे प्रविशतीत्यनेन** विशत इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **त्रयाणां साधनेति** साधनपरित्यागान्मूलोच्छेदो भवेदतः पुनरुद्गमो न स्यादित्याशयः। तथा च यत्रैतत्त्रितयस्य त्याग उच्यते तत्र साधनसहितस्य त्यागो ज्ञेय इत्यभिप्रायः। **त्याज्य एवेति**। लौकिकभोगस्तु असन्दिग्धं त्याज्य एव, परन्तु अलौकिको न त्याज्य इत्याशयः। **तत्राद्य इति**। साधनसहितस्त्याज्यः। तथा च साधारणप्रतिबन्धसाधनस्य गर्वविशेषस्य बुद्धया त्यागात् ससाधनस्यापि तस्य त्याग इत्यर्थः॥ ३॥

विवृति में आचार्यचरणों ने "त्रयाणां..........प्रविशति" इन पंक्तियों में मूलश्लोक के "**विशते**" तक के ग्रंथ का व्याख्यान किया है। इन तीनों के साधनों/मूल कारणों का परित्याग करने का अर्थ यह है कि, यदि रोग की जड़ ही नहीं रहेगी तो रोग अपने आप मिट जायेगा - यह आशय है। अतः जहाँ इनका त्याग करने की बात कही है, वहाँ इनका कारणसहित त्याग करना कहा जा रहा है- यह अभिप्राय है। लौकिकभोग तो निःसंदेह त्याज्य ही है परंतु अलौकिकभोग त्याज्य नहीं है। **तत्राद्य** इत्यादि शब्दों का तात्पर्य यह है कि साधारणप्रतिबन्ध का कारणसहित त्याग करना चाहिए अर्थात् तात्पर्य यह है कि अपने आप को भगवदीय समझने के अहंकार का त्याग करें॥ ३॥

मूले भगवत्कृतप्रतिबन्धे यत् कर्तव्यं तदाहुः।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि।

हि निश्चयेन सर्वथा सर्वप्रकारैर्भगवतः सर्वसमर्थस्यापि चेदकर्तव्यं फलदानं न चिकीर्षितं चेदित्यर्थः। ननु भगवदीयकुलोत्पन्नस्य पित्रादिशिक्षया बाल्ये कृतभगवत्सेवाकस्यानवरतमसच्छास्त्राभ्यासादाविर्भूतबाहिर्मुख्यस्यापि "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठिता"दिति वचनात् सेवामेव निर्बन्धेन हठेन कुर्वतः किं स्यादत आहुः **गतिर्न हीति**। प्रतिबन्धस्य [2]जागरुकत्वाद्यावत्फलाभाव इत्यर्थः।

अब भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होने पर क्या करें ? यह आपश्री मूलग्रंथ की अग्रिम कारिका से बता रहे हैं।

मूलपंक्ति का अर्थ निम्नलिखित है -

हि = निश्चयपूर्वक , **सर्वथा** = सभी प्रकार से , **चेदकर्तव्यं** = यदि भगवान फलदान की इच्छा न करें। अर्थात् सभी प्रकारों से सामर्थ्यशाली भगवान ही जब भक्त को फलदान करने की यदि इच्छा न रखें, तब तो जीव के पास क्या चारा रह जाता है। परंतु शंका यह होती है कि, जो जीव भगवदीय कुल में उत्पन्न हुआ है और अपने माता-पिता आदि की शिक्षा के कारण जिसने बाल्यकाल म

---

[1] भगवदीयत्वेनेति पाठः। [2] बलिष्ठत्वादिति पाठः।

यत्किञ्चित् भगवत्सेवा तो की है और बाद में निरंतर असत् शास्त्रों के अभ्यास के कारण बहिर्मुख हो गया हो, ऐसा बहिर्मुख भी यदि गीता में कहे "दूसरे के धर्म का आचरण करने की अपेक्षा अपने ही धर्म का आचरण करना श्रेष्ठ है, भले ही फिर वह दोषयुक्त क्यों न हो(३-३५)" इस वाक्य का अनुसंधान रखते हुए जबर्दस्ती बलपूर्वक सेवा करता ही जाय, तो ऐसे व्यक्ति को सेवा का फल प्राप्त होगा या नहीं ? इसका समाधान आपश्री **गतिर्नहि** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। उत्तर यह है कि बहिर्मुखतारूपी प्रतिबन्ध तो उसे है ही अतः सेवा का फल तो उसे प्राप्त नहीं होगा।

विवृतौ **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्, तदान्यसेवापि व्यर्थेत्यन्तेन "न ही"त्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातः। तथाचोक्तं निबन्धे "सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि। तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन्सुतरामपी"ति मूलमुक्त्वा स्वयमेव व्याचचक्षिरे "परमत्र न सर्वेषां मुख्यफलाधिकारः, किन्तु येषु भगवत्कृपा। कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयत" इत्यनेन। इत्थञ्चैतन्मार्गारुचिरेव भगवत्कृतप्रतिबन्धः। इदमेव बाहिर्मुख्यमितिविभावनीयम्। "बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदत्वि"ति श्रीमदाचार्यचरणोक्ते"रेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषती"ति श्रुतेश्च भगवानेवासच्छास्त्रप्रवर्तनेनासुरावेशं सम्पाद्य बाहिर्मुख्यरूपं प्रतिबन्धं करोतीत्यप्यनवरतं निरन्तरमनुसन्धेयम्। तदान्येति। यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदा कृता तु व्यर्थैव। किन्त्वन्या वाल्पे[१] कृता सापि व्यर्था निःफलेत्यर्थः।**

विवृति में आचार्यचरणों ने "भगवत्कृत......व्यर्था" इतनी पंक्तियों द्वारा मूल के "नहि" इन शब्दों तक का व्याख्यान किया है। यही बात आपश्री ने निबंध में "जिस जीव पर भगवत्कृपा नहीं है, उसके लिये इस मार्ग में कुछ भी शक्य नहीं है(सर्व०-२२६)" यह मूल में कह कर इसी की व्याख्या "किंतु इस मार्ग में सभी का मुख्यफल में अधिकार नहीं है किंतु जिस पर भगवत्कृपा होती है वही मुख्य अधिकारी है। और भगवत्कृपा की पहचान जीव की मार्ग में उसकी रुचि से पहचानी जाती है" -इन वाक्यों द्वारा की है। इस प्रकार मार्ग में रुचि न होनी ही भगवान द्वारा होने वाले प्रतिबन्ध का लक्षण है। यही बहिर्मुखता है समझ लीजिए। आचार्यचरणों की "बुद्धि को प्रेरणा देने वाले कृष्ण के चरणारबिंद हैं" इस उक्ति के अनुसार एवं "भगवान जिसका उद्धार करना चाहते हैं उससे अच्छा कार्य करवाते हैं और जिसका पतन करना चाहते हैं उससे बुरा कार्य करवाते हैं( )" इस श्रुति के अनुसार भी यह समझ लें कि भगवान ही किसी को असत् शास्त्रों में प्रवृत्त करा के उसमें आसुरावेश का संपादन कर बहिर्मुखतारूपी प्रतिबन्ध करते हैं -इस बात का भी निरंतर अनुसंधान रखें। अब हम तदान्येति इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। अर्थ यह है कि, जब बहिर्मुखता प्रकट होती है तब सभी सेवा तो व्यर्थ हो ही जाती है परन्तु अन्यों की या थोड़ी बहुत की गयी सेवा भी व्यर्थ निःष्फल हो जाती है।

मूले अतः परं तेन किं विधेयमत आहुः।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ४॥

यथा यत्प्रकारको वा विकल्पेन तत्त्वनिर्धारस्तज्जीवनिष्ठस्यासुरत्वस्य निश्चयः। तथा च आवेशासुरत्वनैसर्गिकासुरत्वयोर्यादृशीसुरत्वप्रकारको निश्चयस्तस्मिन् सति विवेको ज्ञानं साधनं शोकानुत्पत्तौ कारणं मतं सर्वप्रमाणसम्मतमित्यर्थः। वेति विकल्पवाचकमव्ययं देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वेति। तथा च तत्त्वनिर्धारोपि वैकल्पिकः, साधनमपि वैकल्पिकमेव। इत्थञ्चावेशासुरत्वप्रकारको यदि निश्चयः तदा संसृतिरेवेतिभावः। वक्ष्यन्ति चेममर्थं द्वितीये सर्वथेत्यनेन।

अब ऐसा जीव करे क्या ? इसे आपश्री अग्रिम मूलग्रंथ की कारिका से बता रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, अब सेवा का फल तो मिलेगा नहीं अतः विकल्प यह है कि जीव तत्वनिर्धारण कर ले अर्थात् अपने भीतर रहे आसुरीभाव का निश्चय कर ले ; यह सोच ले कि मैं आसुरी हूँ। इस बात पर ध्यान दे कि यह आसुरीभाव का आवेश है या मैं मेरी प्रकृति ही आसुरी है। जिस प्रकार का आसुरीभाव हो वैसा ज्ञानरूपी साधन कर ले क्योंकि यही शोक मिटाने का कारण माना गया है, यह अर्थ है। "वा" शब्द विकल्प को बताने वाला अव्यय है जो देहलीदीपन्याय से दोनों ओर प्रयुक्त हो रहा है अर्थात् तत्वनिर्धारण भी करें एवं ज्ञानरूपी साधन भी करें ; भगवान यदि फलदान न करें तो यही दो विकल्प शेष रह जाते हैं। इस प्रकार यदि अपने में आसुरीभाव का आवेश निश्चित हो जाय तब तो संसार ही प्राप्त होगा, यह भाव है। इसी बात को आचार्यचरण आगे **द्वितीये सर्वथा** इत्यादि शब्दों से कहेंगे।

---

१ "बाल्ये" इत्यपि पाठः।

विवृतौ **तदा आसुरोयं जीव इतिनिर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेतिविवेक** इत्यनेन **मतमित्यन्तग्रन्थो** व्याख्यातः। **तदेति**। यदा बाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदैवेत्यर्थः। विवेकः साधनमिति व्याचक्षते। **तदा ज्ञानेनेति**। यद्यावेशासुरत्वनिर्धारस्तदा **ज्ञानमार्गेण** ज्ञानजनकोपायेन **स्थातव्यं** वर्तितव्यम्। **शोकाभावाय** शोकानुत्पत्त्या इति। अस्मिन्नर्थे विवेकः साधनं भवतीत्यर्थः। तथा च सत्यलोकस्थितिरक्षरानन्दो वा नास्य फलमिति भावः। यद्यप्येवंविधदुर्भगः स्वमार्गबहिर्मुखोन्धंतमः [१]प्रविशतां, का क्षतिः ? तथापि स्वमार्गीयभगवद्भक्तरेतोजन्तुरयमिति तदुद्भवदयार्द्रहृदयाः श्रीमदाचार्यचरणास्तादृशेप्युपदिशन्तीति ध्येयम्॥ ४॥

विवृति में आपश्री ने "**तदा..........विवेक**' यहाँ तक की पंक्तियों में "**मतं**" शब्द तक के ग्रंथ का व्याख्यान किया है। इस विवृति में **तदा** शब्द का अर्थ है - जब बहिर्मुखता प्रकट हो जाय तब ही "यह जीव आसुरी है" यह सोचें। **विवेकः साधनं** इत्यादि शब्दों की विवेचना आचार्यचरणों ने **तदा ज्ञानेन** इत्यादि शब्दों से की है। अर्थ यह हुआ कि - यदि अपने भीतर आसुरावेश का निर्धारण हो जाय, तब ज्ञानमार्ग द्वारा अर्थात् अपने भीतर ज्ञान उत्पन्न करने वाले उपायों का प्रयास करते हुए रहना चाहिए जिससे कि शोक न हो। ऐसे में विवेक शोक दूर करने का साधन बन जाता है, यह अर्थ है। ऊपर कही परिस्थिति उत्पन्न होने पर सत्यलोक की प्राप्ति या अक्षरानन्द की प्राप्ति- ये सभी फल नहीं होंगे। यद्यपि ऐसे दुर्भागी, स्वमार्ग से बहिर्मुख को अन्धन्तम नरक में फेंक देने में कोई हानि नहीं है तथापि यह स्वमार्गीय भगवद्भक्त का पुत्र है अतः इस बात का ध्यान रखते हुए करुणहृदय वाले हमारे आचार्यचरण ऐसे बहिर्मुख को भी कृपा करके उपदेश कर रहे हैं, यह ध्यान रखें॥ ४॥

मूले लौकिकभोगस्य साधारणप्रतिबन्धस्य च त्यागे प्रयोजकं रूपमाहुः।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

सविघ्न आधिव्याधिलक्षणप्रत्यूहसहितः[२]। **अल्प** आशुतरविनाशीत्यर्थः। **साधारण** इति। साधारणो वेदनिन्दादिः। साधारणप्रतिबन्धस्य तदाहुः **घातेति**। **घातकः** घातजनकः। **बलात्** सामर्थ्यात्। **स्यात्** भवेत्। तथाच साधारणप्रतिबन्धो बलवद्घातकः स्यादित्यर्थः। तथा हि वेदनिन्दात्वस्य बलात् हीनेषु जन्मरूपं घातं करोति। म्लेच्छबहिर्मुखकृतोपद्रवादस्य सर्वस्वहानिं शरीरघातं च बलादेव कुरुते। अतो हेतोः साधारणप्रतिबन्धोल्पत्वात् सविघ्नत्वाच्च भोगः **सदा** निरन्तर**मेतौ प्रतिबन्धकौ मतौ** साधनसहितौ त्याज्यत्वेन सम्मताविति भावः।

अब मूलग्रंथ में कहे लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध का त्याग क्यों कहा, यह बता रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- लौकिकभोग सविघ्न है अर्थात् आधि-व्याधि द्वारा विघ्न करने वाला है एवं अल्प है जिस कारण यह शीघ्र नष्ट हो जाता है। अब साधारण प्रतिबन्ध की चर्चा करते हैं। साधारण प्रतिबन्ध उत्पन्न होता है वेदनिन्दा करने से। साधारण प्रतिबन्ध के लिये आपश्री कहते हैं कि यह घातक है एवं उसमें इतनी सामर्थ्य है कि प्रतिबन्ध कर सकता है। अर्थ यह कि साधारण प्रतिबन्ध बड़ा बलवान घातक है। वेदनिन्दा करने वाले को बलात् हीन योनि में जन्म देने का घात करता है। और म्लेच्छ-बहिर्मुख के उपद्रव द्वारा सर्वस्वहानि एवं शरीर का घात करता है। इसलिए साधारण प्रतिबन्ध एवं भोग अल्प एवं विघ्नसहित होने के कारण; ये दोनों निरंतर प्रतिबन्धक माने गये हैं अतः इनका साधनसहित त्याग करना चाहिए, यह भाव है।

विवृतौ **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति। सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः। एतौ सदा प्रतिबन्धकावित्यनेन मतावित्यन्तग्रन्थो** व्याख्यातः।

साधारण इति। साधारणो वेदनिन्दादिः साधारणप्रतिबन्धः **भोगो** लौकिकरूपरसादिसेवनं **कथं** कुतो हेतोरित्यर्थः। **सविघ्नत्वादिति**। द्वाभ्यामाभ्यां हेतुभ्यां भोगस्त्याज्यः। शिष्टाद् घातकत्वरूपाद्धेतोः साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्य इत्याशयः।

विवृति में आचार्यचरणों ने "**साधारणो.........प्रतिबन्धकौ**" इन पंक्तियों द्वारा मूलग्रंथ के "मतौ" शब्द तक का व्याख्यान किया है। विवृति में **साधारण भोग** इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है - वेदनिन्दा करने से होनेवाला प्रतिबन्ध एवं लौकिकरूपरसादि के सेवन से होने वाला भोग क्यों त्याग देना चाहिए ? तो विवृति में आपश्री ने कहा कि विघ्न करनेवाला एवं अल्प होने के इन दो हेतुओं के कारण त्याग देना चाहिए। और बच गये "**घातक**" शब्द से आपश्री का तात्पर्य साधारण प्रतिबन्ध से है अर्थात् साधारण प्रतिबन्ध घातक होने के कारण त्याग देना चाहिए।

---

[१] प्रवेशं कांक्षतीतिपाठः। [२] विघ्नसहितः पाठः।

ननु सविघ्नत्वमल्पत्वं च भोगापकर्षजनकम् , न तु सेवायाः। तथा साधारण प्रतिबन्धनिष्ठं घातकत्वं चतुर्वर्गस्यापकारजनकम् , न तु विशिष्य[1] सेवाया एवेति किमनयोः त्यागप्रयोजकं रूपमित्याशंकायामाहुः एताविति। प्रतिबन्धकत्वमेव त्यागप्रयोजकम्। सविघ्नत्वादिकथनं तु भोगसाधारणप्रतिबन्धस्थदोषोद्घाटनार्थम्। तथा च सेवाप्रतिबन्धकत्वात्तु त्याज्यावेव। [2]निसर्गदुष्टत्वादपि त्याज्यावित्याशयोनुसन्धेयः।

किंतु यहाँ किसी को मन में एक प्रश्न होता है। वह यह कि इस ग्रंथ में कही विघ्नता या अल्पता तो भोग को हेय या निंदनीय बता रही है, भगवत्सेवा सेवा से इसका क्या लेना-देना ? और दूसरी बात ये है कि साधारणप्रतिबन्ध में रही हुई घातकता तो सभी लोगों के लिये घातक है, केवल सेवा में या केवल सेवा करने वाले को ही घातक होते हों , ऐसा नहीं है। फिर भगवत्सेवा करने वालों को ही क्यों इनका त्याग करना कहा जा रहा है ? तो यह समझिये कि ये सेवा में प्रतिबन्धक होते हैं इसी कारण से इनका त्याग करना बताया गया है। इनको विघ्नसहित इत्यादि कहना तो भोग एवं साधारण प्रतिबन्ध में रहे हुए दोषों को उजागर करने के लिये है। और सेवा में प्रतिबन्धरूप होने के कारण तो ये त्याज्य हैं ही। और इनकी प्रकृति ही दुष्ट है अतः इस कारण भी इनका त्याग करना ही है, यह विशेष ध्यान रखें।

आवेशासुरस्य विवेकसाधनमिति प्रागुक्तमिदानीं नैसर्गिकासुरस्य का गतिरित्याकांक्षायामाहुः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

अस्योत्पत्तिकाल एव भगवताऽसुरत्वसम्पादनान्नैसर्गिकासुरः। तथा च भगवान् तस्मिन् तदानीमेव स्वमार्गात् सर्वप्रामाणिकमार्गेभ्यश्च **बाहिर्मुख्यलक्षणप्रतिबन्धं** कृतवान्। इत्थञ्च वेदनिन्दादिसाधारणप्रतिबन्धात् **द्वितीये** भगवत्कृते एवंविधप्रतिबन्धे निर्धारिते सतीत्यर्थः। **चिन्ता** जन्ममरणदुःखनिवृत्तिर्मम केन प्रकारेण स्यादिति विचारः **सर्वथा** सर्वप्रकारेण प्रमाणैर्युक्तिभिश्चेति यावत्। सा त्याज्या न कर्तव्या। तत्र हेतुः। **संसारनिश्चयात्**। संसृतेरवश्यंभावस्य निश्चित्वादित्यर्थः। तथा च "दैवी सम्पद्विमोक्षाय", "निबन्धायासुरी मता" इत्यादिप्रमाणै"स्तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसी"त्यादिप्रामाणिकयुक्तिभिश्चाधेः समाधिः सम्पादनीय इति भावः।

आसुरीभाव का आवेश होने पर विवेक ही साधन है - यह पहले कह दिया गया है और अब आसुरीप्रकृति वाले की क्या गति है, यह आगे की पंक्ति में कह रहे हैं।

इसमें यह समझिये कि ऐसे आसुरीभाव वाले जीव की उत्पत्ति के समय से ही भगवान ने उसमें असुरता का संपादन कर दिया है अतः वह नैसर्गिक आसुरी होता है। ऐसे में भगवान ने उसी समय अपने मार्ग एवं समस्त प्रामाणिक मार्गों से उसे दूर करके उसमें बहिर्मुखतारूप प्रतिबन्ध कर दिया है। इस प्रकार से वेदनिन्दा करने से होने वाले साधारण प्रतिबन्ध एवं दूसरा भगवान द्वारा किये गये प्रतिबन्ध का जब निर्धारण हो जाय, तब चिन्ता छोड़ देनी चाहिये ; अर्थात् जन्ममरण के दुःख से मेरी निवृत्ति कैसे होगी ? इस प्रकार के विचार से होने वाली चिन्ता सभी प्रकार से, समस्त प्रमाणों एवं युक्तियों का विचार करते हुए छोड़ देनी चाहिए। चिन्ता न करें अपितु छोड़ दें क्योंकि इस बात का अनुसंधान रखें कि प्रभु ने अब हमारे लिये संसार में पड़े रहने का निश्चय किया है अतः जब संसार ही निश्चित कर रखा है फिर व्यर्थ में ऊपर-नीचे होने से क्या फायदा ?। आचार्यचरणों द्वारा निबंध में कहे "भगवान ने दैवीजीव मोक्ष के लिये एवं आसुरी सृष्टि संसार में बंधे रहने के लिये रची है(भ०गी० १६-५)" इत्यादि प्रमाणों द्वारा एवं "अतः जिसका कोई उपाय न हो उसका शोक करना व्यर्थ है(भ०गी० २-२७)" इत्यादि प्रामाणिक युक्तियों से अपनी समस्याओं से अपना निराकरण कर लेना चाहिए।

विवृतौ **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाह द्वितीय** इति। **द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इत्यनेन निश्चयादित्यन्तग्रन्थो** व्याख्यातः। **ज्ञानेति**। "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा" इति भगवद्वचनात् सहजासुराणां ज्ञानमार्गेपि स्थितिर्न भवतीत्याशयः॥ ५॥

विवृति में आपश्री ने **"ज्ञानस्थित्यभावे......प्रतिबन्ध"** इन पंक्तियों द्वारा मूलग्रंथ के **"निश्चयात्"** तक के शब्दों का व्याख्यान किया है। विवृति में आचार्यचरणों के ज्ञान इत्यादि शब्दों का आशय यह है कि "आसुरी स्वभाव वाले यह नहीं जानते कि क्या करना है और क्या नहीं। उनमें सदाचार, सत्य कुछ भी नहीं होता(भ०गी० १६-७) इस गीतावाक्य के अनुसार सहज आसुरी लोगों की ज्ञानमार्ग में भी स्थिति नहीं हो सकती॥ ५॥

---

[1] विशेषत इति पाठः। [2] स्वभावदुष्टत्वादिति पाठः।

मूले "अलौकिकस्य दाने ही"त्यनेन भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां मनोरथः सफलो भवेदित्युक्तम्। यदि स न सिध्येत् तदा का गतिरित्याकांक्षायामाहुः।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

नाद्ये त्वित्यन्वयः। तथा चाद्याभावे त्वित्यर्थः। इत्थञ्च तत्फलमनोरथाभावे तु भगवतो भजनानन्ददित्सा नास्तीति भावः।

मूलग्रंथ में "**अलौकिकस्य दाने हि**" इस वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि भगवान जब स्वरूपानन्द का दान करने की इच्छा करते हैं तब जीव का मनोरथ सफल होता है परंतु यदि मनोरथ सिद्ध न हो तब वह क्या करे ? इसका समाधान आपश्री अग्रिम पंक्ति में दे रहे हैं।

इस पंक्ति में आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि यदि आद्यफल(अर्थात् अलौकिक सामर्थ्य)प्राप्त नहीं होता तो इसका अर्थ यह है कि, *ऊपर कहा मनोरथ सफल नहीं होता तो यह समझिए कि भगवान की इच्छा नहीं है कि उसे भजनानन्द का दान करें।*

विवृतौ **आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यनेन** नास्तीत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः। **न त्वाद्य** इति मूलमाद्य**फलाभाव** इत्यनेन व्याख्याय **दातृता नास्तीति** मूलं व्याचक्षते **भगवतो दातृत्वं नास्तीति**। फलितार्थमाहुः **तदेति**। यदा फलसहितस्य मनोरथस्याभावस्तदाधिदैविकीसेवाभजनानन्दो न भवेदिति। अयमर्थो **न त्वाद्ये दातृता नास्तीति मूलेन कथितोस्तीत्यर्थः**। इत्थञ्च प्रेमान्तसेवया पुरुषोत्तमसायुज्यं भवतीति भावः।

विवृति में आचार्यचरणों ने "**आद्यफलाभावे......... भवति**" इन पंक्तियों द्वारा मूलग्रंथ के "**नास्ति**" शब्द तक का व्याख्यान कर दिया है। मूल में कहे **न त्वाद्ये** इत्यादि शब्दों का विवृत्ति में **आद्यफलाभावे** इत्यादि शब्दों से व्याख्यान करके इसके पश्चात् मूलग्रंथ के **दातृता नास्ति** इत्यादि पदों का आचार्यचरण अपनी विवृत्ति में **भगवतो दातृता नास्ति** इत्यादि शब्दों से व्याख्यान कर रहे हैं। इसका फलितार्थ आपश्री **तदा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि जब फलसहित मनोरथ सिद्ध नहीं होता तब सेवा आधिदैविकी नहीं होती, भजनानन्द प्राप्त नहीं होता। यह आपश्री ने **न त्वाद्ये** दातृता **नास्ति** इन मूलग्रंथों के शब्दों द्वारा कहा है। इस प्रकार प्रेमपूर्वक की गयी भगवत्सेवा से पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त होता है।

मूले **बाधकानां परित्याग** इत्यनेन तत्साधनत्यागपूर्वकस्तत्प्रतिबन्धकतत्त्याग उक्तः। तत्र लौकिकभोगसाधनीभूतरूप-रसगन्धस्पर्शशब्दानां त्यागे प्रतिबन्धकमाहुः **तृतीये बाधकं गृहम्**। भोगस्य तृतीयप्रतिबन्धकत्वात् तत्साधनमपि तृतीयं साधनं तत्परित्यागोपि तृतीयः परित्यागः। तथा च **तस्मिन् गृहं** प्रतिबन्धकमित्यर्थः। इत्थञ्च **रूपादित्यागो** गृहत्यागाधीन इति भावः।

विवृतौ **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इत्यनेन गृहमित्यन्तग्रन्थो** व्याख्यातः। **भोगेति। भोगाभावः ससाधनभोगपरित्याग** इत्यर्थः।

मूलग्रंथ में **बाधकानां परित्यागः** इत्यादि शब्दों का अभिप्राय **यह है कि इन बाधकों** के साधनों के सहित इनका परित्याग करना कहा गया है। इसमें लौकिकभोग के साधनीभूत रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, **शब्दों** का त्याग करने में जो प्रतिबन्ध आता है उसे आपश्री **तृतीये बाधकं गृहं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भोग तीसरा प्रतिबन्ध है, उसका साधन भी तृतीय है और उसका परित्याग भी तृतीय परित्याग है। लौकिकभोग दूर करने में गृह रुकावट बनता है। और सीधी सी बात है कि रूप-रस आदि का त्याग तब ही संभव है जब गृहत्याग होगा, यह भाव है।

विवृति में आचार्यचरणों ने "**भोगाभावः.....परित्यागः**" इत्यादि वाक्यों द्वारा मूलग्रंथ के "**गृहं**" तक के शब्दों का व्याख्यान किया है। विवृति में कहे **भोग** इत्यादि शब्दों का अर्थ भोग उत्पन्न होने के कारणों सहित भोग का परित्याग करना है।

मूले पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभजनानां फलं प्रतिबन्धकं तत्प्रतीकारं चोक्त्वा व्याख्याय चेदानीं सेवामुपदिशन्ति।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।

अवश्या स्वस्य वश्या न। तथा च [२]स्वकृत्यसाध्या भगवदनुग्रहैकसम्पाद्येति यावत्। **इयं** श्रीमदाचार्याणां हृदि अनवरतमुत्पद्यमानत्वात् साक्षात्कृतस्वरूपा भावनारूपा मानसी सेवा, **सदा** निरन्तरं, **भाव्या** सम्पादनीयेत्यर्थः। तथा च स्वरूपानन्दसाधनीभूतभावविशेषसिध्यर्थमनवरतं भावना कर्तव्येत्याशयः। **इदमेव मनसः** प्रधानं कार्यमित्याहुः **सर्वमिति**[१]। मनसा यदन्यत् किञ्चित् प्रमारूपमपि कार्यं जन्यते तत् सर्वमपि भजनानन्दापर्यवसायित्वात् **भ्रम** एवेत्यर्थः॥ ६॥

---

[१] सर्वानिति पाठः। [२] स्वसाधनसाध्या नेति पाठः।

मूलग्रंथ में पुष्टिपुष्टि-पुष्टिमर्यादा-मर्यादाभजन के फल, उसके प्रतिबन्ध एवं उसके उपायों को कह कर अब आचार्यचरण अग्रिम पंक्ति में भगवत्सेवा का उपदेश कर रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि यह सेवा जीव के वश में नहीं है। जीव द्वारा किये गये साधनों से असाध्य केवल भगवान के अनुग्रह से ही सिद्ध हो सकती है। **इयं** शब्द से आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि- आपश्री के हृदय में निरंतर उत्पन्न होने के कारण भगवत्स्वरूप को साक्षात् करनेवाली भावनारूपा मानसी सेवा की सदा, निरंतर भावना करनी चाहिए कि ऐसी मानसी हमें भी सिद्ध हो। तात्पर्य यह कि स्वरूपानन्द को सिद्ध करने वाले भगवान के प्रति विशेषभाव को सिद्ध करने के लिये मानसी सेवा की निरंतर भावना करनी चाहिए, यह आशय है। यही मन का प्रधान कार्य होना चाहिए- यह आपश्री **सर्वं** शब्द से कह रहे हैं। वैसे तो मन से किये अन्य ज्ञानसंबंधी कार्य भी होते हैं परंतु वे सभी भजनानन्द प्राप्त नहीं कराते अतः वह सभी भ्रम ही है॥ ६॥

तर्हि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः किं सम्पादनीयमित्याकांक्षायामाहुः।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

मनसोनुचरैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैस्तत्कार्यं मनःकार्यमेव सम्पादनीयम्। तथा च श्रीमदाचार्यमार्गपक्षपातादविरतं सेव्यस्वरूपेष्वाविर्भूतस्य संकल्पप्रतिभातस्य वा भगवतो दर्शनसेवादिना स्वस्वव्यापारेण मनःकार्यरूपा भावनाख्या मानसी सेवा सम्पादनीयेति भावः। इत्थञ्च चक्षुरादिसर्वेन्द्रियैरपि स्वस्वव्यापारो भगवति सम्पादनीयो, "भगवता सह संलाप" इत्याद्युक्तप्रकारेणेति ध्येयम्। ननु कियच्चिरमेवंकृतिरत आहुः **पुष्टाविति**।

पुष्टिर्भावः तस्मिन् सिद्धे सति स्वरूपानन्दः सत्वरमेव भवेन्न तु विलम्बं कुर्यादित्यर्थः। तथा च भावोत्पत्तिपर्यन्तमेवंकृतिरितिभावः।

फिर प्रश्न यह है कि चक्षु आदि इद्रियों को कहाँ लगाएँ ? तो इसे आपश्री अग्रिम पंक्ति से कह रहे हैं।

(टीकाकार ने यहाँ तदीय शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ किया है)

आपश्री का तात्पर्य यह है कि, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियाँ मन की अनुचर ही हैं अतः इन से भी मन वाला (मानसी सिद्ध करानेवाला) कार्य ही कराना चाहिए। इस तरह श्रीमदाचार्यचरणों की विशेष कृपा से निरंतर अपने सेव्यस्वरूप में आविर्भूत हुए भगवत्स्वरूप अथवा तो उस भगवन्मूर्ति में भक्त के संकल्प के कारण प्रतिभासित होने वाले भगवान के दर्शन-सेवा इत्यादि से उन-उन इन्द्रियों से होने वाले कार्यों के द्वारा मन से की जाने वाली, भावना के नाम से जानी जाती मानसी सेवा प्राप्त होने की भावना करनी चाहिए, यह भाव है। चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों के समस्त कार्यों को भगवान में ही जोड़ना चाहिए- यह "भगवान के संग वार्तालाप(सु० १०-१८-७;का०-८)" इत्यादि वाक्यों में कहे गये प्रकार से करना चाहिए, यह ध्यान रखें। परंतु कब तक करें ? तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - **पुष्टौ**। पुष्टि शब्द का अर्थ है - भाव ; पुष्टिभाव सिद्ध हो जाने पर स्वरूपानन्द तो शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है, विलम्ब नहीं होता अतः जब तक ऐसा पुष्टिभाव सिद्ध नहीं होता, तब तक भावना करते रहनी चाहिए।

पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न्यायात् कदाचित् कमपि प्रतिबन्धकमाशंक्य तत्प्रतीकारमाहुः।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

गुणाः प्राकृतसत्वरजस्तमांसि, तत्कृतक्षोभो मार्गान्तररुचिः, लौकिकविषयलोभैतन्मार्गारुचय इत्यर्थः। **एतदेवास्मदुक्त**"मवश्येयं सदे"ति पद्यमेव द्रष्टव्यम्। तथा चैतत्पद्योक्तसाधनेनैव सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिरितिभावः। ननु सत्सु प्राकृतगुणेषु निरन्तरक्रियमाणायामपि भावनायां भावो नोत्पत्स्यत इति चेत्? सत्यम्। यावत्कालं मनस्याविर्भूय भगवानन्तःकरणसम्बद्धो न भवति तावदविद्याया विद्यमानत्वाद् गुणा अपि सन्ति। तथा चानिशमेवंकृतौ कृपालुर्भगवानाविर्भूयान्तःकरणसम्बद्धः सन् अविद्यामेव नाशयेत्, तदा सुतरां गुणनाशः, ततो निरन्तराया भावोत्पत्तिरितिध्येयम्॥ ७॥

रहा-सहा दोष भी क्यों रहने दिया जाय अतः आचार्यचरण अग्रिम पंक्ति में इस भाव में आने वाले किसी भी प्रतिबन्ध का निवारण करने के लिये उसका उपचार कह रहे हैं।

गुणों का अर्थ है - प्राकृत सत्व-रज-तम ; इन गुणों द्वारा मन में क्षोभ हो जाने का संकेत है - जीव की अन्य मार्गों में रुचि होनी अर्थात् लौकिकलोभ के कारण पुष्टिमार्ग में अरुचि होनी। आपश्री आज्ञा करते हैं - यही जो हमने "अवश्येयं सदा" इत्यादि शब्दों से मानसी सेवा की भावना करने की बात कही थी, उसी पद्य को ध्यान में रखें अर्थात् इसी पद्य में कहे साधनों द्वारा ही समस्त प्रतिबन्धा

की निवृत्ति हो जायेगी। किंतु शंका यह है कि यदि प्राकृतगुण विद्यमान हैं तो भले ही निरंतर भावना करते रहें, भाव तो उत्पन्न होगा ही नहीं ? बात ठीक है परंतु यह याद रखें कि जब तक भगवान मन में आविर्भूत होकर जीव के अंतःकरण से सबंधित नहीं होते, तब तक ही अविद्या रहने के कारण प्राकृतगुण भी विद्यमान रहते हैं। किंतु यदि आप निरंतर भावना करते रहेंगे तो कृपालु भगवान अंतःकरण में प्रकट होकर अविद्या का नाश कर देंगे और तब प्राकृतगुणों का नाश हो जायेगा एवं इसके पश्चात् निरंतर भाव की उत्पत्ति होगी ॥ ७॥

स्वोक्तप्रमेये सन्दिहानेनैव स्थेयमिति स्वानुपदिशन्ति।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।

कुसृष्टिः दूषणाभासः, **अत्रास्मदुक्तौ**, **वे**त्यनादरे, वस्तुतस्तु नोत्पस्यत एवेत्याशयः। **काचिद्**दुःसंगेन भगवदस्मरणनिबन्धनक्षणिकासुरभावेन **वा काचिदुत्पद्येत** जायेत चेद् , **वै** निश्चयेन, **स** तु **भ्रम** एव भ्रान्तिरेवेत्यर्थः। तथाचोत्तरक्षणोत्पत्स्यमानविशेषदर्शननाश्यत्वादकिञ्चित्करेतिभावः॥ ७॥

इतिश्रीविट्ठलेश्वरात्मजघनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामिविरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा॥

अपने आचार्यचरणों द्वारा कही बात में एतन्मार्गीयों को निःसंदिग्ध ही रहना चाहिए-अतः इसे बात को आपश्री अग्रिम पंक्ति में उपदेश कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि **अत्र** = हमारे कहे में, **कुसृष्टि** = दूषणता का आभास हो तो वह भ्रम है। "वा" शब्द अनादर अर्थ में है। अनादर का अर्थ यह कि वास्तव में तो हमारे कहे में दूषणाभास होगा ही नहीं परंतु मान लो यदि होता हो, तो वह भ्रम है। किसी दुःसंग के कारण अथवा तो भगवत्स्मरण के बिना रहने से जो क्षणिक आसुरावेश आ गया हो उसके कारण यदि हमारे कहे में कोई दूषणता दिखाई देती हो तो वह निश्चितरूप से भ्रम ही है। क्योंकि उल्टा सोचने के तुरंत बाद भगवान के दर्शन होने से वह भ्रम नष्ट भी हो जाता है और कुछ कर ही नहीं पाता अतः वह भ्रान्ति ही है, यह अर्थ है॥ ७॥

यह श्रीविट्ठलेश्वरात्मज श्रीघनश्यामपुत्र श्रीगोपेशगोस्वामी द्वारा विरचित सेवाफलविवृत्ति की टिप्पणी सम्पूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सेवाफलम्।

श्रीदेवकीनन्दनविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम्

⁂

करुणाचार्यचरणवरणं शरणं मम। यत्पथे सुकथे सेवाफलं कृष्णः प्रयच्छति॥ १॥

ननु स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणसेवायाः फलान्तरकथनं कथमुपपद्यत इति चेत्। इत्थम्। यावज्जीवं तथा क्रियमाणसेवया देहावसाने जीवस्य या गतिर्भवति सात्र फलपदेनोच्यते। तच्च फलमाधुनिकभजनानुस्यूतसर्वात्मभाव-प्राप्यविशिष्टभजनानन्दात्मकमेवेति न तस्य सेवातिरिक्तत्वमायाति येन फलान्तरत्वमुच्येत।

करुणाचार्यचरण- श्रीमहाप्रभु द्वारा किया गया वरण ही मेरी शरण है।
जिनके द्वारा कहे गये सुंदर पथ में श्रीकृष्ण सेवाफल प्रदान करते हैं॥१॥

सर्वप्रथम प्रश्न यह होता है कि जो सेवा स्वतन्त्र-पुरुषार्थरूप है (अर्थात् जो सेवा अपने आप में ही एक पुरुषार्थ है, अपने आप में ही फलरूप है, उसका अन्य दूसरा कोई फल नहीं है, वह सेवा करने पर उसका कोई अन्य फल होगा - यह कैसे कहा जा सकता है ? इसका प्रश्न का समाधान यह है कि जब हम जीवनपर्यंत पुष्टिमार्ग में कही गयी प्रभुसेवा करते हैं, तब देहावसान होने पर जीव की जो गति होती है, वह गति यहाँ फल के रूप में कही जा रही है, यह समझना चाहिए। और वह फल वर्तमान में जो सेवा हम करते हैं, उस सेवा में रहा हुआ सर्वात्मभाव से प्राप्त होने वाला विशिष्ट भजनानन्दात्मक फल ही है एवं यह भजनानन्दात्मक फल सेवा में ही प्राप्त होता है, सेवा के अतिरिक्त अन्यत्र तो प्राप्त होता नहीं कि जिससे इसे सेवा से अतिरिक्त फल कहा जाय अतः इस ग्रंथ में यदि सेवा में होने वाले फलों की चर्चा है तो वह युक्त ही है। (क्योंकि सेवा करते करते ही तो भजनानन्दरूपी फल प्राप्त होगा अतः इसे सेवा से अतिरिक्त फल नहीं कहा जा सकेगा)।

“यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवर”मिति भगवद्वचना”दन्ते या मतिः सा गति”रिति न्यायाच्च सेवाफलं सेवैवेति नोक्तविरोधः शंकनीयः। तत् कीदृशं किमिति जिज्ञासायामाचार्याः किञ्चित् स्वमतसिद्धं तत् सार्धैः सप्तभिः श्लोकैर्निरूप्य सुगमत्वाय स्वयमेव विवृण्वन्ति।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी सेवनेति। **प्रोक्ते**ति। मयेत्यध्याहार्यम्। तेन स्वसिद्धान्ते यादृशी सेवना मया प्रोक्ता, तादृशी सेवना विवरणे वक्ष्यमाणफलप्रापिका भवति, न तु प्रमाणान्तरसिद्धा, मतान्तरसिद्धा वा तथा। अन्यथा तत्र तत्र क्वचिदुक्ता प्रसिद्धा भवेत्। अत्र तु साक्षादाचार्योक्तत्वादनुभवसाक्षिकत्वाच्च न काचिदसंभावनेति ज्ञाप्यते। सापि याज्जीवमविच्छेदेन कृता, स्वफलदानं तु कियत्कालं कृत्वा, परित्यक्तापीत्याहुः **तत्सिद्धावि**ति। सिद्धिरत्र यावज्जीवं निर्वाहः। तदुक्तमाचार्यचरणैः “सेवायां वा कथायां वे”ति।

गीता में कहे “जिस भाव का स्मरण करते हुए जीव देह का त्याग करता है, उसी भाव को वह प्राप्त होता है(भ०गी० ८/६)” एवं “अन्त में जैसी मति वैसी गति(न्यायः)” इस न्यायवाक्य के अनुसार भी सेवा का फल सेवा ही है अतः यहाँ किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। तो फिर सेवा का फल कैसा/क्या है - यह जिज्ञासा होने पर आचार्यचरण कुछ अपना सिद्धमत साढ़े सात श्लोकों द्वारा निरूपित करके उसे सुगम बनाने के लिये स्वयं ही उसका विवरण भी कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं - मैंने अपने सिद्धांत से जो सेवा कही है, वही सेवा आगे जो फल कहेंगे उसे प्राप्त कराने वाली बनेगी ; मेरे अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से सिद्ध सेवा या फिर अन्य मतों से सिद्ध हुई सेवा उस फल को प्राप्त नहीं करायेगी। आपश्री का तात्पर्य यह कि यदि आपश्री के अतिरिक्त अन्य कहीं किसी प्रमाण से सेवा का वह फल कहा गया होता जो आपने कहा है, तो कहीं न कहीं अवश्य प्रसिद्ध भी हुआ होता। यहाँ तो इस सेवा का फल साक्षात् आचार्यचरण कह रहे हैं एवं अपने अनुभव से कह रहे हैं अतः इसमें किसी भी प्रकार की असंभावना नहीं करनी चाहिए- यह भी ज्ञापित होता है। इस संप्रदाय में यदि कुछ समय के लिये सेवा करें और फिर छोड़ दें, तो भी उतनी की गयी सेवा तो अपना फल देगी ही परंतु इस ग्रंथ में जो बात कही जा रही है, वह यह है कि जीवनपर्यंत सेवा करने पर आचार्यचरणों द्वारा कहा गया सेवा का फल प्राप्त होगा, यह बात आपश्री **सेवासिद्धौ** इस शब्द से कह रहे हैं। सिद्ध होने का तात्पर्य ही यहाँ सेवा का जीवनपर्यंत निर्वाह करते रहना है। यही बात आपश्री ने "सेवा-कथा का निर्वाह जीवनपर्यंत करना चाहिए(भ०व०/९)" इस वाक्य द्वारा कही है।

फलमिति। एकवचनं तृतीयाभिप्रायेणेत्याहुः सेवायां फलत्रयमिति। अत्रायं भावः। भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदंगीकारः त्रिविधः। तेनाधिकारिभेदेन सेवा त्रिविधा, ततः फलमपि त्रिविधं क्रमेणोक्तम्। तत्रादौ पुष्टिसेवाफलमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति। अत्रायमाशयः। श्रीमद्व्रजस्थोक्तरीत्या सर्वात्मभावैकलभ्यभजनानन्दानुभवलक्षणं फलमलौकिकमुच्यते। तस्येतरप्रमाणागोचरत्वमितरसाधनाप्राप्यत्वमलौकिकत्वम्। तदनुभवयोग्यतालक्षणोधिकारश्च सामर्थ्यपदेनोक्तः। तस्यातिगोप्यत्वाय तथोक्तिः।

यद्यपि फलं शब्द एकवचन है तथापि यहाँ आचार्यचरणों का अभिप्राय तीन प्रकार के फल कहने का है। इसका भाव यह है कि, भक्तिमार्ग में प्रभु पुष्टि-मर्यादा-प्रवाह यों तीन प्रकार से जीवों का अंगीकार करते हैं अतः इस प्रकार अधिकारिभेद से सेवा भी तीन प्रकार की हुई एवं फल भी तीन प्रकार के हुए। इनमें सर्वप्रथम पुष्टिसेवा का फल है - **अलौकिक सामर्थ्य**। आशय यह कि, श्रीमद्व्रजजनों द्वारा कही गयी रीति से केवल सर्वात्मभाव से ही प्राप्त होने वाला भजनानन्द का अनुभव कराने वाला फल अलौकिकफल कहा जा रहा है। यह अलौकिकफल दूसरे प्रमाणों से एवं अन्य दूसरे साधनों से प्राप्त न होने के कारण अलौकिक कहा जा रहा है। एवं इस फल का अनुभव करने की योग्यतारूप अधिकार "सामर्थ्य" पद का अर्थ है। यह भाव अति गुप्त है अतः इस भाव को केवल सामर्थ्य पद से आचार्यचरणों ने कह दिया है।

द्वितीयफलं सायुज्यम्। तदत्र पुरुषोत्तमे वेदितव्यम्, न त्वक्षरे अक्षरसायुज्यं तु केवलमर्यादायां ज्ञानादिनापि भवतीति ततः पुष्टेर्विशेषकथनावश्यकत्वात्। सायुज्यानन्तरमपि पुष्ट्या कदाचिदाद्यमलौकिकं फलमपि भगवान् प्रयच्छेदित्यपि ज्ञेयम्।अन्यथा पुष्टिसेवाफलं सायुज्यमात्रं न वदेयुः। भक्तौ तद्वासनाया अभावात्। "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति भगवन्नियमाच्च। तेन पुष्टिमर्यादायामादौ सायुज्यम्, मध्ये भजनानन्दानुभवः, अग्रे पुनः पूर्वसायुज्यमित्युक्तं भवति। अतो मध्यमफलत्वम्।

सेवा का दूसरा अर्थात् पुष्टिमर्यादाफल है - **सायुज्य**। यह सायुज्य भी पुरुषोत्तम में ही होता है, अक्षरब्रह्म में नहीं। अक्षरब्रह्म से सायुज्य तो केवल मर्यादामार्ग में ज्ञान-आदि से भी प्राप्त होता है अतः पुष्टिमर्यादामार्ग में कहा गया सायुज्य तो उससे कुछ विशेष होगा ही। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ऊपर कहे वाक्यानुसार पुष्टिमर्यादा में सायुज्य प्राप्त कर लेने वाले जीव को भी यदि भगवान कभी केवल पुष्टि द्वारा अंगीकार करना चाहें, तो उसे आद्य-अलौकिकफल भी दे सकते हैं। अन्यथा तो फिर यहाँ आचार्यचरण लोकप्रचलित सायुज्य (अर्थात् ब्रह्म में लीन या एकाकार हो जाना) को पुष्टिसेवा के फल के रूप न कहते यदि यह सायुज्य ब्रह्म में लीन या एकाकार हो जाने वाला सायुज्य होता तो एवं सायुज्य के बाद भी कभी-कभार भगवद्-इच्छा से अलौकिकफल मिलने की संभावना न होती तो। अतः यहाँ कहा जाने वाला सायुज्य वो लोकप्रचलित सायुज्य नहीं है क्योंकि शुद्धपुष्टिभक्ति प्राप्त होने पर तो जीव को सायुज्य की कामना रहती ही नहीं है। और गीता के कथनानुसार "जो जिस भाव से मेरी शरण लेते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ(४-११)" यह भगवान का नियम भी है। *****क्योंकि भक्त ने यदि पुष्टिरीतिवाले सायुज्य की कामना से भगवद्भजन किया हो एवं भगवान उसे मर्यादामार्गीय सायुज्य दे दें, तो भगवान की "यथा मां" वाली प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी।*****

अतः पुष्टिमर्यादा भजन में सर्वप्रथम पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त होता है, फिर मध्य में भगवान उन्हें थोड़ा भजनानन्द का अनुभव करा देते हैं और फिर आगे उन्हें सायुज्य ही प्राप्त होता है। अतः सायुज्य मध्यमफल है। *****क्योंकि यदि वे जीव पुष्टिफल/

भजनानन्द में ही रह जाएँ तो उत्तमश्रेणी में आ जायेंगे किंतु उन्हें बीच में कुछ भजनान्द का अनुभव करवाकर भगवान पुनः सायुज्य ही देते हैं अतः सायुज्य को मध्यमफल कहा जा रहा है , यह अर्थ है।****

तृतीयफलं **वैकुण्ठादिदेहः**। आदिपदेन भूमावपि तथा भावनायां तादृशदेहप्राप्तिरुक्ता। तत्राप्युच्चनीचदेशभेदा बहुवचनेनोक्ताः। व्यापिवैकुण्ठस्य सायुज्यापेक्षया दुर्लभत्वेन साधारणफलत्वकथनस्यायुक्तत्वादत्र रमाप्रार्थित एव स इत्यवगम्यते। तत्र कदाचिन्नाद्यफलसंभावनेति साधारणफलत्वम्। अत एव वैष्णवव्रतानामेकादश्यादीनां फलत्वेन स्मृतिपुराणेषु स एवोच्यते।

तीसरा फल है - भगवान के वैकुण्ठ आदि में मिलने वाली देह। आदि पद से यह ज्ञात होता है कि वैकुण्ठ में तो ठीक परंतु इस भूतल पर भी यदि जीव की भावना हो, तो उसे वैकुण्ठ में मिलने वाली देह यहीं भूतल पर भी मिल सकती है। यह बात **वैकुण्ठादिषु** शब्द में प्रयुक्त बहुवचन से ज्ञात होती है कि वैकुण्ठ के अतिरिक्त भूतल पर भी उच्च-नीच स्थानों में ऐसी देह प्राप्त हो सकती है। *****मोटे तौर पर यह समझें कि वैकुण्ठ वह स्थल है जहाँ प्रभु का निवास है। पुराणादि शास्त्रों में तीन प्रकार के वैकुण्ठों की चर्चा आती है। एक आधिभौतिक वैकुण्ठ वह जहाँ ध्रुवजी को स्थान मिला है। दूसरा है आध्यात्मिक वैकुण्ठ जिसका निर्माण स्वयं भगवान ने रमा अर्थात् लक्ष्मीजी की प्रार्थना से किया है और जिस स्थान पर सनकादि ऋषि गये हैं, इसे रमाप्रार्थित वैकुण्ठ कहा जाता है। तीसरा आधिदैविक वैकुण्ठ है जिसे हम व्यापिवैकुण्ठ या गोलोकधाम या प्रभु की नित्यलीलास्थली कहते हैं।***** किंतु वैकुण्ठ का अर्थ यहाँ व्यापिवैकुण्ठ नहीं लेना चाहिए अपितु रमाप्रार्थित वैकुण्ठ ही लेना चाहिए क्योंकि व्यापिवैकुण्ठ की प्राप्ति तो सायुज्य की अपेक्षा कहीं अधिक दुर्लभ है अतः वैकुण्ठादिदेहप्राप्ति को सायुज्य फल से नीचा और साधारण फल कहना युक्तिसंगत नहीं रह जायेगा अतः वैकुण्ठ का अर्थ रमाप्रार्थित वैकुण्ठ ही लेना चाहिए। और रमाप्रार्थित वैकुण्ठ में आद्यफल अलौकिकसामर्थ्य प्राप्त होने की तो संभावना ही नहीं है अतः इसे साधारण फल के अंतर्गत ही माना जायेगा। इसी कारण एकादशी आदि वैष्णव्रतों का फल पुराणों में रमाप्रार्थित वैकुण्ठ ही कहा गया है, सो यह साधारण फल ही माना जायेगा।

ननु सायुज्यवैकुण्ठयोः प्रमाणसिद्धत्वेन तदर्थं जीवप्रयत्नः संभवति, आद्यफलस्य तु लोकवेदातीतत्वेन प्रमाणाद्यगोचरत्वान्न स्वकृतिसाध्यत्वम् ,यत् पुनः तत्साधनं तस्यापि तथात्वम् , अतः कथमाद्यमनोरथः सिध्येदित्यत आहुः अलौकिकस्य दान इति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

अलौकिकमाद्यफलं तस्य दाने, अर्थाद्भगवता कृते सति तन्मनोरथः सिध्येत् , न त्वन्यथापीत्यर्थः। **आद्य** इति। सायुज्यवैकुण्ठमनोरथापेक्षया स आद्य इत्यर्थः। **अल्प** इति पाठे यद्यपि लीलामध्यपातिभक्तानुभवैकवेद्यफलसंबन्धिमनोरथो जीवस्य साधनतः स्वरूपतश्चाल्प एव। अप्यर्थे चकारः। तथा चाल्पोपि तथापि स्वतः प्रभुदानेन तत्सिद्धिः।

किंतु शंका यह है कि पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त करना एवं रमाप्रार्थित वैकुण्ठ की प्राप्ति की बात शास्त्र के प्रमाणों से सिद्ध बात है और इसी कारण जीव यदि इस दिशा में प्रयत्न करे तो पा भी सकता है, परंतु आद्यफल अलौकिक सामर्थ्य की प्राप्ति की बात तो लोक-वेद में कहीं प्रमाणतया कही नहीं गयी है, फिर इसे पाना जीवसाध्य कैसे हो सकता है ? और तो और, इसके साधन भी तो जीवसाध्य नहीं होंगे फिर यह आद्य मनोरथ आखिर सिद्ध होगा कैसे ? तो इसका समाधान आचार्यचरण **अलौकिकस्य दाने** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

आपश्री कहते हैं कि, भगवान जब जीव को अलौकिक-आद्यफल का दान कर देते हैं तब उसका अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त करनेरूपी मनोरथ अपने आप सिद्ध हो जाता है, अन्यथा जीव के प्रयासों से सिद्ध होना तो असंभव है। इसे आद्य अर्थात् पहला क्यों कहा जा रहा है ? तो समझिए कि यह सायुज्यप्राप्ति एवं वैकुण्ठप्राप्ति की तुलना में पहला है , इसलिये। यदि **आद्य** पाठ के स्थानपर **अल्प** पाठ मानें तो अर्थ यह बनेगा कि - भगवान की लीला के मध्यपाती भक्तों के अनुभव द्वारा ही जाना जा सकने वाला मनोरथ यदि जीव करे, तो व्रजभक्तों की तुलना में तो वह साधन एवं स्वरूप दोनों ही दृष्टि से अल्प ही होगा ; च शब्द भी यहाँ अपि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः इसका तात्पर्य यह है कि भले ही यह फल अल्प हो तथापि जब स्वयं प्रभु दान करें तब ही सिद्ध हो सकता है।

सिध्येदिति प्रार्थने लिङ्। आचार्यप्रार्थनया प्रभुः संपादयेदेवेति भावः। आद्यफलस्य स्वरूपैकसाध्यत्वे प्रसिद्धिमाह **हिशब्दः**। ननु भगवानपि तादृशाधिकाराभावे मनोरथं कथं पूरयेदित्यत आहुः **न काल** इति। अत्र फले इत्यधिकारे वा॥ १॥

सिध्येत् शब्द में प्रार्थना में लिङ् है ; इसका अर्थ यह है कि आचार्यचरणों की प्रार्थना से ही प्रभु जीव को ऐसा मनोरथ संपादित करेंगे ही। **हि** शब्द यह बताता है कि आद्यफल केवल भगवान ही सिद्ध करा सकते हैं। परंतु यदि कोई ऐसी शंका करे कि, मान लो जीव अधिकारी न हो, तो भगवान भी उसका मनोरथ भला क्यों पूर्ण करेंगे ? तो इसका समाधान आचार्यचरण **कालो न** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि अलौकिकफल की प्राप्ति अथवा अधिकार प्राप्त होने में काल नियामक न होकर भगवान ही नियामक हैं अर्थात् भगवान चाहें तो कुछ भी कर सकते हैं, कुछ भी दे सकते हैं सो भगवद्-इच्छा से असंभव भी संभव बन जायेगा॥ १॥

अग्रे प्रतिबन्धकत्रयोक्तिरिह साधनदशायामेव। तदुक्तं मूले **बाधकानां परित्यागेति**।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ३॥

तद्विवरणं **त्रयाणां साधनपरित्याग** इति। साधने सति स्वरूपतः त्युक्तमशक्यत्वात्। **भोगेप्येकमित्यादि विशते सदेत्यन्तविवरणं भोगो द्विविध** इत्यारभ्य **प्रविशतीत्यन्तेन**। तदनुसारेण मूलमेवं योजनीयम्। त्यजेदिति क्रियापदमध्याहार्यम्। यथा प्रतिबन्धद्वये एकस्त्याज्योपर न, तथा **भोगेपि एकं** लौकिकं भोगं त्यजेदपरमलौकिकं न। यतो निःप्रत्यूहमनन्तरायभूतम्। तत्र हेतुः। **महानिति**। अलौकिकभोगः स्वरूपतो लौकिकत्वादल्पोपि फलतो महान् , अलौकिकत्वात्। अतो न त्याज्य इति भावः।

आगे आचार्यचरण जो तीन प्रतिबन्धकों की बात कहेंगे, वो तो साधनदशा की बात है, फलदशा की नहीं। फलदशा में तो भगवान के समक्ष कोई भी प्रतिबन्ध ठहर नहीं सकता। साधनदशा में होने वाले प्रतिबन्धकों के ही लिये आगे मूल में **बाधकानां परित्यागः** इत्यादि शब्दों से कहा जा रहा है।

उपर्युक्त श्लोकों का विवरण आचार्यचरणों ने "**बाधकानां साधनपरित्यागः**" इत्यादि शब्दों से किया है। आशय यह है कि, यदि बाधक उत्पन्न करने के कारण ही विद्यमान रहे तो इन्हें त्यागा नहीं जा सकेगा। मूल में कहे "**भोगेप्येकं**" से लेकर "**विशते सदा**" तक की पंक्तियों का विवरण आचार्यचरणों ने "**भोगो द्विविधः**" इत्यादि शब्दों से लेकर "**प्रविशति**" तक के शब्दों द्वारा किया है। इस विवरण के अनुसार मूलश्लोक का अर्थ यों करें कि, "**त्यजेत्**" इस क्रियापद को पहले बीच में जोड़ लें। अब अर्थ यह बनेगा कि, जैसे साधारण-असाधारण इन दो प्रतिबन्धों में से एक ही त्याज्य है, वैसे ही दो प्रकार के भोगों में भी एक लौकिकभोग ही त्याज्य है, दूसरा अलौकिकभोग नहीं। क्योंकि अलौकिकभोग विघ्नरूप नहीं है ; कारण कि वह महान है। अलौकिकभोग स्वरूप से लौकिकभोग जैसा दिखाई देता होने पर भी, अल्प होने पर भी फल के अर्थ में महान है, क्योंकि वह अलौकिक है। अतः त्याज्य भी नहीं है।

अलौकिकत्वे निमित्तमाहुः **प्रथम** इति। प्रथमे आधुनिकभजने सदा निरन्तरं विशते, भजननिर्वाहकत्वेन तदंगतां प्राप्नोतीत्यर्थः। एतदेव विवरणे स्फुटीकृतम्। **अलौकिकभोगस्तु** फलानां सेवाफलांगभूतवस्तूनां मध्ये प्रथममङ्गं प्रतिबन्धाभावस्तत्र विशतीति न तत्त्यागः। तथा चोपपादितमेकादशस्कन्धे। "कायेन वाचे"ति श्लोकविवरणे॥ ३॥

अब ये अलौकिक क्यों है ? तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि अलौकिकभोग **प्रथम** अर्थात् आधुनिकभजन (जीव जा वर्तमान में भगवत्सेवा कर रहा है उसे कहेंगे आधुनिकभजन) में ही प्राप्त हो जाता है, भगवद्भजन-भगवत्सेवा को संभव बनाता है एवं भगवत्सेवा का अंगभूत बन जाता है। यही बात आचार्यचरणों ने अपने विवरण में कही है कि, अलौकिकभोग तो फलों को सिद्ध कराता है अर्थात् सेवाफल प्राप्त कराने वाली अंगभूत वस्तुओं में प्रथम अंग यानि प्रतिबन्धों को दूर कर देता है अतः उसका त्याग नहीं करना है। इस बात को समझने के लिये श्रीभागवत के एकादशस्कंध में कहे "काया, वाणी, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि या आत्मा से भक्त जो कार्य करे, उन्हें नारायण के लिये करने के संकल्प से करे(११-२-३६)" इस श्लोक के विवरण को देख लें॥३॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा गतिर्न हि
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ४॥

अकर्तव्यं भगवतः इति श्लोकविवरणं **भगवत्कृतश्चेत्यारभ्य विवेक इत्यन्तेन**। **अयमर्थः**। आसुरस्यापि दैवाद्भगवदीयसंगे जाते सेवायां प्रवृत्तिर्भवति। तेन केनचित्प्रकारेणानिवार्यप्रतिबन्धे जाते स भगवत्कृत इति ज्ञातव्यम्। तेनाग्रे फलाभावश्च। तेनान्यकृतापि सेवा प्रतिबन्धात् पूर्वं कृता सापि व्यर्था। तस्यासुरत्वनिर्धारश्च। तदा तज्जनितशोकाभावाय ज्ञानमार्गेण सर्वं तत्त्वं बुद्ध्वा स्थितिः विवेकः साधनम्। यद्यप्यासुरप्रसंगोत्र न वक्तव्यः, तथापि कश्चिदेवं भगवदीयेष्वपि दृश्येत चेत्तदा तथा भावनीयम् , न तु स्वीयस्य भगवानेवं करोतीति प्रभौ दोषारोपः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तदुक्तिरिति ज्ञायते॥ ४॥

"**अकर्तव्यं भगवतः**" इस श्लोक का विवरण "भगवत्कृतश्चेत्" से आरंभ करके "विवेक" तक के शब्दों में है। इसका अर्थ यह है कि, आसुरीजीव को भी यदि भाग्यवश किसी भगवदीय का संग प्राप्त हो जाय, तो उसकी भगवत्सेवा में प्रवृत्ति हो जाती है। और यदि उसे भगवत्सेवा में कोई ऐसा प्रतिबन्ध हो जाय, जिसका निवारण संभव न हो तो वह भगवत्कृतप्रतिबन्ध है, यह समझ लीजिए। इसी कारण फिर आगे उसे सेवा का फल प्राप्त नहीं होगा। यह भी जानें कि भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर उसने किसी और की सेवा की हो या प्रतिबन्ध होने से पहले उसके द्वारा की गयी सेवा भी व्यर्थ ही चली जायेगी। तब यह भी निर्धारित कर लें कि, उसमें असुरता है। अब जीव को जब यह निर्धारित हो जाय कि, वह आसुरी है तो इस बात से उत्पन्न हुए अपने शोक को दूर करने के लिये उसे ज्ञान के रास्ते पर चलते हुए समस्त तत्व को जानकर रहना विवेक कहलाता है। और उसके लिये अब यह विवेक ही साधन रह जाता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि, यदि इस ग्रंथ में भगवदीय एवं भगवत्सेवा की बात कही जानी है और बतायी जानी हैं अतः आचार्यचरणों को यहाँ असुरता की चर्चा करने की क्या आवश्यकता थी, केवल भगवदीयों की ही चर्चा करते ? तथापि आपश्री ने ये चर्चा यहाँ इसलिये छेड़ी है कि, मान लीजिये इसलिये यदि उपर्युक्त प्रकार के प्रतिबन्ध किसी भगवदीय को ही होते दिखाई दे जाएँ , तब अपने मन में सोच लें कि, यह भगवदीय नहीं है अपितु आसुरी ही है। यह न सोचें कि देखो भगवान अपने स्वीयजनों पर कैसे कैसे प्रतिबन्ध कर रहे हैं। ऐसा सब सोच कर प्रभु पर ही दोषारोपण न करने लग जाएँ - यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने यहाँ असुरता का प्रसंग छेड़ा है॥ ४॥

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥
न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्। (टीकाकार ने इस पंक्ति का अर्थ [आद्ये तु "दातृता नास्ति" इति न] इस प्रकार से लिया है)

सविघ्नोल्प इत्यस्य विवरणे **सविघ्नत्वादल्पत्वादिति**। साधारणभोगः **सविघ्नो** विघ्नसहितः। तादृशोप्यल्पः, स्वरूपतः फलतश्च। सोपि न त्यज्यते चेत्तदा **घातकः** सेवाप्रतिबन्धकः स्यात्। अतः सर्वथा त्याज्यत्वाद्बलादाग्रहादपि **एतौ** साधारणभोगप्रतिबन्धकौ मतौ, त्याज्याविति शेषः। तदुक्तं विवरणे **सदा प्रतिबन्धकाविति**। **द्वितीयो भगवत्कृतः** प्रतिबन्धः। **तत्र ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमिति** चिन्तानिवृत्तिसाधनं पूर्वमुक्तम्। तदसंभवे साधनान्तरमाहुः **द्वितीये सर्वथेति** श्लोकार्धेन। तदाभासो **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति**। तत्प्रतीकोग्रे **द्वितीय इति**। **विवरणमाद्यफलाभाव इत्यादि भवतीत्यन्तम्**।

आचार्यचरणों ने विवरण में "**सविघ्नोल्पः**" इत्यादि शब्दों की विवेचना "**सविघ्नत्वादल्पत्वात्**" इत्यादि शब्दों से की है। आपश्री आज्ञा करते हैं - साधारणभोग विघ्नसहित है। विघ्नसहित होने के साथ-साथ स्वरूप एवं फल दोनों दृष्टि से अल्प है। इतना होने पर भी यदि इसका त्याग न करें तो वह घातक सिद्ध होगा। अर्थात् सेवा में प्रतिबन्ध बनेगा। अतः सर्वथा त्याज्य होने के कारण बलात्-आग्रहपूर्वक ये साधारणभोग एवं साधारण प्रतिबन्ध दोनों त्याग देने चाहिए। यही बात आपश्री विवरण में "**सदा....... बंधकौ**" इस वाक्य से कह रहे हैं। द्वितीय प्रतिबन्ध भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध है। यह भगवत्कृतप्रतिबन्ध जब हो जाय, तब ज्ञानमार्ग का अनुसरण करते हुए रहना चाहिए - यह चिंतानिवृत्ति का साधन आचार्यचरण पूर्व में बता चुके हैं। ज्ञानमार्ग पर चलने पर भी यदि जीव की चिन्ता निवृत्त न होती हो तो इसका दूसरा उपाय आचार्यचरण **द्वितीये सर्वथा** इत्यादि आधे श्लोक द्वारा कह रहे हैं। इस पंक्ति का स्पष्टीकरण आपश्री ने विवरण में **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह** इत्यादि शब्दों से किया है, जिस वाक्य में आपश्री ने मूलश्लोक में आये "**द्वितीय**" शब्द को भी इंगित किया है। पूरा स्पष्टीकरण उपर्युक्त विवरण की ही आगेवाली पंक्ति **भगवतो दातृता नास्ति...... भवति** तक की पंक्ति में है।

सेवाफलम्।

आद्यफलं जीवस्य दैवत्वं, तदभावे भगवतो दातृता नास्ति, तदा आधिदैविकी फलसम्बन्धिनी सेवापि नेत्यर्थादुक्तं भवति। तत्सर्वं द्वितीयप्रतिबन्धे जाते ज्ञात्वा सर्वथोक्तफलविषयिणी चिन्ता त्याज्या। तत्र साधारणो हेतुः। संसारनिश्चयादिति। "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्" इति भगवदुक्तसंसारस्य निश्चयादन्यथा न भवतीति सर्वथेत्युक्तम्। न त्वाद्य इति। आद्ये पूर्वोक्तसाधारणप्रतिबन्धे दातृता भगवतो नास्तीति न, किन्तु वर्तते, अतः तन्निवृत्तये चिन्ता कर्तव्या, न तु द्वितीय इव सर्वथा त्याज्येति भावः।

आद्यफल प्राप्त होने का अर्थ है – जीव का भगवान द्वारा दैवी बना दिया जाना। यदि जीव दैवी नहीं बनता तो समझ लीजिए भगवान को आद्यफल देने की इच्छा नहीं है। "भगवान की इच्छा नहीं है" – इसी बात से यह बात अपने आप समझ में आ जाती है कि, तब उस जीव की सेवा भी आधिदैविकी नहीं बन पायेगी अर्थात् फलदायी नहीं बन पायेगी। द्वितीय प्रकार का प्रतिबन्ध होने पर ऊपर कही सभी बातें समझ जाएँ एवं "मेरी सेवा फलदायी होगी कि नहीं" – इस प्रकार की चिन्ता सर्वथा त्याग दें। फल सिद्ध न होने का साधारण या सामान्य कारण आपश्री ने **संसारनिश्चयात्** इस शब्द द्वारा बताया है ; तात्पर्य यह कि भगवान ने उसके भाग्य में संसार में ही पड़े रहना लिखा है अतः उसे फल सिद्ध नहीं होता। इसलिये आचार्यचरणों ने- "मुझसे द्वेष करने वाले नराधमों को मैं संसारसागर में आसुरीयोनियों में ही गिराता हूँ (भ०गी०१६-१९)" इस भगवद्वचन के अनुसार उन आसुरी जीवों को संसार ही मिलनेवाला है अतः उसकी सेवा फलदायी नहीं बनती अतः चिन्ता सर्वथा छोड़ देनी चाहिए ,- यह कहा। **आद्य** शब्द का अर्थ है – पूर्व में कहा साधारण प्रतिबन्ध। साधारण प्रतिबन्ध होने पर- भगवान की देने की इच्छा नहीं है- ऐसा नहीं है अपितु देने की इच्छा है ही अतः साधारण प्रतिबन्ध निवृत्त करने की चिंता अवश्य करें ; द्वितीय भगवत्कृत प्रतिबन्ध की चिंता की भाँति यह चिंता सर्वथा त्याज्य नहीं है, यह भाव है।

एवमाद्यद्वितीययोर्व्यवस्थामुक्त्वा तृतीयः साधारणभोगकृतः प्रतिबन्धस्तत्र कर्तव्यमाहुः।

तृतीये बाधकं गृहमिति। अलौकिकभोगेन साधारणभोगपरित्याग आनुषङ्गिकः पूर्वमुक्तः। अन्यथा अलौकिकभोगो न स्यात्। उभयोरेकाधिकरणत्वाभावात्। यदि साधारणभोगं त्यक्तुं न शक्नुयात् तदा सेवाप्रतिबन्धकत्वेन तन्मूलभूतं गृहं त्यजेदित्याशयेन तद्विवरणं **भोगाभावस्तदे**त्यादि।

इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय प्रतिबन्धों की व्यवस्था कह कर अब आचार्यचरण "**तृतीये बाधकं गृहम्**" इत्यादि शब्दों से तृतीय अर्थात् साधारण भोग से होने वाले प्रतिबन्ध होने पर क्या करना चाहिए ,यह बता रहे हैं। अलौकिकभोग की बात बताने से ही यह अपने आप समझ में आ जाता है कि, साधारण लौकिकभोग का त्याग करना ही है। यदि लौकिकभोग का त्याग नहीं करेंगे तो, अलौकिकभोग तो अस्तित्व में आयेगा ही नहीं ! क्योंकि लौकिकभोग एवं अलौकिकभोग एक साथ तो रह नहीं सकते। यदि साधारण लौकिकभोग का त्याग न कर सकें तो उसके मूलभूत अंग गृह का त्याग कर दें क्योंकि गृहासक्ति सेवा में प्रतिबन्धक होती है। इसीलिये आचार्यचरणों ने विवरण में "**भोगाभावः**" इत्यादि वाक्य कहे हैं।

ननु त्यागतः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रेण सेवाया असम्भवे तदधिकारिणां कथं तत्फलप्राप्तिः। तदभावे च द्वितीयतुल्यता स्यात्। जीवस्य दैवत्वमपि व्यर्थं भवेत्। तस्मादत्र त्यागोक्तितात्पर्यं किमिति न बुध्यत इति चेत् , इदमाभाति। सेवाधिकारिणां मध्ये येषां गृहमनुकूलम् , तेषामन्यतः प्रतिबन्धः साधारणः, तेन तन्निवृत्तिः कर्तुं शक्या। ततः सेवया तत्फलप्राप्तिः। भोगश्च तेषामप्रतिबन्धहेतुरलौकिकत्वादिति पूर्वमुक्तम्। येषां पुनः गृहमेव प्रतिबन्धकम् , तेषां तत्परित्यागादेव लौकिकभोगनिवृत्तिः। त्यागोपि सन्न्यासनिर्णयोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गीयो ज्ञेयः, न तु कर्ममार्गीयो ज्ञानमार्गीयो वा। एवं सति तत्फलप्राप्तिरग्रे तेषामपीतिमनने तु नोक्तविरोधः शंकनीयः॥ ५॥

किंतु प्रश्न यह होता है कि, यदि गृह का त्याग कर दें तो प्रतिबन्धकों की निवृत्ति तो हो जायेगी परंतु भगवत्सेवा करनी संभव नहीं हो पायेगी। ऐसे में भगवत्सेवा के अधिकारियों को सेवा का फल भी कैसे प्राप्त होगा ? और यदि सेवाफल प्राप्त नहीं होगा तो उनकी परिस्थिति भी ठीक वही बनेगी जो परिस्थिति द्वितीय प्रतिबन्ध वालों(भगवत्कृत प्रतिबन्ध वालों)की बनेगी। ऐसे में तो भगवान द्वारा जीव को दैवीजीव बनाना भी व्यर्थ हो जायेगा। अतः यहाँ गृहत्याग कहने का तात्पर्य क्या है, सर्वप्रथम यही क्यों नहीं समझ लेते ! यहाँ प्रतीत यह होता है कि, सेवा के अधिकारियों में जिनका गृह भगवत्सेवा के लिये अनुकूल है, उनको तो अन्यत्र कहीं से सेवा में प्रतिबन्ध होता हो तो वह साधारण प्रतिबन्ध ही है और उसे दूर किया जा सकता है। इसके पश्चात् सेवा द्वारा उन्हें फलप्राप्ति

हो सकेगी। ऐसे जीवों को भोग भी प्रतिबन्धक नहीं होता क्योंकि वह भोग अलौकिक है, यह हमने पहले कह दिया है। परंतु जिन्हें गृह ही प्रतिबन्ध बन चुका है, उन्हें गृह का परित्याग करने से ही लौकिकभोग की निवृत्ति होगी। वे गृहत्याग भी करेंगे तो सन्न्यासनिर्णयग्रंथ में कहे गये प्रकार द्वारा ही करेंगे, कर्ममार्गीय या ज्ञानमार्गीय त्याग नहीं। (भक्तिवर्धिनी में कहा गया गृहत्याग भक्ति बढ़ाने के लिये भक्ति के साधन जुटाने के लिये किया जाने वाला त्याग है। भक्तिवर्द्धिनी में कहा गया गृहत्याग भक्ति को बढ़ाने के लिये बताया गया है , जिसमें सतत/निरंतर घर में रहना निषेध है। जिस त्याग के पश्चात् भी कुछ कर्म शेष रह जाते हैं और उसे लौट कर पुनः घर आना होता है। परंतु संन्यासनिर्णय में कहा गया त्याग संपूर्णत्याग है, जो केवल प्रभु के विरह का अनुभव करने के लिया किया जाता है और जो फलदशा का त्याग है)। इस तरह से उन्हें भी सेवा का फल आगे प्राप्त होगा। उपर्युक्त बात का मनन करें तो आपको कहीं भी विरोधाभास नहीं लगेगा ॥५॥

अग्रिमश्लोकद्वयस्य विवरणाभावादेवं योजना।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥
तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

(इस पंक्ति में आए "तदीय" शब्द का अर्थ टीकाकार ने भ्रामक व्यक्ति के रूप में किया है)

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

इयमुक्तरीतिः। **अवश्या** स्वतो भावयितुमशक्यापि मदुक्तत्वात् **सदा भाव्या**। अवश्यं भाव्येति वा। **यत्र** यथा दृश्येत तत्र तथा भाव्येत्यर्थः। ततः किमित्यत आहुः **सर्वमिति**। उक्तरीतितो**न्यत् सर्वं मनोभ्रम** इति ज्ञायत इत्यर्थः। **सर्वैः कथमेवं नांगीक्रियते** इत्याशंक्याहुः **तदीयैरिति**। **भ्रमसम्बन्धिभिरासुरैस्तत्** कार्यं कर्तव्यमित्यर्थः। **भक्तिमार्गीयैस्तु** मदुक्तिभावनायां **विलम्बो न कर्तव्य** इत्याहुः **पुष्टौ नैवेति**।

अब आगे के दो श्लोकों में आचार्यचरणों का विवरण तो नहीं है अतः निम्नलिखित प्रकार से इनका अर्थ समझें।

आपश्री उपर्युक्त श्लोक में आज्ञा करते हैं - यद्यपि हमने इस ग्रंथ में जो रीति कही है, वह अवश्या है अर्थात् अपने(जीव के) वश नहीं है, तथापि मैंने कही है अतः सर्वदा इस रीति की भावना करें। अथवा यों अर्थ करें कि, आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - इस रीति की भावना अवश्य करें। जब-जब जैसी-जैसी परिस्थिति बने, तब-तब वैसे-वैसे इसी रीति की भावना करें, यह अर्थ है। तो फिर इस रीति की भावना करने के पश्चात् क्या करें ? तो आपश्री आज्ञा करते हैं - हमारी कही रीति के अतिरिक्त सभी कुछ मन का भ्रम समझें, अन्य कुछ भी न करें। कोई पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि, यदि यही रीति सर्वथा उपयुक्त है , तो सभी लोग इसी रीति का अनुसरण क्यों नहीं करते हैं ? तो आपश्री आगे समाधान करते हुए लिखते हैं - तदीय अर्थात् भ्रमसंबंधी आसुरों का ही मन ऐसा होगा कि, वे हमारी कही रीति की भावना नहीं करेंगे किंतु जो जीव पुष्टिमार्ग में निष्ठ है, उसे तो हमारी कही रीति में विलंब नहीं करना चाहिए। यह बात आचार्यचरण "पुष्टौ नैव" इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

कदाचिदासुरस्यापि **सेवाप्रतिबन्धे जातेपि** भगवद्गुणश्रवणादिना प्रेमलक्षणं पुलकादि दृश्यते तत्र किं भावनीयमित्यत आहुः **गुणक्षोभेपीति**। क्षोभोश्रुपुलकादिः, स तु गुणवस्तुस्वभावादासुरस्यापि भवतीति गुणमाहात्म्यमेव। अत एतत्पूर्वोक्तमेव तत्रापि **द्रष्टव्यं** भावनीयमित्यर्थः। उक्तविश्वासार्थमाहुः **मे मतिरिति**। **मतिः** सम्मतिः। भ्रमस्वरूपमाहुः **कुसृष्टिरिति** ॥ ७॥

यथामति कृता सेवाफलोक्तिविवृतौ मया। टिप्पणी पर्वणीवेन्दुः प्रकाशयतु सर्वतः॥ १॥
यदत्रानुचितं किञ्चिदलेखि मतिमान्द्यतः। क्षम्यतां तत्प्रहस्यार्यैः शिशौ धौर्तमिवेप्सितम्॥ २॥

इतिश्रीदेवकीनन्दनकृता सेवाफलोक्तिविवृतिटिप्पणी समाप्ता॥

किंतु शंका यह होती है कि, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई आसुर हो एवं उसे सेवा में प्रतिबन्ध भी होता हो परंतु भगवद्गुणगान के श्रवण से उस आसुरी में भी भगवान के लिये रोना या रोमांचित होने जैसे भगवत्प्रेम के लक्षण दिखाई पड़ते हैं, तो इसे क्या समझें ? वह जीव दैवी है कि आसुरी ? तो इसका समाधान आचार्यचरण **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि , भगवान के लिये रोना या रोमांचित होना जैसे गुणों का क्षोभ तो राजस-तामस-सात्विक गुणों के स्वभाव से ही आसुरीजीवों को भी हो जाता है। यह तो उन गुणों का ही माहात्म्य है, जो जीव को ऐसा करवाते हैं। अतः आसुरी जीवों में भी इस प्रकार का गुणक्षोभ होता देखें, तो इसे भ्रम ही मानें एवं आचार्यचरणों की रीति का ही अनुसरण करें। आचार्यचरण अपने कहे पर विश्वास रखने के लिये जीवों से कह रहे हैं - ऊपर मैंने जो कहा, वह मेरा मत है अर्थात् इसमें मेरी सम्मति है। आपश्री आगे कहते हैं - मेरे कहे के अतिरिक्त अन्य जो भी साधन दिखाई देते हों, वह मन का भ्रम है, **कुसृष्टि** है॥ ७॥

सेवाफल की विवृत्ति पर मैंने यथामति जो टिप्पणी की है, वह टिप्पणी वैसे ही चहुँओर प्रकाशित हो, जैसे पर्व के समय चंद्रमा ॥१॥

यहाँ मेरी मतिमंदता से मैंने जो कुछ अनुचित लिख दिया हो, तो उसे सुज्ञजन हँस कर वैसे ही क्षमा कर दें, जैसे किसी शिशु की शैतानी पर हँस दिया जाता है॥ २॥

यह श्रीदेवकीनन्दनकृत सेवाफलविवृति पर की गयी टिप्पणी समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः

सेवाफलम्।

श्रीहरिरायकृतसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम्।

* * *

श्रीकृष्णं कुलदैवतं तदनु च श्रीवल्लभाख्यान् निजान्।
आचार्यानथ विट्ठलेश्वरमहं नत्वा प्रभुं सर्वथा॥
श्रीगोविन्दमतीवभावविवशं तातं स्वमर्यादया।
ख्यातं मत्फलजातहेतुमधुना किञ्चिद्वदाम्यक्षमः॥ १॥

अथ श्रीमदाचार्याः स्वीयानां बहुलग्रन्थावलोकनप्रयासमसहमानाः संक्षेपेणैव स्वमार्गीयसेवाफलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रथमं फलं निरूपयन्ति **यादृशी सेवनेति**।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी यादृक्प्रकारिकास्वतःपुरुषार्थत्वेन कालापरिच्छेदेनावश्यकर्तव्यत्वेनाकरणे प्रत्यवायजनकत्वज्ञानेन[1] क्रियमाणस्वसाधनभूततनुवित्तयुतसेवाद्वययुतमानससेवना भावरूपा सदानन्दसेवा मया प्रकर्षेण मुख्यतया फलरूपतया चोक्ता निरूपिता सिद्धांतमुक्तावल्यां "चेतस्तत्प्रवणं सेवे"ति। तस्याः सिद्धौ यावज्जीवनिर्वाहेण प्रपञ्चविस्मृतियुततदासक्त्या व्यसनरूपत्वसिद्धौ यत्फलं तदुत्पाद्यं फलत्वेनाभिमतम् , तदुच्यते निरूप्यत इत्यर्थः।

कुलदेवता श्रीकृष्ण, निजजनों के आचार्य श्रीवल्लभ,
प्रभुश्रीविट्ठलेश्वर एवं अपनी मर्यादा से विख्यात भावपूर्ण तातचरण श्रीगोविन्दरायजी को नमन करके
आचार्यचरणों का जो व्याख्यान मेरे लिये फलसिद्धि का कारण बना,
उसे समझने में असमर्थ होते हुए भी कुछ कह रहा हूँ॥ १॥

स्वमार्गीय सेवा का सिद्धांत समझने के लिये स्वीयजनों को अनेक ग्रंथों का अवलोकन करने का प्रयास करता देख आचार्यचरण सहन न कर सके अतः स्वमार्गीय सेवा के फल, प्रतिबन्ध एवं साधनों को आपश्री ने संक्षेप में इस ग्रंथ में निरूपित कर दिया और सेवा में होने वाले प्रथमफल का निरूपण **यादृशी सेवना** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - **यादृशी** अर्थात् जिस प्रकार की सेवा, जो अपने आप में ही पुरुषार्थरूप है एवं जो काल की बाधा से रहित है एवं अवश्य करनी चाहिए और यदि नहीं करते तो वह दोष का कारण बनता है ; ऐसा समझकर जब की जाती है तो उस सेवा के साधनभूत तनुवित्त इन दो सेवाओं से युक्त भावरूप सदानन्दश्रीकृष्ण की मानसीसेवा जो मैंने मुख्यरूप से, फलरूप से सिद्धांतमुक्तावली में "चित्त का भगवान में लग जाना सेवा है(२)" इस वाक्य द्वारा कही है ; वह सेवा सिद्ध हो जाने पर अर्थात् उस सेवा का जीवनपर्यंत निर्वाह करते हुए जब वह प्रपंचविस्मृति करवा कर प्रभु में आसक्ति द्वारा व्यसनरूप हो जाती है तब जो फल सिद्ध होता है , वही यहाँ फलरूप से कह रहे हैं।

ननु सेवायाः सर्वत्र ग्रन्थेषु फलरूपत्वोक्तेस्तत्फलोक्तिरनुपपन्नेत्याशंक्याहुर्विवरणे **सेवायां फलत्रयमिति**। सेवायामेव क्रियमाणायामेतत्त्रयं भवतीति। तदुत्तरमपि सेवासत्त्वेन तन्मध्यपतिततया न तस्याः स्वतःपुरुषार्थत्वहानिरित्यर्थः। अत एव सेवायामित्यत्र षष्ठीमनादृत्य सप्तमी विभक्तिरुक्ता। तत्त्रयमेवाहुः **अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति**। तत्रालौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः कोटिसूर्याग्निरूपस्यात्यन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभोर्हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम्। तच्च न शरीरान्तरे सम्भवतीति तादृशसामर्थ्यवच्छरीरप्राप्तिर्मृग्या। सा च प्रभुणैवापारकरुणेनैव सम्पाद्यत इति प्रभुसंपादिता-

---

[1] ज्ञापनेनेति पाठः।

लौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभवक्षमसामर्थ्यमेव प्रमाणाननुरोधिप्रमेयसाध्यं मुख्यं फलमित्यर्थः। अत एवोक्तं प्रभुभिः श्रीयमुनां प्रति प्रार्थयद्भि''र्ममास्तु तव सन्निधौ तनु नवत्व''मिति। नवत्वं च तादृक् सामर्थ्यमेव। अत एव तनुनवत्वमेवोक्तं न तु नवतनुत्वमिति।

किंतु शंका यह होती है कि आपश्री ने अपने समस्त ग्रंथों में स्वयं सेवा को ही फलरूप बताया है और यहाँ आपश्री उसी सेवा का फल बताने की बात कह रहे हैं, यह कैसा विरोधाभास है ? अतः इसका समाधान आपश्री अपने विवरण में **सेवायां फलत्रयम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सेवा करते करते ही ये तीन फल प्राप्त होते हैं : और ये फल प्राप्त होने के पश्चात् भी सेवा तो रहती ही है अतः सेवा का स्थान फल मिलने से पहले भी और बाद में भी बना ही रहता है, अतः सेवा की अपने आप में एक पुरुषार्थ होने की बात भंग नहीं होती अर्थात् फल मिलने के बाद भी सेवारूपी पुरुषार्थ तो करते ही रहना है। इसी कारण आचार्यचरणों ने सेवा शब्द में षष्ठीविभक्ति न रखकर सप्तमीविभक्ति(सेवायां) का प्रयोग किया है। ***** सेवा शब्द की षष्ठीविभक्ति करेंगे तो अर्थ बनेगा - सेवा के तीन फल होते हैं। सप्तमीविभक्ति करेंगे तो अर्थ बनेगा - सेवा में तीन फल होते हैं। षष्ठीविभक्ति करने पर यों आभास होता है मानो सेवा समाप्त हो गयी और पश्चात् सेवा के जो फल होते हैं वह कहे जा रहे हैं एवं सप्तमीविभक्ति करने पर यह अर्थ होता है कि सेवा करते करते जो तीन फल प्राप्त होते हैं, वह कहे जा रहे हैं। अपने संप्रदाय में प्रभुसेवा कभी भी समाप्त नहीं होती अतः आचार्यचरण यहाँ षष्ठीविभक्ति का प्रयोग न करके सप्तमीविभक्ति का प्रयोग कर रहे हैं।***** सेवा के ये तीन फल आचार्यचरणों ने अपने विवरण में अलौकिकसामर्थ्य, सायुज्य एवं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु शब्दों से कहे हैं। इसमें अलौकिकसामर्थ्य का अर्थ है - करोड़ों सूर्य की अग्निरूप, सर्वलीलाविशिष्ट प्रभु जब फल देने की इच्छा से जीव के हृदय में प्रवेश करें तब उन प्रभु का अनुभव कर पाने की सामर्थ्य। ऐसी सामर्थ्य अन्य दूसरे प्रकार के शरीर से प्राप्त नहीं हो सकती अतः ऊपर कहे प्रभु का अनुभव कर पाने की सामर्थ्य वाले शरीर की अपेक्षा हैं। और ऐसा शरीर तो प्रभु अपनी अपार करुणा से ही जीव को देते हैं। इसलिये प्रभु द्वारा दिये गये अलौकिकशरीर में रहने वाली प्रभु के स्वरूप का अनुभव कर सकने वाली सामर्थ्य ही यहाँ मुख्यफल के रूप में कही जा रही है, जो प्रमाण से सिद्ध न होकर केवल प्रभुकृपा से सिद्ध होती है- यह अर्थ है। इसी कारण महाप्रभुजी ने श्रीयमुनाजी की प्रार्थना करने में "हे श्रीयमुनाजी ! आपकी सन्निधि से मुझे सेवोपयोगी तनु की नूतनता प्राप्त हो(यमुना०-७)" यह कहा है। और तनु की नूतनता हो जाने का अर्थ तो ऊपर कही सामर्थ्य प्राप्त हो जाना ही है। इसी कारण आपश्री ने तनु की नूतनता की चाहना की है, नये तनु की चाहना नहीं।

तथा च यथा व्रजरत्नानां सर्वदा लीलासुखमनुभवतामन्ते तादृक् सामर्थ्यमेव सम्पादितं येन स्वदत्तस्वरूपानुभवो निष्प्रत्यूहं भवति नान्यावस्था। तथान्यत्रापि तदनुग्रहतः परमानुरागेण तथा फलदित्सायां पूर्वदेहं स्ववियोगाग्निना शुद्धं विधाय तस्यैवालौकिकत्वं सम्पाद्य तत्र तादृक् सामर्थ्यं प्रकटयतीत्यलौकिकसामर्थ्यमेव मुख्यं फलमितिभावः।

जैसे सर्वदा लीलासुख का अनुभव करने वाली व्रजरत्नाओं को अंत में ऐसी ही सामर्थ्य प्रभु ने संपादित की, जिससे उन्हें निरंतर भगवत्स्वरूप का अनुभव हुआ, अन्य अपनी किसी अवस्था का नहीं। इसी प्रकार इनके अतिरिक्त व्रज में अन्यों को भी भगवान के अनुग्रह से जब उन्हें प्रभु में परम अनुराग हुआ और जब प्रभु ने उन्हें अलौकिकसामर्थ्य देने की इच्छा की, तब उन्होंने उनकी पूर्वदेह को अपनी वियोगाग्नि द्वारा शुद्ध करके उसी शरीर में अलौकिकता का संपादन करके उसी शरीर में अलौकिकसामर्थ्य प्रकट की थी अतः अलौकिकसामर्थ्य ही मुख्यफल है, यह भाव है।

प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यं मध्यमं फलमाहुः सायुज्यमिति। सह युनक्तीति सयुक् तस्य भावस्तत्त्वम्। भगवता सह सततस्थिरेव सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति यावत्। तथा च लक्ष्मीवदन्तर्गृहगोपिकावद्वा भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपुण्यपापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकदेहं निवर्त्यालौकिकं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य स्वलीलानुभवः प्रभुकारितो मध्यमं फलमिति भावः। मध्यमत्वं चास्य विप्रयोगरसानुभवमपेक्ष्य तदुत्कर्षस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात्।

प्रमाणसहित प्रमेय से साध्य मध्यमफल को आचार्यचरण **सायुज्य** शब्द से कह रहे हैं। (अर्थात् ऊपर अलौकिकसामर्थ्य वाला जो उत्तमफल है, वह तो केवल भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है। इस फल को प्राप्त करने में कोई जप-तप आदि शास्त्रीय प्रमाणों के लिये कोई स्थान नहीं है परंतु दूसरे फल सायुज्य में भगवान की कृपा होने के लिये शास्त्रीय प्रकार की आवश्यकता है। सायुज्यरूपी दूसरा फल शास्त्रीय मर्यादा से प्राप्त होगा, यह अर्थ है)। साथ में जुड़ने का नाम है- सयुक् ; साथ में जुड़ने का भाव है - सायुज्यं। सायुज्य का तात्पर्य भगवान के संग सतत स्थिति होनी अर्थात् सर्वदा संयोगरस का अनुभव करना है। जैसे कि

लक्ष्मीजी के संग भगवान का रमण है*****लक्ष्मीजी ब्रह्मानन्दरूपा मानी गयी हैं एवं वे प्रभु के हृदय में निवास करती हैं। जब भगवान को रमण करना होता है, तब लक्ष्मीजी बाहर पधारती हैं एवं रमण के पश्चात् पुनः उनकी स्थिति प्रभु के हृदय में ही हो जाती है)***** या अन्तर्गृहगता गोपिकाओं की भाँति भक्तिमार्गीय प्रकार से एक साथ समस्त पाप-पुण्य के नष्ट हो जाने से उनकी पांचभौतिक देह को दूर करके भगवान ने उन्हें अलौकिकदेह प्रदान करके पहले अपने श्रीअंग में उन्हें स्थित किया, फिर वहाँ से निकाल कर उन्हें अपनी लीला का अनुभव कराया ; यह मध्यम फल है। यह मध्यम इसलिये है क्योंकि इन अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को विप्रयोगरस का अनुभव नहीं हुआ और विप्रयोगरस का क्या महत्व है, यह बताने में तो सुहृदजनों का अनुभव ही साक्षी है।

उभयसाधारणमधिकाररूपं तृतीयं फलमाहुः **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति**। सेवायां क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यैः तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः सेवाया उप समीपे योगः, तद्वत्पक्ष्यादिशरीरप्राप्तिस्तृतीयं फलमित्यर्थः। तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात् फलत्वम् , बहिः साक्षात् सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वमित्यर्थः। अत एव "प्रायो बताम्बे"त्यत्र मुनीनां पक्ष्यादिशरीरप्राप्त्या स्वाधिकारानुसारेण सेवा तद्रसानुभवयोग्यता चेति निरूपितम्।

प्रमेय एवं प्रमाण, दोनों ही परिस्थितियों का अधिकाररूप तृतीयफल आचार्यचरण सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं(अर्थात् दोनों ही परिस्थितियाँ सेवोपयोगिदेह प्राप्त हुए बिना संभव नहीं हो सकतीं)। जिन्हें यह तीसरा फल प्राप्त होता है, उसमें इन्हें भगवान का विशेष अनुग्रह तो प्राप्त नहीं होता इस कारण साक्षात् सेवा में ये अनुपयोगी होते हैं अतः अन्य दूसरे साक्षात् भगवान के विशेष कृपापात्र जीवों द्वारा की जाने वाली सेवा में ये जुड़ जाते हैं ; अर्थात् प्रभुलीला में पक्षी आदि शरीर की प्राप्ति होनी तीसरा फल है, यह अर्थ है। इन पशु-पक्षियों की साक्षात् प्रभुरमण में तो कोई भूमिका नहीं है अतः इनके अंतर में रमण चलता रहता है अतः इस प्रकार की देह मिलने को फलरूप से कहा जा रहा है। एवं साक्षात् प्रभु से संबंध नहीं होता अतः इसे अधिकाररूप भी कहा जा रहा है। इसीलिये "अरी सखी ! वृन्दावन के पशु-पक्षी वास्तव में ऋषि-मुनि हैं। वे डालों पर बैठ कर प्रभुलीला के दर्शन करते रहते हैं(श्री०भा०-१०-२१-१४)" इत्यादि वाक्यों में मुनिजनों को पशुपक्षियों का शरीर प्राप्त होना एवं उस शरीर द्वारा उनका अपने अधिकारानुसार भगवान की सेवा एवं भगवद्रस की योग्यता का अनुभव करने की योग्यता के विषय में बताया गया है।

एवं फलत्रयं निरूप्य आद्यफलस्य दुर्लभत्वं निरूपयन्तः फलत्रैविध्ये हेतुं च समर्थयन्तो दानमात्रसाध्यत्वं प्रथमफलस्य निरूपयन्ति **अलौकिकस्येति**।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्य सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

अलौकिकस्य स्वविरहानुभवक्षमसामर्थ्यस्यदाने दाने भगवता स्वाग्रहेण दुःखानुभवरूपतया तदनिच्छायामपि तथा सम्पादने, चकारात् तद्देहेन्द्रियादिषु स्वस्वरूपस्थापने सति आद्यः प्रथमफलविषयक संस्काररूपसमर्पणसमयक्रियमाणो **मनोरथस्तापक्लेशानन्दप्राप्तिरूपः सिध्येदित्यर्थः**। हीति युक्तोयमर्थः। यतो लीलास्थितेष्वपि केषाञ्चिदेव रासमण्डलमण्डनायमानानां तद्दानम्। अत एवान्तर्गृहगतानां प्रतिबन्ध इत्यतः केवलप्रभुदानैकसाध्यत्वमिति भावः॥ १॥

इस प्रकार से आचार्यचरणों ने तीन फलों का निरूपण किया। अब इनमें आद्यफल को दुर्लभ बताते हुए आपश्री यह बता रहे हैं कि इन फलों की तीन कोटियाँ क्यों रखी गयी। अग्रिम श्लोक में आपश्री **अलौकिकस्य** इत्यादि शब्दों से प्रथमफल के विषय में यह बता रहे हैं कि, वह जीव को तभी प्राप्त होता है, जब प्रभु देना चाहें।

यहाँ अलौकिकशरीर के दान का अर्थ है - भगवान के विरह का अनुभव कर पाने की सामर्थ्य वाले शरीर का दान। जीव की इच्छा भले ही न हो तथापि जब भगवान स्वयं आग्रहपूर्वक उसे दुःख का अनुभव कराने के लिये जिसका दान देना चाहें, वह है अलौकिकशरीर का दान। और च शब्द से यह ज्ञात होता है कि, भगवान जब ऐसा दान करते हैं तब जीव की देह-इन्द्रियों में अपने स्वरूप को स्थापित कर देते हैं और तब उसे आद्यः अर्थात् प्रथम फलविषयक भगवत्समर्पणरूपी संस्कार के समय जो तापक्लेशानन्द की प्राप्तिरूप मनोरथ होता है, वह मनोरथ सिद्ध होता है। हि शब्द द्योतित करता है कि, यह अर्थ उचित है क्योंकि प्रभुलीला में स्थित होने पर भी कुछ ही गोपिकाओं को प्रभु ने ऐसा दान दिया था। इसी कारण अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को तो प्रभु के पास जाने में ही प्रतिबन्ध पैदा हो गया अतः ज्ञात होता है कि ऐसा शरीर एवं ऐसा मनोरथ तभी सिद्ध हो सकता है जब प्रभु दान देना चाहें॥ १॥

अतः परं सायुज्यसेवोपयोगिदेहाप्तिरूपयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावान्तरफलयोः पूर्वफलवदनियतत्वाभावात् कदाचित् कालसाध्यत्वं ज्ञानादीनामिवाशंक्येत तदभावार्थमाहुः **फलं वा ह्यधिकारोवेति**।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलं सायुज्यम्। **अधिकारः** सेवोपयोगिदेहाप्तिः। अत्रैतदुभयोः फलयोः **कालो न नियामकः** सत्यादिरूपः फलदः कलिरूपः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः। एतेन कालानियम्यत्वेनैतत्फलस्य नियत्वमपि सूचितम्। अत एव कपिलदेवैरपि "नोऽनिमिषो लेढि हेतिरि"ति निरूपितम्। अत्र वाशब्दद्वयमधिकारस्यापि फलरूपतया तत्समकक्षत्वबोधनाय।

सायुज्य एवं सेवोपयोगिदेह इन दोनों में से पहला फलरूप है और दूसरा अधिकाररूप। इनमें पहला मध्यमफल है और दूसरा अवान्तरफल। इनमें से पहला यानि सायुज्य प्राप्त होने में कोई निश्चित समयावधि तो है नहीं अतः प्रश्न यह होता है कि ज्ञानमार्गीयों की भाँति क्या यह काल के अनुसार सिद्ध होता है ? आचार्यचरण अग्रिम पंक्ति में यह बता रहे हैं कि, इनमें काल का कुछ भी लेना देना नहीं है।

इस पंक्ति में **फलं** शब्द का अर्थ है - सायुज्य। **अधिकारः** शब्द का अर्थ है - सेवोपयोगिदेह। आपश्री कहते हैं, इन दोनों में काल नियामक नहीं है। अर्थात् सत्ययुग आदि काल न फलदायी हो सकता है और न कलियुग आदि काल प्रतिबन्ध ही हो सकता है। इससे यह ज्ञात होता है कि, चूँकि इन फलों में काल नियामक नहीं है अतः फल अवश्य प्राप्त होगा। इसी कारण भगवान के अवतार कपिलदेवजी ने भी "जिनके लिये मैं ही सर्वस्व हूँ ,वे मेरे वैकुण्ठधाम में हमेशा दिव्यभोग करते हैं एवं उन्हें मेरा कालचक्र ग्रस नहीं सकता(श्री०भा० ३-२५-३८)" यह कहा है। यहाँ **वा** शब्द का दो बार प्रयोग है ; एक फल के साथ और दूसरा अधिकार के साथ। इससे यह ज्ञात होता है कि अधिकार भी फल ही है। अर्थात् वा शब्द यह अर्थ प्रकट कर रहा है कि - तीसरे फल अर्थात् सेवोपयोगिदेह को चाहे फल कह दो या अधिकार कह दो, दोनों में कोई भी अंतर नहीं है।

एवं सोपपत्तिकं फलत्रयं विविच्य प्रतिबन्धकत्रयं विवेचयितुं निरूपयन्ति **उद्वेग** इत्यादि।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥

मूले **बाधकमित्येकवचनेन** मिलितनामेव बाधकतेत्याशंक्याहुः विवरणे **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति**। **उद्वेगो** नाम मनसः सेवायां क्रियमाणायामुत्कृष्टो वेगः सर्वथा तत्रास्थिरता बाहिर्मुख्यमिति यावत्। स च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकतया प्रतिबन्धकः। तस्मिन् सति क्रियमाणसेवायाः केवलकायिकीत्वान्मानसीत्वाभावेन प्रतिबन्धेनानाधिदैविकीत्वात्। एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तः प्रथमं प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमेण भोगं निरूपयन्ति **भोगो द्विविध इति**। भोगे द्वैविध्यं लौकिकालौकिकभेदेनेति तदाहुः **लौकिकोऽलौकिकश्चेति**। तत्र लौकिको लौकिकपदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां स्वत आसत्त्या भोगः। अलौकिकस्तु प्रभुसम्बन्धी। स तु प्रतिबन्धक एव न भवति। [१]तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवरूपरसभोगे प्रवेशात्। यतः सर्वेन्द्रियैस्तत्सम्बन्धिपदार्थेष्वनुभूयमानेषु तत्र तत्र स्थितो रसात्मा प्रभुरेवानुभूयत इति भावः।

इस प्रकार से सेवा के तीन फलों का उदाहरणसहित विवेचन करके अब आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में तीन प्रतिबन्धकों का विवेचन **उद्वेग** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

अब चूँकि मूलग्रंथ में **बाधक** शब्द में एकवचन का प्रयोग किया गया है अतः किसी को यह असमंजसता हो सकती है कि, ये तीनों बाधक एक स्थान पर एकत्रित होंगे क्या तभी प्रतिबन्ध पैदा करेंगे ? तो इसके समाधान स्वरूप आपश्री विवरण में **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

उद्वेग का अर्थ है - प्रभुसेवा करते समय मन का विशेष वेग अर्थात् मन का प्रभु में स्थिर न रहना, जिसे हम बहिर्मुखता भी कह सकते हैं। यह उद्वेग सेवा को आधिदैविकी बनने नहीं देता अतः प्रतिबन्धक है। उद्वेग के कारण सेवा आधिदैविकी इसलिये नहीं बनती क्योंकि उद्वेग रहने पर सेवा केवल क्रिया मात्र रह जाती है अतः मानसी सिद्ध नहीं हो पाती। इस प्रकार उद्वेग का निरूपण करके आचार्यचरण आगे प्रतिबन्ध एवं भोग का निरूपण कर रहे हैं। ***** आगे की पंक्ति पढ़ने से पहले यह समझ लें कि पाठक्रमात् अर्थक्रमो बलीयान् अर्थात् ये आवश्यक नियम नहीं है कि, मूलग्रंथ में जिस क्रम में पाठ दिया गया है उसी क्रम में उस

---

[१] फलेषु प्रथमफले अलौकिकसामर्थ्ये तत्प्रवेशस्य वक्तव्यत्वात् प्रवेशश्चालौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानुभवस्य रसभोगरूपत्वादिति पाठान्तरम्।

पढ़ा, समझा या व्याख्यान किया जाय। पाठ के क्रम की अपेक्षा उस पाठ का अर्थ अधिक महत्वपूर्ण होता है अतः पाठ में छुपे मुख्य अर्थ का व्याख्यान आवश्यकतानुसार आगे-पीछे किया जा सकता है। आचार्यचरणों ने भी यहाँ यही किया है। मूलग्रंथ के अनुसार पहले प्रतिबन्ध शब्द आया है फिर भोग अतः चर्चा पहले प्रतिबन्ध की होनी चाहिए थी परंतु जब तक भोग का निवारण नहीं होगा तब तक प्रतिबन्ध भी दूर नहीं किया जा सकेगा अतः आपश्री पहले भोगनिवारण की चर्चा कर रहे हैं। इनमें प्रतिबन्ध का निवारण तो तब तक नहीं होगा, जब तक भोग का निवारण नहीं होगा अतः मूलग्रंथ में जो पाठ दिया गया है, उसके अनुसार न चल के आचार्यचरण अर्थक्रम के अनुसार चलते हुए पहले भोग का निरूपण कर रहे हैं।***** भोग के लिये आपश्री **भोगो द्विविधः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भोग दो प्रकार का है अतः आपश्री इसे **लौकिकोऽलौकिकश्चेति** शब्दों से कह रहे हैं। इसमें भगवत्संबंधरहित लौकिकपदार्थों का स्वयं आसक्ति रखते हुए भोग करना लौकिकभोग कहलाता है। अलौकिकभोग तो प्रभुसंबंधी भोग है, यह प्रतिबन्धक होता ही नहीं। क्योंकि अलौकिकभोग तो मुख्य-मध्यम-साधारण इन तीन फलों के अंतर्गत प्रथमफल अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य के द्वारा प्रभुस्वरूप के अनुभवरूपी रस के भोग में प्रवेश करता है। क्योंकि समस्त इन्द्रियों द्वारा भगवत्संबंधी पदार्थों में भगवान का अनुभव होने पर उन-उन पदार्थों में स्थित रसात्मा प्रभु ही अनुभूत होते हैं, यह भाव है।

एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति प्रतिबन्धोपीति। साधारणः सर्वसाधारणः, सेवायां लौकिकवैदिककार्यान्तरव्यासक्तिः। भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यासुरमात्रविषयत्वेनासाधारणत्वादनिवर्त्यत्वेनावक्तव्यत्वाच्च त्रय एव बाधका उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धा इत्यर्थः। ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशंक्याहुः त्रयाणामिति। उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धकानां त्रयाणां साधनं तज्जननहेतुभूतं तस्य परित्यागः कर्तव्यः, हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात्। सिद्धस्य स्वरूपलाभे[1] त्यागानर्हत्वात्। नहि केनापि स्वसामग्रीसम्पादितं सुःखदुःखादि किञ्चिदपि स्वयत्नशतेनापि त्यक्तुं शक्यते।

इस प्रकार भोग का निरूपण करके अब आचार्यचरण **प्रतिबन्ध** का निरूपण कर रहे हैं। साधारणप्रतिबन्ध का अर्थ है - सर्वसाधारण अर्थात् प्रभुसेवा में लौकिकवैदिक इत्यादि अन्य कार्यों में विशेष आसक्ति होनी। भगवत्कृतप्रतिबन्ध तो केवल आसुरीजीवों को होता है अतः असाधारण होने के कारण इसका निवारण ही नहीं है, सो इसके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है, सो प्रभुसेवा में बाधक तीन ही हैं - उद्वेग, लौकिकभोग एवं साधारण प्रतिबन्ध। परंतु प्रश्न यह होता है कि, यदि ये प्रतिबन्ध सिद्ध ही हो गये हों अर्थात् पैठ ही गये हों, तो इनका त्याग करना कैसे संभव हो सकता है ? इसका समाधान आपश्री विवरण में **त्रयाणां** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, उद्वेग, लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध इन तीनों के साधनों का परित्याग करें। अर्थ यह कि ये तीन जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं, उन कारणों का ही त्याग कर दें। जीव का कर्तव्य तो इनके कारणों को ही दूर करना है क्योंकि ये तीन जब अपनी चरमसीमा पर पहुँच जायेंगे, तब उस समय तो इनका त्याग करना असंभव ही हो जायेगा। क्योंकि अपने ही कर्मों द्वारा उत्पन्न हुए दुःखसुख तो हम सौ यत्न करें, तो भी त्याग नहीं सकते।

ननु साधारणप्रतिबन्धे सेवायां लौकिकवैदिककार्यापतिरूपे साधनस्य लोकवेदसिद्धतयाऽशक्यत्यागतत्वात् कथं तत्त्याग इत्याशंक्य तदुपायमाहुः तत्राद्य इति। तत्र साधारणभगवत्कृतप्रतिबन्धयोराद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्य इत्यर्थः। बुद्धिस्तु सेवायां प्रतिबन्धत्वेन यदापतति लौकिकं वैदिकं तस्य पूर्वमेव सेवानवसरसमयमवेक्ष्य निर्धारो विधेयो यथा न सेवां प्रतिबध्नाति। तथा च पुत्रविवाहादेस्तथैव लग्नादि विधारणीयम् यथा न सेवाप्रतिबन्धः। परोपकारादेस्तु धर्मस्य गौणधर्मत्वज्ञानेन त्यागः। कालान्तरे वा करणम्। एवमन्यत्रापि सर्वत्र हरिचरणरतिप्रतिबन्धविभञ्जनी बुद्धिरनुसन्धेया। यद्वा। कदाचिदावश्यकलौकिकवैदिककार्यापाते तत्प्रयत्नसम्भवेन त्यागः कथं शक्यत इत्यत आहुः बुद्ध्येति। शरीरादिना तत्कार्यकरणेपि तत्र बुद्धिर्न स्थाप्येत्यर्थः॥ २॥

अब प्रश्न यह होता है कि, साधारणप्रतिबन्ध के विषय में जो ऊपर लौकिकवैदिककार्यों में आसक्ति होनी बतायी थी, तो शंका यह है कि यदि साधारणप्रतिबन्ध दूर करना है तो उसके कारणों को दूर करना पड़ेगा और उसके कारण वे सभी कार्य हैं जो लोकवेद में सिद्ध हैं। अब लोकवेद के कार्यों का त्याग करना तो अशक्य है। तो इसका उपाय आपश्री **तत्राद्य** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। साधारण एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध में से पहला साधारणप्रतिबन्ध बुद्धिपूर्वक चतुराई से दूर करें। बुद्धिपूर्वक त्याग करने का अर्थ यह है कि, सेवा में प्रतिबन्धरूप से आनेवाले लौकिकवैदिक कार्यों को सेवा के अनवसर काल में ही पूरे कर लें कि जिससे सेवा में वे बीच में न आएँ। इसी प्रकार पुत्र का विवाह एवं लग्न इत्यादि कार्य वैसे ढंग से करें, जिस प्रकार से सेवा में विघ्न न आए। परोपकार आदि धर्म को अपने सेवाधर्म के आगे गौण मानें अथवा तो सेवा के पश्चात् करें। इसी प्रकार अन्यत्र सभी जगह हरिचरणरति म

---

[1] लाभेनेति तृतीयान्तः पाठः।

प्रतिबन्धों का नाश करने वाली बुद्धि रखें। अथवा प्रश्न यह होता है कि, मान लो कि कोई ऐसा लौकिकवैदिक कार्य सिर पर आ ही जाये कि जिसको पूरा करना ही पड़े, तो उसमें तो प्रयत्न करना ही पड़ेगा ; तब कैसे त्याग कर पायेंगे ? तो इस शंका का समाधान आचार्यचरण **बुद्ध्या** इत्यादि शब्द से दे रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, वे आवश्यक कार्य शरीर से भले ही करें परंतु उसमें बुद्धि/मन न लगाएँ॥ २॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि।

अकर्तव्यमिति मूले। विवृतौ **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध** इति। **भगवतः** सर्वसमर्थस्यापि स्वतन्त्रेच्छतया यस्मिन्न किञ्चिदपि कृतिविषयः **सर्वथा** सर्वप्रकारेण प्रार्थनायामपि तदा **गतिर्निस्तारो न** सर्वथा फलाभाव इत्यर्थः। **हीति** युक्तोयमर्थः। सर्वमार्गफलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्ये केनापि मार्गेण फलासिद्धेः। अत्रायमाशयः। भक्तिमार्गे विशिष्टेच्छायाः कारणत्वान्न सामान्येच्छारूपमूलेच्छया मर्यादया वा फलसिद्धिः प्रतिबन्धो वा। किन्तु स्वयमंगीकृत्य यस्मिन् जीवे प्रभुर्यदा यथेच्छति, तदा तत्र तथा करोतीति वस्तुस्थितिः। तथा च भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य निरन्तरं सेवां कुर्वतोपि कदाचिद्दुःसंगादिनाऽतिपक्षपातिप्रभुप्रियप्रद्वेषेण तद्द्रोहे प्रभोरतिक्रोधेन प्रार्थनयापि क्षमासम्भावनारहितेन तस्मिन् प्रभुः फलप्रतिबन्धं करोतीति स भगवत्कृतप्रतिबन्धः। तस्मिन् सति सर्वथा सर्वमार्गफलाभाव इत्यर्थः।

इस प्रकार से साधारणप्रतिबन्ध का निरूपण करके अब आगे आचार्यचरण भगवत्कृतप्रतिबन्ध का निरूपण कर रहे हैं। मूलग्रंथ में कहे **अकर्तव्यं** इत्यादि शब्दों की विवेचना आपश्री ने अपने विवरण में **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध** इत्यादि शब्दों से की है। **भगवतः** अर्थात् भगवान तो सर्वसमर्थ हैं तथापि उनकी अपनी इच्छा फलदान देने की न हो और प्रतिबन्ध करने की ही हो, तो जीव कुछ भी नहीं कर सकता अर्थात् सभी प्रकार से यदि वह फल के लिये प्रार्थना भी करे, तब भी जीव की कोई गति नहीं है अर्थात् उसे फल प्राप्त नहीं होगा। हि शब्द से यह बताया जा रहा है कि, यही अर्थ ठीक भी है क्योंकि समस्त मार्गों का फल देने वाले प्रभु ही यदि प्रतिकूल हो जाएँ, तब तो किसी भी मार्ग से फलसिद्धि नहीं हो सकती। इसका आशय यह है कि- क्योंकि भक्तिमार्ग में ऐसा नियम है कि जीव को फलदान तो प्रभु की विशिष्ट इच्छा से ही होता है, सामान्य इच्छारूप मूल इच्छा या मर्यादा से फलसिद्धि या प्रतिबन्ध नहीं होता ; किंतु प्रभु स्वयं अंगीकार करके जिस जीव पर जैसी इच्छा करते हैं, उसके साथ तब वैसे-वैसे करते हैं, यह वस्तुस्थिति है। और यह भी है कि, भक्तिमार्ग में प्रवृत्त हुआ जीव निरंतर सेवा भले ही करता हो तथापि किसी दुःसंग के कारण वह भक्त का अत्यंत पक्षपात करने वाले प्रभु के किसी प्रियजन से द्वेष करे, तो उनके भक्त से द्रोह करने के कारण प्रभु अति क्रोध में भरकर क्षमा की कोई संभावना भी न रखते हुए उसके फल में प्रतिबन्ध कर देते हैं, यह भगवत्कृतप्रतिबन्ध है। जब ऐसा भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता है, तब तो सभी समस्त मार्गों में किसी भी प्रकार का फल उसे प्राप्त नहीं होता।

ननु भगवत्कृतप्रतिबन्धेप्यन्येषां फलदातृणां सेवया फलान्तरं भविष्यतीत्याशंक्याहुः **तदान्यसेवेति**। यदा "फलमत उपपत्ते"रिति न्यायेन सर्वत्र फलदातुः प्रभोः प्रातिकूल्यं तदान्येषामपि तदधीनानां फलदातृत्वाभावात् तत्सेवापि फलासाधकत्वाद् व्यर्थेत्यर्थः। ननु सर्वथा फलाभाव आसुरेष्वेवेति कथं दैवस्य भगवत्कृप्रतिबन्धे तथात्वमित्याहुः **तदासुरोयमिति**। जीवानां हि सृष्ट्यादावपि "निबन्धायासुरी मते"ति वाक्येन भगवत्कृतप्रतिबन्धादेवासुरत्वम्। यच्च यदा प्रभुः कर्तुमिच्छति तदैव भवतीति तदा तस्मिन्नेव समयेऽयं यस्मिन्नेवंप्रतिबन्धः स जीव **आसुरः** सेवादिना दैवत्वेन प्रतीतोपि आसुर एवेति **निर्धारो** निश्चय इत्यर्थः। एतेनैतत्प्रतिबन्धस्वरूपविद्भिः सर्वथा दुःसंगादिषु सावधानैः स्थेयमित्युक्तं भवति।

अब यदि कोई ऐसा सोचे कि, भले भगवान ने प्रतिबन्ध किया हो तथापि दूसरे किसी फलदाता की सेवा करने से कोई दूसरा फल मिल जाय, तो उसका समाधान आपश्री **तदान्यसेवा** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। समाधान यह है कि, ब्रह्मसूत्र में कहे "जीवों के कर्मफलभोग की व्यवस्था करने वाला परमात्मा ही है(ब्र०सू० ३-२-३८)" इस वाक्यानुसार सर्वत्र फलदाता प्रभु के प्रतिकूल होने पर अन्य दूसरे देवी-देवता फलदान नहीं कर सकते क्योंकि वे सभी तो प्रभु के अधीन हैं अतः उनकी सेवा करनी भी व्यर्थ है। अब शंका यह होती है कि फल का सर्वथा अभाव तो असुरों को ही होता है, फिर दैवीजीवों को भगवत्कृतप्रतिबन्ध हो जाने पर उन्हें सर्वथा फल का अभाव क्यों बताया गया ? तो इस शंका का समाधान आपश्री **तदासुरोयं** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। यहाँ यह समझिए कि भगवान ने जीवों की "आसुरीजीव संसारबंधन के लिये ही आए हैं(भ०गी० १६-५)" इस वाक्य

के अनुसार सृष्टि के आरंभकाल में ही दैवी-आसुरी की व्यवस्था कर दी है अतः यदि इन्हें प्रतिबन्ध है तो वे आसुरी हैं, यह समझ लीजीए। प्रभु जिसको जैसा करना चाहते हैं, वैसा ही होता है अतः सृष्टि के आरंभकाल में ही जिसको प्रभु ने ऐसा प्रतिबन्ध कर दिया है, वह जीव आसुरी है। वह प्रभुसेवा करता हुआ भले ही दैवीजीव जैसा प्रतीत होता हो तथापि आसुरी ही है, यह निर्धारण कर लें, निश्चित कर लें। इससे यह बात समझायी गयी है कि, प्रतिबन्ध का ऐसा स्वरूप जान लेने वालों को दुःसंग आदि से सर्वथा सावधानी से रहना चाहिए।

ननु तादृशस्य पश्चात्तापे शोकोत्पत्त्या पूर्वं भक्तिमार्गीय इति तदभावार्थं तत्त्वनिर्धारोपायभूतं विवेकरूपं साधनमाहुः **यथा वेति**।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ३॥

वाशब्दोनादरे। **येनैव** प्रकारेण। नात्राग्रहः। एतत्तत्वनिर्धारस्य शोकाभावमात्रार्थत्वान्नौपनिषज्ज्ञानमपेक्षितम् , किन्तु यथाकथञ्चित् सांख्ययोगेनान्येन वा भाषाप्रबन्धादिनोपायेन तत्त्वनिर्धारं विधाय शोकाभावार्थं विवेकः सम्पादनीय इत्यर्थः। **विवेकस्तु** ममैतदेव प्रभुणा कृतं सर्वं ब्रह्मात्मकं कोहं किञ्च साधनं किं फलं को दाता को वा भोक्तेत्यादिरूपः। तमेव च तत्त्वनिर्धारोपायं विवृतौ विशदयन्ति **ज्ञानमार्गेणेति**। ज्ञानमार्गेण **ज्ञानसाधनोपायेन स्थातव्यमित्यर्थः**। किञ्च ज्ञानस्थित्यापि न तन्मार्गीया मुक्तिः, किन्तु शोकाभाव एवेत्याशयेनाहुः **शोकाभावायेति**॥ ३॥

अब ऐसे आसुरीजीव को जब खुद का परिचय हो जाय, तो उसे पश्चाताप होता है और शोक होता है क्योंकि पहले तो वह भक्तिमार्गीय था और अब उसे फल मिल नहीं रहा है अतः अपने शोक को दूर करने के लिये आगे के श्लोक में आचार्यचरण उसके लिये उपायरूप से तत्व का निर्धारण एवं विवेकरूपी साधन आपश्री **यथा वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

वा शब्द अनादर अर्थ में है। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जिस किसी प्रकार से शोक दूर हो सकता हो, वैसे कर ले; यहाँ आचार्यचरणों का ऐसा कोई आग्रह नहीं है कि शोक दूर करने के लिये विवेकरूपी साधन ही किया जाय -यह **वा** शब्द का अर्थ है। आसुरीतत्व का निर्धारण हो जाय तो केवल शोक ही दूर होगा अतः यहाँ औपनिषज्ज्ञान की बात नहीं कही गयी ह (क्योंकि उपनिषद् का ज्ञान तो केवल मुक्ति के लिये है, उसे क्षुद्र शोक दूर करने का साधन नहीं बनाया जा सकता) अपितु यथासंभव सांख्ययोग या अन्य किसी शास्त्र या अन्य उपायों द्वारा अपने आसुरी होने के तत्वज्ञान को समझ कर शोक दूर करने के लिये विवेकरूपी साधन करना चाहिए, यह अर्थ है। और विवेक तो "मेरे लिये तो प्रभु ने इतना ही किया है। यह सभी कुछ ब्रह्मात्मक है, उसमें मैं कौन हूँ , क्या साधन है , क्या फल है , कौन दाता है , कौन भोक्ता है ; यह सभी कुछ भगवान ही हैं" - इस प्रकार सोचना है। इसी तत्वनिर्धारण के उपाय को आचार्यचरणों ने अपनी विवृति में **ज्ञानमार्गेण** इत्यादि शब्दों से कहा है। यहाँ ज्ञानमार्ग के अनुसार रहने का अर्थ है - ज्ञानसाधनों के उपायों के अनुसार रहना चाहिए। परंतु यह ध्यान रखें कि ऐसे ज्ञान के उपाय कर लेने के बावजूद भी उसे ज्ञानमार्गीया मुक्ति नहीं मिलेगी अपितु केवल उसका शोक ही दूर होगा अतः आचार्यचरणों ने कहा कि - शोक को दूर करने के लिये ज्ञान के साधनों के उपाय कर लेने चाहिए॥ ३॥

अतः परं यदर्थमेषां निरूपणं बाधकानां तत्प्रयोजनमाहुः **बाधकानामिति**।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ४॥

बाधकानामुद्वेगभोगप्रतिबन्धानां परित्यागः परितस्त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। भोगस्य बाधकत्वेन त्याज्यत्वमुक्त्वाऽलौकिके तदभावमाहुः **भोगेपीति**। **भोगेप्येकम**लौकिकभोगरूपं फलप्रविष्टतया **तथा** तेनैव प्रकारेण, **परं** प्रतिबन्धयोः परं भगवत्कृतप्रतिबन्धलक्षणमशक्यत्यागत्वेन विहाय तथेत्यर्थः। ननु भोगयोरपि तुल्यतामाशंक्य तस्मिन्नलौकिके वैलक्षण्यमाहुः **निष्प्रत्यूहमिति**। अलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रथमफले भगवत्स्वरूपानन्दानुभवरूपे भोगे क्रियमाणे प्रत्यूहोन्तरायः केनापि कालादिनापि न कर्तुं शक्यत इति निष्प्रत्यूहं स एव सिध्यति। लौकिके तु सर्वथा तदभाव इति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः। अत एवोक्तं प्रभुभिः सन्न्यासनिर्णये "हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपर" इति। किञ्च **महानिति**। स्वरूपतः फलतः साधनतश्च महान् विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य महत्वादित्यर्थः। अत एव फलेष्वपि प्रथमफल एवालौकिकसामर्थ्यरूपे प्रकर्षेण [illegible] प्रविशतीत्यर्थः। किञ्च **सदेति**। त्रैकालिकाबाधविषयत्वादित्यर्थः॥ ४॥

इसके पश्चात् जिस कार्य को सिद्ध करने के लिये आपश्री ने इन बाधकों का निरूपण किया है उसका प्रयोजन अब आगे **बाधकानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

बाधकानां परित्यागः का अर्थ है - उद्वेग, भोग एवं प्रतिबन्धों का परित्याग। इनका सभी प्रकार से परित्याग करना चाहिए, यह अर्थ है। भोग बाधक होने के कारण त्याग देना चाहिए, यह बात कहकर अलौकिकभोग त्याज्य नहीं है, यह बात आपश्री **भोगेपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - भोगों में भी एक अलौकिकभोग है, जिसका त्याग नहीं करना है क्योंकि वह जीव को फल की ओर अग्रसर करता है। इसी प्रकार प्रतिबन्धों में भी जो परम-प्रतिबन्ध है अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबन्ध के लक्षणवाला है, वह त्यागना तो अशक्य है अतः कुछ किये बिना उसे वैसे ही छोड़ दें। अब शंका यह होती है कि, दोनों प्रकार के भोग तो एक जैसे ही दिखाई देते हैं फिर एक को त्यागना और दूसरे को न त्यागने वाली बात का क्या अर्थ है ? तो दूसरे भोग में अलौकिक विलक्षणता बताने के लिये आपश्री **निष्प्रत्यूहं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि अलौकिकसामर्थ्यरूप भगवत्स्वरूपानन्द के अनुभवरूप प्रथमफल का भोग करने में काल आदि कोई भी अन्तराय(विघ्न)उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः केवल अलौकिकभोग ही निर्विघ्न सिद्ध होता है। लौकिकभोग में तो विघ्न ही विघ्न हैं अतः इसकी तुलना में अलौकिकभोग की बड़ी विलक्षणता है। इसी कारण श्रीमहाप्रभुजी ने सन्न्यासनिर्णयग्रंथ में "पुष्टिमार्ग में तो स्वयं हरि भी बाधा उत्पन्न नहीं कर सकते फिर अन्यों की तो बात ही क्या है(१९)" यह कहा है। **महान्** शब्द का अर्थ है - स्वरूप, फल एवं साधन तीनों दृष्टि से अलौकिकभोग महान है। विषयानन्द-ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द तो महान ही है अतः अलौकिकभोग भजनानन्द की ओर ले जाता होने से महान है। इसी कारण अलौकिकभोग इन तीनफलों में से अलौकिकसामर्थ्यरूपी प्रथमफल में विशेषतया प्रविष्ट होता है। और **सदा** शब्द का अर्थ यह है कि, इस अलौकिक सामर्थ्य में त्रिकाल (वर्तमान, भूत, भविष्य) में भी कोई बाधा नहीं आ सकती॥ ४॥

एवमलौकिकभोगे वैलक्षण्यं निरूप्य लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धावेकीकृत्य तद्धर्मनिरूपणपुरःसरं वैलक्षण्यं निरूपयन्ति **सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति**।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

लौकिको हि भोगः **सविघ्नो** विघ्नसहितः, कर्मकालादिभिस्तत्र विघ्नसम्भवात् **अल्पश्च**। स्वरूपतः फलतः साधनतश्च परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः। साधारणप्रतिबन्धो हि घातकः। सेवाकालोपरोधकतया तद्घातकः। **एतौ** भोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्पत्वघातकत्वादिभिर्धर्मैर्हेतुभूतैस्त्यागमप्यर्हत इत्याशयेनाहुर्विवृतौ **ननु कथमित्यारभ्य घातकः स्यादित्यन्तम्**। सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगः प्रतिबन्धश्च घातकत्वाच्च त्याज्य इत्यर्थः।

इस प्रकार से अलौकिकभोग की विलक्षणता का निरूपण करके लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध दोनों को एक कोटि में रखकर आचार्यचरण इनके धर्मों का निरूपण **सविघ्नोल्पो घातकः स्यात्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं - लौकिकभोग विघ्नसहित है, क्योंकि कर्म-काल इत्यादि के द्वारा लौकिकभोग में विघ्न आते हैं। लौकिकभोग का आनंद अल्पकालिक भी है क्योंकि यह स्वरूप से, साधन से और फल की दृष्टि से भी सीमित है। साधारण प्रतिबन्ध घातक है क्योंकि यह सेवा के समय को बाधित कर देता है अतः सेवा का घातक है। ये लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध विघ्नसहित एवं अल्प होने के कारण घातक हैं, इसलिये त्याज्य हैं - यह कहने के आशय से आचार्यचरणों ने अपनी विवृति में **ननु कथं** से आरंभ करके **घातकः स्यात्** यहाँ तक कहा है। अतः संक्षेप में यह समझें कि विघ्नसहित, अल्प एवं घातक होने के कारण भोग एवं प्रतिबन्ध त्याज्य हैं, यह अर्थ है।

एवं लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धयोस्त्यागहेतुभूतं धर्ममुक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धे त्यागासम्भवेन ज्ञानमार्गस्थित्यानधिकारिणो मन्दमतेः फलचिन्तया शोको भवतीति तदभावाय चिन्ता न कर्तव्येत्याहुः **द्वितीय** इति।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा सर्वप्रकारेणान्यतोपि फलसम्बन्धाभावाचिन्ता फलविषयिणी त्याज्येत्यर्थः। तत्र हेतुमाहुः **संसारनिश्चयादिति**। संसारोऽहन्ताममतात्मा सर्वानर्थमूलं प्रवाहपथफलरूपः, तस्य निश्चयाद्भगवत्कृतप्रतिबन्धे संसार एव, न फलान्तरमितिनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५॥

इस प्रकार लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध का त्याग करने के कारणों को कह कर आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि जब भगवान का प्रतिबन्ध होता है, तब जीव उस प्रतिबन्ध को दूर नहीं कर सकता अतः जो जीव ज्ञानमार्ग के भी अधिकारी नहीं हैं, ऐसे मन्दमति जीव को तो अपनी फलप्राप्ति की चिंता से शोक हो सकता है ; वह शोक न करे, इसके लिये उसे चिंता न करने का उपदेश आपश्री **द्वितीये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, **द्वितीये** अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर तो अन्य दूसरे किसी भी प्रकार से सेवा का फल प्राप्त नहीं हो सकता अतः फलविषयिणी चिंता त्याग दें। उसे भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने का कारण यह है कि प्रभु ने उसके लिये संसार में रचे-पचे रहना ही निश्चित कर रखा है। संसार अहंताममतात्मक है, समस्त अनर्थों की जड़ है एवं प्रवाहमार्ग की ओर ले जाने वाला है अतः यदि भगवान ने संसार में डुबाना ही सोच रखा है तो भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर संसार ही मिलेगा, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा फल मिलने वाला नहीं है - ऐसा निश्चय करके चिंता करनी छोड़ दें॥ ५॥

प्रतिबन्धविचारमितिविचार्यत्वेन विधायोद्वेगरूपप्रथमप्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति **नन्वाद्य** इति मूले **विवृतावाद्यफलेति**।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

आद्येन प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः। **नन्विति** विरोधोक्तौ। **आद्ये** उद्वेगरूपप्रतिबन्धे भगवतः सर्वसमर्थस्याप्यन्तःकरणैकसम्बन्धितया तद्विक्षेपरूपोद्वेगे क्रियमाणे सेवाया अमानसीत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावादनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः। अन्यथा सर्वदोषनिवारकस्य फलदातृत्वाभावो न घटेत। एतदेव विवृतौ विशदयन्ति **तदा सेवेत्यादि**।

प्रतिबन्ध का विचार अत्यंत विचारणीय है अतः आपश्री ने पहले प्रतिबन्ध का विचार किया। अब आपश्री आगे के श्लोक में **नन्वाद्ये** एवं विवृति में **आद्यफल** इत्यादि शब्दों से यह बता रहे हैं कि उद्वेगरूप प्रथम प्रतिबन्ध से जब फल प्राप्त नहीं होता तो इसका मूलकारण यह है कि भगवान ही उसे फल देना नहीं चाहते।

आद्य प्रतिबन्धक के द्वारा फल न मिलने को आचार्यचरणों ने **आद्यफलाभाव** शब्द से विवृति में कहा है। **ननु** शब्द विरोध को बता रहा है, इसका तात्पर्य यह कि यदि उद्वेग है तो फल नहीं मिलेगा अर्थात् फल में विरोध आ जायेगा। **आद्ये** अर्थात् उद्वेगरूपप्रतिबन्ध होने पर यह होता है कि- सर्वसमर्थ होते हुए भी भगवान जीव के अन्तःकरण से ही संबंधित होते हैं और जब अन्तःकरण में ही विक्षेपरूप उद्वेग होता है तो जो सेवा कर रहे हैं, वह मानसी की कक्षा तक नहीं पहुँच पाती। मानसी सिद्ध न होने पर भगवान से संबंध नहीं हो पाता और इससे सेवा अनाधिदैविकी रह जाती है और इस कारण प्रभु फलदान नहीं करते, यह अर्थ है। अन्यथा तो समस्त दोषों के निवारक प्रभु सेवा का फल न दें, यह तो संभव ही नहीं है। इसी बात का विवरण आचार्यचरणों ने अपनी विवृति में **तदा सेवा** इत्यादि शब्दों से किया है।

एवमुद्वेगबाधकमुक्त्वा भोगबाधकं विवृण्वन्ति **तृतीय इति**। **तृतीये** लौकिकभोगे गृहमेव बाधकमित्यर्थः। अत्रायमाशयः। भोगो हि सर्वथा बाधकः, भगवद्वैमुख्यसम्पादकत्वादिन्द्रियादीनां वैफल्यापादकत्वाच्च। स च यावद्गृहस्थितिः, यत्नेनापि निवर्त्यमानो न निवर्तते। गृहस्य सर्वथा बाधकत्वात्तत्र स्थितावंशतोपि भोगसम्भवाद्गृहपरित्यागः। कृष्णार्थप्रयोगेण तदासक्तिपरित्यागो वा भोगाभावाय विधेय इत्यर्थः। एतदेव च विवृतौ विवृतं **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इति**। अत एवास्मदाचार्यैर्निबन्धे निरूपितं भगवद्वचोनुवादरूपेण “गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्ण संसारमोचक” इति।

इस प्रकार से उद्वेग को बाधक कह कर भोग की बाधकता का विवरण आपश्री **तृतीये** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **तृतीये** अर्थात् लौकिकभोग का निवारण करने में गृह बाधक है। इसका आशय यह है कि, भोग सर्वथा बाधक है क्योंकि यह भगवान से विमुख करता है एवं इन्द्रियों को विफल बना देता है।

जब तक गृह में रहेंगे, तब तक कितना भी यत्न क्यों न करें, भोग निवृत्त नहीं होगा। कारण कि गृह सर्वथा बाधक है अतः यदि गृह में रहेंगे तो अंशरूप से भी भोग तो होने वाला ही है, इसलिये यहाँ गृहत्याग की बात कही जा रही है। अथवा तो ये करें

कि, गृह को कृष्णसेवा के लिये उपयोगी बनाकर उसमें अपनी आसक्ति दूर करके भोग को मिटाने का उपक्रम करें। इसी बात को आचार्यचरणों ने अपनी विवृति में **भोगाभावस्तदैव** इत्यादि वाक्यों से कहा है। इसीलिये हमारे आचार्यचरणों ने निबंध में भगवद्वचनों के अनुरूप "सभी प्रकार से गृह का त्याग करें। यदि ऐसा संभव न बनें, तो उसे कृष्ण के लिये उपयोगी बना दें। कृष्ण ही संसार से मुक्ति दिलाने वाले हैं(सर्व० २५१)" इत्यादि वाक्य कहे हैं।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं च निरूप्य निजान् प्रत्येतद्विचारमेवाहर्निशं कर्तव्यत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति **अवश्येयमिति**।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धत्रयी चावश्या, न स्वशक्या। भक्तिमार्गे फलप्रतिबन्धप्राप्तिनिवृत्तयोः केवलभगवधीनत्वात्। तथापि सदा निरन्तरं भाव्या कर्तव्यत्वेन विचारणीया, विचारे हि भावनायाः साधनत्वात् कदाचित् फलसिद्धिः, प्रतिबन्धतश्च सावधानतया स्थितिसिद्धिरित्यर्थः। ननु फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे किञ्चिद्भविष्यतीत्याशंक्याहुः **सर्वमन्यदिति**। एतत्फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं चापहायान्यत्सर्वं फलप्रतिबन्धादिकल्पनं **मनोभ्रमः** स्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः। अत्रेदमुक्तं भवति। भक्तिमार्गे सेवाया उत्तममध्यमसाधारणाधिकारक्रमेण एतत्फलत्रयमेव, न मोक्षादिः। प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव, न पापादिकमिति। "स्वपादमूलं भजत" इति वाक्यात्। तथा चैतत्फलविहिताशैरेतत्प्रतिबन्धसावधानैरन्यतो निश्चिन्तैः सर्वैः सेवैव विधेयेति भावः॥ ६॥

इस प्रकार तीनों फलों एवं तीनों प्रतिबन्धों का निरूपण करके आपश्री अग्रिम श्लोक में **अवश्येयं** इत्यादि शब्दों से उपसंहार करते हुए यह बता रहे हैं कि निजजनों को इन सभी का विचार अहर्निश करते रहना चाहिए।

आपश्री आज्ञा करते हैं - ये तीन फल एवं तीन प्रतिबन्ध जीव के वश में नहीं है क्योंकि भक्तिमार्ग में फलप्राप्ति और प्रतिबन्धनिवृत्ति होनी तो केवल भगवान के अधीन है। फिर भी जीव को चाहिए कि, वह इन फलों एवं प्रतिबन्धों का सदा निरंतर कर्तव्य समझ कर विचार/चिंतन करता रहे ; क्योंकि विचार करने पर कदाचित् फलसिद्धि हो भी जाय ; क्योंकि भावना करनी फलसिद्धि होने में साधन है। और यह भी है कि इन सभी का विचार करते रहेंगे तो आप सावधान रहेंगे और तब प्रतिबन्धों से भी बचाव हो सकेगा। अब किसी को यदि यह शंका होती हो कि, इस ग्रंथ में जो बताया गया, उसके अतिरिक्त भी क्या कोई अन्य फल एवं अन्य प्रतिबन्ध हो सकता है ? तो, आचार्यचरण **सर्वमन्यत्** इत्यादि शब्दों से निराकरण कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - इन तीन फलों एवं तीन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त अन्य किसी भी फलप्रतिबन्ध की कल्पना अपने मन की भ्रान्ति है। यहाँ आपश्री को यह कहना है कि, भक्तिमार्ग में सेवा के उत्तम-मध्यम-साधारण अधिकार के क्रम से सेवा के तीन ही फल हैं, मोक्ष इत्यादि सेवा के फल नहीं हैं। प्रतिबन्ध भी उद्वेग इत्यादि ही हैं जो इस ग्रंथ में बताये गये हैं , पाप इत्यादि नहीं। क्योंकि इस विषय में तो श्रीमद्भागवत में "जो भक्त अपने भगवान का भजन अनन्यभाव से करते हैं, उनसे पाप तो होते ही नहीं(११-५-४२)" यह कहा गया है। अतः सार यही है कि, इस ग्रंथ में कहे फलों की आशा रखने वाले एवं प्रतिबन्धों से सावधान रह कर चहुँओर से निश्चिंत हो जाने वालों को सेवा ही करनी चाहिए , यह भाव है॥ ६॥

नन्वेतत्फलप्रतिबन्धकादिनिरूपणं तदाश्रितान्प्रति घटते तदीयदेहादेरामत्वात् , तदीयानां तु देहेन्द्रियादेः साक्षात्पुरुषोत्तमसमर्पितत्वेन फलरूपप्रभुसम्बन्धात् प्राप्तफलतया तान्प्रति फलप्रतिबन्धनिरूपणं व्यर्थमित्याशंक्य आहुः **तदीयैरपीति**।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

तदीयैः कृतात्मसमर्पणैरपि तत्फलप्रतिबन्धकादिभावनं कार्यमवश्यकर्तृत्वम्। पुष्टिमर्यादायामंगीकारेण फलविलम्बाद्भजनं कारयित्वैव फलदानात्। अविलम्बस्तु केवलपुष्टावेवेत्याहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति**। **पुष्टौ** केवलपुष्टौ मर्यादाऽभावेन साक्षादंगीकारान्न विलम्बः। साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादामेवाधुनिकानामंगीकाराद्भजनसिद्धिविलम्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृका इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्यमित्यर्थः।

परंतु शंका यह होती है कि, इस ग्रंथ में कहे फल एवं प्रतिबन्ध की समस्त बातें उन जीवों के लिये विचारणीय हो सकती हैं, जो अभी अभी इस मार्ग में आये हैं एवं जिनकी देह-आत्मा अभी परिपक्व नहीं हुई हैं। किंतु जो तदीय हैं उन्होंने तो अपनी देह-इन्द्रिय सभी कुछ साक्षात् पुरुषोत्तम को समर्पित कर दिए हैं और इस कारण उनका संबंध तो स्वयं फलरूप प्रभु से होने क

कारण उन्हें फलप्राप्ति तो हो ही गयी है। ऐसे भगवदीयों को सेवा के फल एवं प्रतिबन्ध के विषय में बताना क्या व्यर्थ नहीं ? तो इसका उत्तर आपश्री **तदीयैरपि** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि, **तदीय** अर्थात् आत्मसमर्पण करने वालों को भी फलप्रतिबन्ध का चिंतन करना आवश्यक ही है। क्योंकि पहले तो प्रभु जीव को पुष्टिमर्यादा से ही अंगीकार करते हैं तत्पश्चात् थोड़ा विलंब करके प्रभुभजन में उसे लगाकर बाद में फलदान करते हैं। फलदान में विलंब तब नहीं होता, जब प्रभु जीव को पुष्टि द्वारा अंगीकार करते हैं, जिस बात को आचार्यचरणों ने **पुष्टौ नैव विलम्बयेत्** इत्यादि वाक्यों से कहा है। तात्पर्य यह कि, मर्यादारहित केवल पुष्टि में अंगीकार करने के कारण तब फल में विलंब नहीं होता। वर्तमान में तो प्रभु सभी आधुनिक जीवों को पुष्टिमर्यादा में ही अंगीकार करते हैं अतः यह समझ लें कि भजन की सिद्धि विलंब से होगी, सो तब तक परदेश गये हुए अपने प्रिय की राह तकने वाली किसी नायिका की भाँति फलप्रतिबन्धों का सदा चिंतन करते हुए यह राह तकनी चाहिए कि, प्रभु कभी तो फलदान करेंगे ही।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्यतिदिशन्ति **गुणक्षोभेपीति**।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

तदीयानां गुणक्षोभोपि विलम्बादेव निमित्ताद् देशान्तरस्थपतिकाया इव भवति। तत्राप्येतदेव फलप्रतिबन्धकादिभावनं साधनत्वेन द्रष्टव्यम्। एतद्विचारेण चित्तस्य प्रभुपरतया गुणक्षोभोपि न भविष्यतीत्यर्थः। ननु गुणक्षोभनिवर्तकानि साधनान्तराणि भविष्यन्तीत्याशंक्याहुः **मे मतिरिति**। विचारे क्रियमाणेऽस्मन्मतेरत्रैव पर्यवसानान्नान्यत्साधनमित्यर्थः॥ ७॥

प्रभु फलदान विलंब से करते हैं, इसी को निमित्त बनाकर आगे की पंक्ति में भी आचार्यचरण तदीयों के लिये **गुणक्षोभ** (सत्व-रज-तम आदि गुणों से मन का विचलित होना) होने पर समाधानरूप से कह रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं - तदीयों को भी गुणक्षोभ इसलिये होता है क्योंकि प्रभु फलदान में विलंब करते हैं ; ऐसा होने पर भी उसी नायिका की भाँति फल की प्रतीक्षा करते रहें, जिस प्रकार से वह अपने प्रियतम की बाट जोहती रहती है। तब भी जीव को साधन यही करना है कि, फल की प्रतीक्षा करे एवं प्रतिबन्धों का निवारण करे। ऐसा चिंतन करते रहेंगे तो चित्त प्रभु में लगा रहेगा एवं गुणक्षोभ नहीं हो पायेगा। यदि कोई ये शंका करे कि, चलो इसके अतिरिक्त गुणक्षोभ मिटाने का कोई और उपाय कर लें, तो आपश्री **मे मति** इत्यादि शब्दों से यह आज्ञा कर रहे हैं कि- मेरे विचार से तो मैंने जो कहा वही उचित है, अन्य दूसरा कोई साधन नहीं है॥ ७॥

नन्वत्र काचित् कुसृष्टिरुत्पद्यते, तदीयत्वे नियमेन फलसम्भवात् , तद्वैयर्थ्यापत्तिभिया प्रतिबन्धासम्भवाच्च, तदीयत्वे ह्युभयाभावादेवं न निरूपणमुचितमित्याशंक्याहुः **कुसृष्टिरिति**।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

अत्रास्मिन्नर्थे वाशब्दोवधारणार्थः। अत्रैव या कुसृष्टिरुत्पद्यते सा सर्वथा दोषाभावाद्भ्रम एवेत्यर्थः। अनुपपत्तिपरिहारस्तु पुरैव प्रभो स्वतन्त्रेच्छत्वनिरूपणेन कृत इति तत एव विभावनीयमिति दिक्॥ ७॥

इतिश्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जदासानुदासश्रीहरिरायविरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा॥

अब यहाँ किसी के मन में कुछ **कुसृष्टि** उत्पन्न होती है। वह ऐसा सोचता है कि तदीय होने पर तो निश्चित फल प्राप्त होता ही है और उसको तदीय बनाना कहीं व्यर्थ सिद्ध न हो जाय अतः भगवान उसके सामने प्रतिबन्ध भी खड़े नहीं करते हैं, सो तदीयजनों को तो न फल की चिंता है न प्रतिबन्धों की ; फिर व्यर्थ में आचार्यचरण क्यों इस ग्रंथ में उनके लिये फल एवं प्रतिबन्धों का निरूपण कर रहे हैं ? इस शंका का समाधान आपश्री **कुसृष्टि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ **वा** शब्द यह बताता है कि यदि कोई ऐसा सोचता है तो वह निश्चितरूप से **भ्रम** ही है। अर्थात् आपश्री आज्ञा करते हैं कि - तदीयों को फलप्रतिबन्ध की चिंता करने की आवश्यकता नहीं, ऐसा सोचना **कुसृष्टि** है। यहाँ जो कहा गया उसमें कोई दोष नहीं है अतः ऐसा सोचना मात्र भ्रम है। और जहाँ तक इस शंका का प्रश्न है तो उसका निराकरण हम पूर्व में ही कर आये हैं कि, यह तो भगवान की अपनी स्वतंत्र इच्छा है कि किसे फलदान करें और किसे प्रतिबन्ध करें॥ ७॥

यह श्रीवल्लभाचार्यचरणकमल के दासानुदास श्रीहरिरायविरचित सेवाफलविवृति की टिप्पणी संपूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

श्रीवल्लभविरचितटीकासमेतम्

⁂

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

यादृशी यत्प्रकारिका "चेतस्तत्प्रवण"मित्यारभ्य "कृष्णमेव विचिन्तये"दित्यन्तेनोक्ता। तत्सिद्धाविति। तस्याः सेवायाः मानसीत्वरूपफलावस्थासिद्धौ **फलमुच्यते** फलं निरूप्यत इत्यर्थः। कुत्रेत्याकांक्षायामाहुः टीकायां **सेवायामिति**। **फलत्रयमिति**। फलतावच्छेदकत्रयमित्यर्थः। यथा स्वर्गस्य फलत्वं तदवच्छेदकं चामृतपानादिकं तथा मानससेवायाः फलत्वं तदवच्छेदकं चेदं फलत्रयम्। **सेवायां फलत्रयमित्यनेन** पूर्वार्धार्थ उक्तः। उत्तरार्धार्थमाहु **अलौकिकसामर्थ्यमिति**। मूलेऽ**लौकिकस्येत्य**लौकिकस्य सामर्थ्यस्य। **अलौकिकसामर्थ्यं** सर्वाभोग्यसुधा। तस्या **दाने**।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - "चित्त का प्रभु में लगना सेवा है(सि०मु०-२)" से लेकर "कृष्ण का अनुगामी कृष्ण का ही चिंतन करता है(सि०मु०-१६) इत्यादि वाक्यों में जिस प्रकार की सेवा कही गयी है, वह सेवा सिद्ध होने पर अर्थात् मानसीरूप फलावस्था तक सिद्ध हो जाने पर, जो फल प्राप्त होता है वह अपनी(आचार्यचरणों की) टीका में **सेवायां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। टीका में आचार्यचरणों ने सेवा में तीन फल गिनाये हैं। तीन फल का तात्पर्य यह है कि, आपश्री ने सेवाफल को प्रकट करने वाली तीन वस्तुएँ गिनायी हैं। जैसे स्वर्गप्राप्ति होनी फल है, तो उसका उदाहरण है - अमृतपान आदि करना। ठीक इसी प्रकार मानसीसेवा फलरूप है और उसे स्पष्ट करने वाले या मानसीसेवा सिद्ध होने पर क्या होता है, यह बताने वाले ये तीन फल हैं। आचार्यचरणों की टीका में "**सेवायां फलत्रयम्**" यह वाक्य इस ग्रन्थ की पहली पंक्ति का अर्थ है; दूसरी पंक्ति का अर्थ है -**अलौकिकसामर्थ्यं**। श्लोक की दूसरी पंक्ति में **अलौकिक** शब्द का अर्थ है - अलौकिकसामर्थ्य ; और अलौकिकसामर्थ्य का अर्थ है - सभी भोग न कर सकें ऐसी भगवान की विशिष्ट अधरसुधा। इस सुधा का दान मिलने पर जीव का आद्य मनोरथ पूर्ण होता है।

आद्य इति। **आद्यो** मनोरथो "भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे"त्यादिभिरुक्तः पूर्वोक्तसुधाभोगरूपः सिध्येत् पूर्णो भवतीत्यर्थः। अनेन श्रृंगाररसस्य पूर्वदलानुभव उक्तः। चकारादलौकिकसामर्थ्येनैव तदुत्तरदलानुभवोपि भवति। स तु परितो गलनरूपवर्णनेनाभिरमणात्मको ज्ञेयः। एतेन दीयमाना सुधा साधनं भुज्यमाना सुधैव तु फलमिति सूचितम्। वेणुगीते "वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती"ति निरूपितम्। "वर्णयन्त्योभिरेभिर" इत्युत्तरदलानुभवोपि सुधापूर्णेनैव निरूपितस्तत्सम्मतिसूचनाय हिशब्दः॥ १॥

आद्य मनोरथ का अर्थ "भगवान के संग वार्तालाप, भगवान का दर्शन एवं मिलना(सु० १०-१८-७ ; का०-८)" इत्यादि कारिकाओं द्वारा कहा हुआ भगवद्-अधरसुधा का भोग कर सकने का मनोरथ पूर्ण होना, सिद्ध हो जाना है। इस आद्यमनोरथ की बात से आचार्यचरणों ने श्रृंगाररस के पूर्वदल संयोगरस का अनुभव भी कह दिया है (क्योंकि अधरसुधा तो संयोग में ही प्राप्त होगी, इसलिये) ।"**च**" शब्द से यह ज्ञात होता है कि, अलौकिकसामर्थ्य द्वारा ही श्रृंगाररस के उत्तरदल विप्रयोगरस का अनुभव भी होता है। अब कारण कि सुधा भगवद्रूप है अतः वेणुगीत में जहाँ भगवान की अधरसुधा सर्वत्र प्रवाहित होने के द्वारा भगवान का रमण बताया गया है, वही विप्रयोगरस है। (विरह की अवस्था में प्रभु भक्त के हृदय में आंतरिक रमण करते हैं, उसी के संदर्भ में यहाँ यह बात कही जा रही है) इससे वहाँ यह सूचित किया गया है कि, भगवान द्वारा दी गयी सुधा साधन है एवं गोपियाँ जो सुधा का भोग कर रही हैं , तो उनका भोग करना फल है। वेणुगीत में इसी बात को "भगवान की अधरसुधा कर्ण द्वारा हृदय में प्रवेश करती

है फिर जब गोपिकाएँ भगवद्वर्णन करती हैं, तब वह उनके मुख को भगवान के भोग के योग्य बनाती है(सु० १०-१८-५)" इस वाक्य द्वारा निरूपित किया गया है। इस श्लोक के पश्चात् आने वाले "गोपियाँ वेणुवादन को सुनकर प्रभु का वर्णन करने लगीं और तन्मय हो गयीं(श्री०भा० १०-२१-६)" इस वाक्य द्वारा प्रभु ने गोपिकाओं को उत्तरदल-विप्रयोग का अनुभव भी अधरसुधा से पूरित करके ही कराया- इस बात से अपनी सम्मति बताने के लिये आचार्यचरणों ने निश्चयात्मक "हि" शब्द का प्रयोग किया है॥ १॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलं वा ह्यधिकारो वेत्यस्यार्थमाहुः **सायुज्यमित्यादिना**। मूले **फलं** वेति। सायुज्यस्य "सोश्नुत" इत्यादिश्रुतौ फलत्वेनैव प्रसिद्ध्या फलपदं सायुज्यवाचकम्। तथा च द्वितीयं फलं सायुज्यमित्यर्थः। तृतीयं फलमाहुः **अधिकार** इति। एतदर्थमाहुः **टीकायां सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति**। अत्र आदिशब्देन श्रीमथुराश्रीवृन्दावनादिकं ग्राह्यम्। मूले **न काल** इति। **अत्र** सेवोपयोगिदेहे कालो न प्रेरकः। यथा लीलासृष्टिस्था आम्रवृक्षादयो न कालप्रेर्याः, किन्तु भगवदिच्छयैव पुष्प्यन्ति फलन्ति च , एवं जंगमा अपि सेवोपयोगिनो देहा भगवदिच्छयैव अवयवादिसम्पत्तिं लभन्ते।

फलं वा ह्यधिकारो वा इस पंक्ति का अर्थ आपश्री ने अपनी टीका में **सायुज्यं** इत्यादि पदों से किया है। मूलग्रंथ के **फलं वा** इत्यादि शब्दों का अर्थ समझें। "परब्रह्म को जान लेने वाला जीव ब्रह्म के संग समस्त अलौकिकभोग करता है (तै०उ० २-१)" इत्यादि श्रुति में सायुज्य को फल बताया गया है अतः यहाँ जो आचार्यचरणों ने फल कहा है, उसका अर्थ पुरुषोत्तम से सायुज्य ही है। इस प्रकार से सेवा का दूसरा फल है सायुज्य। सेवा का तृतीयफल आपश्री ने **अधिकार** बताया है। इसी अधिकार के विषय में आपश्री ने टीका में **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु** लिखा है। यहाँ वैकुण्ठादिषु शब्द में प्रयुक्त आदि शब्द से वैकुण्ठ के अतिरिक्त श्रीमथुरा, वृंदावन इत्यादि का अर्थ लेना चाहिए अर्थात् इन सब स्थानों पर भी सेवा के अधिकारतया सेवा में उपयोगी देह प्राप्त हो सकती है। मूलग्रंथ में आगे आपश्री लिखते हैं - सेवोपयोगिदेह प्राप्त होने में काल हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जैसे लीलासृष्टि में रहने वाले आम्रवृक्ष काल द्वारा मुरझाते नहीं हैं, किंतु भगवद्-इच्छा से ही वे पुष्पित एवं फलित होते हैं ; ठीक वैसे ही चेतन होते हुए भी भगवान की ही इच्छा से उस सेवोपयोगिदेह में विशिष्ट अंग प्राप्त होते हैं जिससे भगवान का अनुभव किया जा सके।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्।

उद्वेग इति। श्लोकार्थमाहुः **सेवायामिति**। **उद्वेग** इति। **मनसोन्यपरता उद्वेगः**। कायस्यान्यपरता **प्रतिबन्धः**। **इन्द्रियाणामन्यपरता भोगः**। इदं त्रयं बाधकम्। तनुवित्तजसेवायां फलजननसामर्थ्यस्य भक्तिरहस्यभजनस्य बाधजनकं विसामग्रीहेतुः प्रतिबन्धकमिति **मूलार्थः** ॥ २॥

उद्वेग इत्यादि शब्दों का अर्थ आपश्री ने अपनी टीका में **सेवायां** इत्यादि शब्दों से किया है। मन का प्रभु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं लगना उद्वेग है। शरीर का प्रभुसेवा के अतिरिक्त कहीं और लगना प्रतिबन्ध है। इन्द्रियों का प्रभु से अतिरिक्त कहीं और लगना भोग है। सेवा में यह तीनों बाधक हैं। तात्पर्य यह कि, तनुवित्तजा सेवा करते समय फल को उत्पन्न करने में बाधा करने वाले को, भक्ति के मूलतत्व भगवद्भजन में बाधा उत्पन्न करने वाले को , प्रभुभजन में विपरीत सामग्री उत्पन्न करने वाले को प्रतिबन्ध कहा जाता है - यह मूलार्थ है॥ २॥

अकर्तव्यमित्यारभ्य विशते सदेत्यन्तस्यार्थमाहुर्विवरणे **त्रयाणामि**त्यारभ्य **विवेक** इत्यन्तेन। **त्रयाणामिति**। उद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगानामित्यर्थः। **साधनेति**। एतत्त्रयाणामेव बाधकत्वात्। **ननु** कथमेतत्त्रयस्यैव बाधकत्वं **न तु** पञ्चानामित्यतो व्यवस्थामाहुः **भोग** इत्यादिना। **लौकिक** इति। **अनिवेदितपदार्थानां समर्पणं विना विषयासक्त्योपभोगो लौकिको** भोगः। **अलौकिक** इति। निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरलौकिको भोगः। **तत्राद्य** इति। आद्यो लोककृतः साधारणः। **बुद्ध्या** इति। विभावनयेत्यर्थः।

अकर्तव्यं से लेकर **विशते सदा** इन श्लोकों का अर्थ आचार्यचरणों ने विवरण में **त्रयाणां** से लेकर **विवेक** तक के शब्दों से कहा है। **त्रयाणां** शब्द का अर्थ है - उद्वेग, साधारण प्रतिबन्ध एवं लौकिकभोग। ये तीनों ही बाधक हैं। किंतु प्रश्न यह होता है कि, पाँचों को (उद्वेग,साधारण-असाधारण प्रतिबन्ध,लौकिक-अलौकिक भोग) ही बाधक न कह कर आचार्यचरण केवल इन तीना

को ही बाधक क्यों बता रहे हैं ? इसकी व्यवस्था आपश्री **भोग** इत्यादि शब्दों से विवरण में बता रहे हैं। आपश्री बताते हैं - प्रभु को निवेदित न करके पदार्थों का विषयासक्ति रखते हुए उपभोग करना लौकिकभोग है। प्रभु को निवेदित किये जाने वाले पदार्थों का भगवद्भोग के लिये निवेदित हो जाने पर भगवान द्वारा दिये गए प्रसादरूप से अपना उपभोग करना अलौकिकभोग है। **तत्राद्य** शब्द का अर्थ है - पहला लोक द्वारा किया गया साधारण प्रतिबन्ध। इसे बुद्धिपूर्वक त्याग देना चाहिए, यह अर्थ है।

फलानां मध्ये इति। यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य सेवोपयोगिदेहरूपे प्रथमे फले प्रविशति सम्बद्धो भवतीत्यर्थः। एतद्भोगस्यैतत्फलसाधकत्वेन पूर्वं फलसम्बन्धः। तदुत्तरं च दासधर्मत्वेनैतत्करणादुत्तरं सम्बन्धः। इत्थञ्च पूर्वोत्तरमपि फले व्याप्तो भवतीति प्रोपसर्गार्थः। अयं मूले **सदेत्यव्ययार्थो** ज्ञेयः। **निःप्रत्यूहमिति** हेतुगर्भम्। यतोयमदृष्टादिकृतविघ्नाभावान्निःप्रत्यूहं सिध्यत्यतो महानित्यर्थः। यद्यपि पाठक्रमेण सेवोपियोगिदेहस्य तृतीयफलत्वम् , तथाप्यनुक्रमानुरोधात्तस्य प्राथम्यमेव सिध्यति। किञ्चैतस्याधिकारत्वेन निरूपणादपि तथा। **भगवत्कृतप्रतिबन्धश्चेदिति**। श्रवणकीर्तनादिना हरिश्चेद्धृदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति। तस्या अभ्यासे तस्यां भक्तिरहस्यभजनरूपं सामर्थ्यं सिध्यति। क्रियमाणेपि श्रवणकीर्तनादौ हरिश्चेन्न निविशेत तदाभ्यासो न भवति। तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगवत्कृतप्रतिबन्धः। तदा भगवत्कृतप्रतिबन्धे **अन्यसेवा महापुरुषादिसेवा व्यर्था** निःफलेत्यर्थः। अपिना भगवत्सेवापि तथेति ज्ञेयम्। क्रियमाणेपि श्रवणादौ चेन्न हरिनिवेशस्तदेत्यर्थः। पूर्वमेव ज्ञानादिमार्गप्रवृतौ तु नासुरत्वमिति बोध्यम्।

फलानां मध्ये इत्यादि शब्दों का अर्थ है - जिसको तीनों फल प्राप्त होने हैं, उसे इन तीनों में से सर्वप्रथम सेवोपयोगिदेह प्राप्त होती है और जिसमें अलौकिकभोग प्रविष्ट हो जाता है। अब चूँकि अलौकिकभोग प्राप्त होने पर ही सेवोपयोगिदेह मिलती है अतः अलौकिकभोग का सीधा संबंध प्रथमफल सेवोपयोगिदेह मिलने से पूर्व भी रहता है एवं इसके पश्चात् भी जीव तो दासधर्म से प्रभुप्रसादी का सेवन करता है अतः अलौकिकभोग प्रथमफल सेवोपयोगिदेह प्राप्त होने के बाद भी बना रहता है। अर्थात् अलौकिकभोग सेवोपयोगिदेह मिलने से पहले भी और फल मिलने के बाद भी बना रहता है- इसी बात को बताने के लिये आचार्यचरणों ने प्र उपसर्ग का प्रयोग करते हुए "**प्रविशति**" यों कहा है। इन समस्त बातों को मूल में **सदा** शब्द से कह दिया गया है। **निःप्रत्यूहं** शब्द के गर्भ में एक हेतु छुपा हुआ है। वह यह कि इस अलौकिकभोग में किसी दुर्भाग्य के द्वारा कोई भी विघ्न आने की संभावना नहीं है अतः यह निर्विघ्न सिद्ध होता है और इसीलिये यह महान है। यद्यपि पाठक्रम को देखें तो सेवोपयोगिदेह तीसरा फल है तथापि अनुक्रम से यह जीव को प्रथमफल के रूप में ही प्राप्त होता है। (अर्थात् जिसको ये तीन फल मिलने वाले होंगे, उसे सर्वप्रथम सेवोपयोगिदेह मिलेगी, फिर सायुज्य मिलेगा और फिर अलौकिक सामर्थ्य- इस प्रकार से मिलेंगे)। वैसे सेवोपयोगिदेह प्राप्त होने को अधिकाररूप भी कहा है अतः सबसे पहले अधिकार प्राप्त होगा और उसके बाद फल। अब **भगवत्कृतप्रतिबन्ध** की चर्चा करें। श्रवणकीर्तन आदि के द्वारा यदि भगवान जीव के हृदय में प्रवेश करते हैं, तब तो पूजा सदा निभ पाती है। भक्ति सिद्ध होने का रहस्य भजनानन्द है अतः पूजा(तनुवित्तजा) का अभ्यास होने पर भगवद्भजन की सामर्थ्य पूजा के द्वारा सिद्ध होती है। श्रवणकीर्तन करने पर भी यदि हरि हृदय में प्रवेश नहीं करते तो फिर जीव वारंवार श्रवणकीर्तन इत्यादि में प्रवृत्त नहीं होता। इस कारण शरीर का जब अन्यत्र विनियोग होने लगता है, तो उसे भगवत्कृतप्रतिबन्ध कहते हैं। तब भगवत्कृत प्रतिबन्ध होने पर अन्य महापुरुषों आदि की सेवा भी निष्फल हो जाती है, यह अर्थ है। **अपि** शब्द से ज्ञात होता है कि, तब भगवत्सेवा भी व्यर्थ हो जाती है। अर्थात् जब श्रवणकीर्तन करने पर भी हरि हृदय में प्रवेश नहीं करते, तब। यदि वह पहले से ही ज्ञानमार्ग इत्यादि में प्रवृत्त है तो उसे आसुर मत समझिये।

नन्वासुरत्वे श्रवणादौ प्रवृत्तिरेव कथमित्यत आहुः **जीव** इति। स जीव आसुरस्तस्यान्तःकरणं तु दैवमतः प्रवृत्तिरिति भावः। ननु तर्हि किमासुरेण कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः **तदा ज्ञानमार्गेणेति**। अन्तःकरणस्य दैवत्वे इत्यर्थः। अन्तःकरणस्यासुरत्वे तु संसारनिश्चयाच्छोकाभावं वक्ष्यन्तीति ज्ञेयम्। शोकाभावसाधककंसोपदिष्टज्ञानमार्गेणेत्यर्थः। **विवेक** इति। आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः द्वितीये त्वासुरज्ञानमार्गेण स्थेयमिति द्वयोः प्रतिबन्धयोर्विवेक इत्यर्थः। **भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक** इत्यन्तेनाकर्तव्यमित्यस्य विवरणं ज्ञेयम्। इत्थञ्चोक्तत्रयाणामेवात्र बाधकत्वम्। अलौकिकभोगस्य प्रथमे प्रवेशान्न बाधकत्वम्। भगवत्कृतप्रतिबन्धेपि सामर्थ्यानुत्पाद एव न तु जातस्य बाधोतस्तस्यापि न बाधकत्वम्। प्रतिबन्धकत्वं तु भवत्येव। प्रतिबन्धो विसामग्रीतद्धेतुः, प्रतिबन्धक इत्यत्र विसामग्री पदस्य सामग्रीबाधात्यन्ताभावोभयवाचकत्वादिति बोध्यम्।

परंतु प्रश्न यह है कि यदि वह आसुर है, तो उसकी श्रवण आदि में प्रवृत्ति ही कैसे हुई ? तो आपश्री **जीव** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। आपश्री कहते हैं – तब यह सोचें यह जीव तो आसुरी है परंतु अन्तःकरण दैवी है अतः उसकी श्रवणादि में प्रवृत्ति हुई। तब प्रश्न यह खड़ा होता है कि यदि अन्तःकरण आसुरी है, तो क्या किया जाय ? इसका उत्तर आपश्री **तदा ज्ञानमार्गेण** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, अन्तःकरण यदि दैवी हो तब ज्ञानमार्ग के रास्ते पर अग्रसर होना चहिए और अन्तःकरण ही यदि आसुरी हो, तब तो मन में यह निश्चय करें कि भगवान ने मेरे लिये संसार ही निश्चित कर रखा हैं और ऐसा सोचकर आपश्री ने मन के शोक को दूर करने की बात कही है। यहाँ ज्ञानमार्ग के रास्ते पर चलने का अर्थ यह है कि, जब कंस ने देवकी के पुत्रों को मार डाला और इसके बाद जब उसे जब उसे यह मालूम पड़ा कि उसे मारने वाला पुत्र तो कोई और है एवं मैंने व्यर्थ में ही देवकी के पुत्रों को मार डाला है ; तब वसुदेवजी के शोक को दूर करने के लिये उसने जिस प्रकार का ज्ञानोपदेश वसुदेवजी को किया था , उस प्रकार के ज्ञानमार्ग पर चल कर अपने शोक को दूर करना चाहिए –*****देखें श्री०भा० १०-४-१४ इत्यादि*****। पहले साधारण प्रतिबन्ध को बुद्धि-चातुर्य से त्याग देना चाहिए एवं दूसरे भगवान द्वारा किये गये असाधारण प्रतिबन्ध को ऊपर कहे कंस वाले आसुरज्ञानमार्ग का अनुसंधान रखते हुए त्याग दें – यों इन दोनों प्रतिबन्धों को समझकर इनका समाधान करना विवेक कहलाता है, यह अर्थ है। आचार्यचरणों के विवरण में **भगवत्कृतश्चेत्** से लेकर **विवेक** तक की पंक्तियों का विवरण मूलग्रंथ में कहे **अकर्तव्यं** इत्यादि शब्दों का विवरण है। उद्वेग-साधारणप्रतिबन्ध-लौकिकभोग ये तीनों ही बाधक हैं। अलौकिकभोग तो प्रथमफल सेवोपयोगिदेह की प्राप्ति करवाता है अतः वह बाधक नहीं है। भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होने पर केवल यह है कि, अलौकिक सामर्थ्य ही उत्पन्न नहीं होगी किंतु जो कुछ सामर्थ्य भगवान के प्रतिबन्ध करने से पहले ही प्राप्त हो चुकी है उसमें भगवान के प्रतिबन्ध करने के पश्चात् भी कोई बाधा नहीं आयेगी। प्रतिबन्ध तो खैर होता ही है। विपरीत सामग्री उत्पन्न होने का कारणभूत पदार्थ का नाम है – प्रतिबन्ध , विसामग्री पद का अर्थ है – सामग्री का उपलब्ध न होना अथवा सामग्री का अस्तित्व न होना।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ३॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा अपरम्।
(दो प्रकार के भोग में से एक अपरं भोग है अर्थात् हीन है)
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ४॥
(दूसरे प्रकार का भोग महान है)

मूले श्लोकद्वययोजना। **भगवतः** सर्वथा सेवायां सामर्थ्यं **अकर्तव्यं** चेत् तदा **गतिः** फलं **न हि** न भवतीत्यर्थः। ननु तदा तस्य किं साधनं शोकाभावायेत्यत आहुः यथा वेति। येनात्मतत्त्वनिर्धारो भवति तादृशो विवेकः आत्मानात्मविवेकः शोकाभावसाधनं मतमित्यर्थः। "तस्माद्भद्रे स्वतनयां मया व्यापादितानपि मानु शोचे"त्यत्र तस्य ज्ञानस्य शोकाभावहेतुत्वकथनान्मतमित्युक्तम्।

मूल के दो श्लोकों की योजना इस प्रकार से करें कि – जब भगवान अपनी सेवा में जीव को सर्वथा ही सामर्थ्य न देना चाहें, तब जीव की कोई गति नहीं रह जाती अर्थात् फिर उसे कोई फल प्राप्त नहीं होता। तो फिर वह जीव अपने शोक को दूर करने के लिये क्या साधन करे ? तो आचार्यचरण **यथा वा** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, तब उस जीव को जिस प्रकार से अपने आत्मतत्व का निर्धारण हो जाय, वैसे विवेक से रहना चाहिये। तात्पर्य यह कि आत्मा एवं अनात्मा का विवेक शोक दूर करने का साधन माना गया है ; जैसे कि कंस ने "हे बहन ! यद्यपि मैंने तुम्हारे पुत्रों को मार डाला है तथापि तुम शोक मत करो क्योंकि सभी प्राणियों को अपने कर्मों का फल तो भोगना पड़ता है(१०-४-२१)" इत्यादि वाक्यों से देवकी को इस प्रकार का ज्ञान उसके शोक को दूर करने के लिये कहा था अतः आचार्यचरण यहाँ इस बात को ध्यान में रखते हुए मतं(माना गया है) कह रहे हैं।

भोगेप्येकमिति। जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। **अपरमिति**। न परमपरम् , हीनम् , बाधकत्वात्त्याज्यमित्यर्थः। ननु कथं न द्वितीयो बाधकस्तत्राहुः **निःप्रत्यूहमिति**। निर्विघ्नम्। हेतुगर्भमिदं। यतो निर्विघ्नं यथा भवति तथा सिध्यति, अदृष्टादेर्बाधकत्वाभावात्।

अतो महान्। एतादृशो भोगः प्रथमे फले सेवोपयोगिदेहे सदा विशते, पूर्वमुत्तरं च सम्बद्धं भवतीत्यर्थः। पाठक्रमं दृष्ट्वा अलौकिकसामर्थ्ये प्राथम्यं मन्वानस्य भ्रमनिरासाय टीकायां फलानां मध्य इत्युक्तम्। यस्य फलत्रयमपि भवति तस्य यत्प्रथमं फलं सेवोपयोगिदेह इत्यर्थः॥ ३ ,४॥

अब हम **भोगेप्येकं** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। हालांकि भोग शब्द में दो प्रकार के भोग की बात कही गयी है तथापि जाति-अभिप्राय में एकवचन का ही प्रयोग होता है अतः भोग शब्द में एकवचन का प्रयोग है। इसी भोग शब्द के लिये प्रयुक्त हुए **अपरं** शब्द का अर्थ है - जो परम न हो अर्थात् जो हीन हो , उसे अपरं कहते हैं ; यह बाधक होने के कारण त्याज्य है। परंतु दूसरा भोग बाधक क्यों नहीं ? तो आपश्री कहते हैं - वह **निःप्रत्यूह** है अर्थात् निर्विघ्न है। इसके गर्भ में भी एक हेतु छुपा हुआ है। वह यह कि - कारण कि यह निर्विघ्न है अतः सिद्ध/प्राप्त हो जाता है और इसमें भाग्य आदि बाधा नहीं कर सकते सो महान भी है। ऐसा अलौकिकभोग प्रथमफल सेवोपयोगिदेह में प्रवेश करता है अर्थात् अलौकिकभोग तो सेवोपयोगिदेह मिलने से पूर्व और पश्चात् दोनों समय बना रहता है। कोई मूलग्रंथ को पढ़कर कहीं अलौकिकसामर्थ्य को पहला फल न मान ले अतः उसके भ्रम को दूर करने के लिये आपश्री ने अपनी टीका में "अलौकिकभोग सेवा में कहे तीनो फलों में से प्रथमफल में प्रवेश करता है" यह कहा है। तात्पर्य यह है कि, जिस जीव को ये तीन फल प्राप्त होते हैं ,उसे जो प्रथमफल मिलेगा वह सेवोपयोगिदेह की प्राप्ति है, यह अर्थ है॥ ३॥ ४॥

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

सविघ्न इत्यत्र टीकायां **सविघ्नत्वादिति**। अत्रापि सविघ्नपदं हेतुगर्भम्। तथाचायमर्थः। घातको लौकिकभोगः, यतः सविघ्नः, अतोल्पः स्यादिति हेतोस्त्याज्य इति। **एताविति**। साधारणभगवत्कृतौ बलाद्धेतोः सदा प्रतिबन्धकौ मतौ। मनस इन्द्रियाणां चान्यपरतारूपावुद्वेगभोगौ सामर्थ्यबाधकौ। नन्वन्यपरतारूपाविमौ तु कारणस्यैव बाधकौ। तनुजसेवैवानभ्यस्ता भवत्यतो बलिष्ठत्वात् प्रतिबन्धकानामकावेव जातावित्यर्थः। **ज्ञानस्थित्यभाव इति**। पूर्वोक्तासुरज्ञाने स्थित्यभावे। **द्वितीय इतीति**। द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे जाते। मूले **संसारनिश्चयादिति**। अत्र संसारपदं देहादिपरम् , तथा च "विरोचनोक्तदेह एव महय्य" इत्यादिरूपनिश्चयादित्यर्थः॥ ५॥

मूलग्रंथ में कहे **सविघ्न** इत्यादि शब्दों का विवरण आचार्यचरणों ने अपनी टीका में **सविघ्नत्वाद्** इत्यादि शब्दों से किया है। यहाँ भी सविघ्न पद के गर्भ में एक हेतु छुपा हुआ है। इसका अर्थ यह है कि, लौकिकभोग घातक है क्योंकि वह विघ्नसहित है, इसीलिये उसका भोग अधिक देर तक नहीं टिकता और इसीलिये त्याज्य है। एतौ शब्द का अर्थ है - साधारणप्रतिबन्ध एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध ; ये दोनों बड़े बलशाली हैं अतः प्रतिबन्धक हैं। मन का एवं इन्द्रियों का प्रभु से अतिरिक्त अन्य कहीं जुड़ना , जिसे हम उद्वेग एवं भोग कहते हैं ; अलौकिकसामर्थ्य प्राप्त होने में ये दोनों के दोनों बाधक हैं। उद्वेग एवं भोग देह-इंद्रियों को प्रभु के अतिरिक्त कहीं और लगा देते हैं अतः जिन देह-इंद्रियों से भगवत्सेवा होनी है उन्हीं **मूलकारणों** के ही बाधक बन जाते हैं। तब तो **तनुजासेवा** ही नहीं बन पायेगी अतः ये बड़े बलिष्ठ बाधक सिद्ध होते हैं। आपश्री के विवरण में कहे **ज्ञानस्थित्यभावे** शब्दों का अर्थ है - पूर्व में जो कंस द्वारा दिये गये ज्ञानोपदेश की बात कही थी, यदि उस प्रकार से अपने शोक को दूर करना संभव न होता हो तो इसे **द्वितीय** अर्थात् दूसरा भगवत्कृतप्रतिबन्ध समझना चाहिए। मूल में कहे संसारनिश्चयात् शब्द में कहे संसार पद का अर्थ देह है। यह अर्थ "विरोचनोक्तदेह एव (   )" इस वाक्य में कहा गया है॥ ५॥

ननु सेवोपयोगिदेहस्य कथमधिकारत्वम् , अधिकारत्वे वा कथं फलत्वमित्यत आहुः **नन्वाद्य** इति।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।
अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥

नन्विति कोमलामन्त्रणे। आद्ये सेवोपयोगिदेहेरूपफले सति या भवति फलद्वयदातृता सा सेवोपयोगिदेहरूपाद्यफलाभावे नास्तीत्याद्यफलस्याधिकाररूपतेत्यर्थः। तथा च यस्याद्यफलमेव फलं तं प्रत्याद्यस्य फलत्वमेव। यस्य च पुनरग्रेपि सायुज्यादिफलं तं प्रति आद्यफलस्याधिकारत्वमेवेति भावः। एतेन फलत्रये तारतम्यमपि सूचितमिति बोध्यम्। टीकायां तदा सेवेति। आद्यफलाभावेत्यर्थः।

मूले **तृतीय** इति। लौकिकभोगरूपप्रतिबन्धके सति बाधकं गृहं सेवाप्रतिबन्धकं लौकिकभोगसञ्ज्ञकं भार्यादि त्याज्यमिति शेषः। **अवश्येयमिति**। **इयं** प्रतिबन्धकत्रयी फलत्रयी च सदा निरन्तरं भाव्या विभावनीया। भावनया प्रतिबन्धककृतप्रतिबन्धनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः। **सर्वमिति**। ज्ञानादीनां साधनत्वं तत्साध्यमोक्षस्यैव फलत्वमिति **मनोभ्रममात्रम्**॥ ६॥

अब प्रश्न यह है होता कि सेवोपयोगिदेह को आचार्यचरण अधिकाररूप क्यों कह रहे हैं ? और यह अधिकाररूप है तो फिर इसे फल कैसे कहा जा सकेगा ? इसका समाधान आपश्री के **नन्वाद्य** इत्यादि शब्दों से समझें।

इसमें **ननु** शब्द कोमल आमंत्रण के अर्थ में है। इसका तात्पर्य यह है कि मानों जैसे आचार्यचरण किसी सेवक को बडे प्यार से अपनी बात समझा रहे हों। वे उसे समझाते हुए कहते हैं - **आद्य** अर्थात् सेवोपयोगिदेहरूप फल प्राप्त होने पर जो फलदान मिलना है, वह फलदान सेवोपयोगिदेहरूप आद्यफल के प्राप्त न होने से मिलेगा ही नहीं अतः आद्यफल को अधिकाररूप कहा जा रहा है। और जिसको केवल एक आद्यफल ही मिला उसके लिये तो यह फल ही है न ! और जिसे आगे इसके पश्चात् सायुज्य आदि फल भी मिले, उसके लिये आद्यफल अधिकाररूप हो गया - यह भाव है। इस विवेचन से यह समझ लीजिए कि सेवा के इन तीन फलों में कब इन्हें अधिकाररूप कहा जायेगा और कब फलरूप। आपश्री की टीका में **तदा सेवा** इत्यादि शब्दों का अर्थ है - जब आद्यफल नहीं मिलता, तब सेवा व्यर्थ हो जाती है। मूल में कहे **तृतीय** शब्द का अर्थ है - लौकिकभोगरूप प्रतिबन्धक जब आ पड़े, तब सेवा में प्रतिबंध पैदा करने वाले एवं लौकिककभोग में आसक्ति करानेवाले घर का और पत्नी का त्याग करना चाहिए।

अवश्येयं इत्यादि शब्दों से आपश्री कहना चाह रहे हैं कि - इन तीन प्रतिबन्धों एवं इन तीन फलों की सदा भावना करें, इनका निरंतर अनुसंधान रखें। भावना करने से ऊपर कहे प्रतिबन्धकों द्वारा उत्पन्न किये गये प्रतिबन्ध दूर हो जायेंगे- यह भाव है। सर्वं इत्यादि शब्दों का अर्थ है -ऐसा सब सोचना अपने मन का भ्रम मात्र है कि ज्ञान आदि साधन हैं एवं उससे प्राप्त होने वाला मोक्ष ही फल है॥ ६॥

ननु "तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे" इत्यनेनात्मनिवेदिनां प्रतिबन्धकभयाभावात् किं निवर्तनेनेत्यत आहुः **तदीयैरपीति**।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।
गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तत्रयीद्वयविभावनेन प्रतिबन्धनिवर्तनं कार्यमेव। तत्र हेतुमाहुः **पुष्टाविति**। तथा सति पुष्टौ मर्यादांशत्यागे भगवान् **विलम्बं न** कुर्यादित्यर्थः। अन्यथा तु यद्यपि निवेदनपदार्थो न नश्यति तथाप्यलौकिकदेहप्राप्तौ विलम्बो भवत्येवेति। ननु गुणैश्चित्तक्षोभे भावनाया असम्भवात् कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुः **गुणक्षोभेपीति**। सोप्येतेनैव निवर्तिष्यत इति भावः। ननु गुणक्षोभनिवृत्त्यर्थं हंसावतारेण एकादशस्कंधे प्रकारान्तरमुक्तमित्यत आहुः **इति मे मतिरिति**। मन्मतिसिद्धोयं प्रकारः। तथाच मर्यादापुष्टिभेदेन व्यवस्थेति भावो द्रष्टव्यः॥ ७॥

किंतु प्रश्न यह होता है कि, "पुरुषोत्तम को निवेदन कर देने पर चिन्ता त्याग दें(नव०-५)" इस वाक्यानुसार आत्मनिवेदियों को प्रतिबन्धों का तो कोई भय ही नहीं है, फिर यहाँ प्रतिबन्धकों को दूर करने की बात क्यों कही जा रही है ? तो आचार्यचरण इसका उत्तर अग्रिम कारिका से दे रहे हैं।

आपश्री कहते हैं- नहीं, भगवदीयों को भी इन तीन फल एवं तीन प्रकार के प्रतिबन्धों का विचार करके प्रतिबन्धों को दूर करने का प्रयास करना ही है। इसका कारण आपश्री **पुष्टौ** शब्द से दे रहे हैं। आपश्री कहते हैं कि पुष्टिमार्ग में तो मर्यादा अंश का त्याग करके भगवान विलम्ब नहीं करेंगे। वर्ना तो भले ही जीव द्वारा किया गया निवेदन नष्ट नहीं होता, फिर भी निवेदन के पश्चात् अलौकिकदेह प्राप्त होने में तो विलम्ब होता ही है। किंतु प्रश्न यह है कि यदि प्राकृतगुणों के द्वारा चित्त में क्षोभ हो जाय तो प्रतिबन्धों का चिंतन होगा ही कैसे ? और यदि न हुआ तो प्रतिबन्धों की निवृत्ति भी कैसे संभव बन पायेगी ? तो इसका उत्तर आपश्री **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री कहते हैं कि गुणक्षोभ भी इन प्रतिबन्धों की भावना करते करते ही निवृत्त होगा। किंतु शंका यह होती है कि, गुणक्षोभ की निवृत्ति तो एकादश स्कंध में भगवान ने हंसावतार के माध्यम से कही है, फिर यहाँ आचार्यचरणों न

दूसरे प्रकार से क्यों कही ? तो आचार्यचरण इति मे मति इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि,-"इस प्रकार से मेरा मानना है और वहाँ मर्यादा का प्रकार कहा गया है एवं यहाँ मैं पुष्टि के प्रकार से कह रहा हूँ" ॥ ७॥

ननु स प्रकारो भगवदुक्तः, अयं च पौरुष इति कथं तुल्यबलत्वमित्यत आहुः **कुसृष्टिरिति**।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

वाशब्दोनादरे। ममापि वाक्पतित्वादत्र मद्वाक्ये पूर्वोक्ता अन्या वा काचित् कुसृष्टिः किमुत्पद्येत ? नोत्पद्येतेत्यर्थः। यदि चेदुत्पद्येत तदा तस्य तादृशं ज्ञानं भ्रम एव। तद्बोधनार्थं नास्मत्प्रवृत्तिः, किन्तु "सात्विका भगवद्भक्ता" इत्युक्तानां तादृशामेव बोधनार्थमेवास्मत्प्रवृत्तिरिति भावः॥ ७॥

इतिश्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतसेवाफलविवृतिः समाप्ता।

किंतु पूर्वपक्षी को प्रश्न यह होता है कि, एकादशस्कंध में कहा प्रकार तो भगवान ने कहा है और इस ग्रंथ में कहा गया प्रकार तो मानवीय है, सो इन दोनों की समानता करनी कैसे संभव है ? तो आपश्री इसका उत्तर **कुसृष्टिः** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

वा शब्द यहाँ अनादर अर्थ में है। आपश्री कहते हैं - 'मैं भी वाक्पति हूँ अतः मेरे कहे में आप शंका या अन्य कोई संदेहरूपी कुसृष्टि क्यों कर रहे हो ? यदि किसी को होती हो तो उसका ऐसा सोचना भ्रम ही है। परंतु ऐसों को समझाने के लिये मैंने यह विवरण नहीं लिखा है किंतु निबंध में जो मैंने "सात्विक भगवद्भक्त जो मुक्ति के अधिकारी हैं, जिनका इस भूतल पर अंतिम जन्म है, उनके लिये यह निबंध लिख रहा हूँ(शा०प्र०-२)" यह लिखा है, उसके अनुसार मैं यहाँ भी ऐसे ही जीवों के लिये लिख रहा हूँ' ॥ ७॥

यह श्रीविट्ठलेशात्मज श्रीवल्लभकृत सेवाफलविवृति समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः

सेवाफलम्।

श्रीपुरुषोत्तमकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशसमेतम्।

⁂

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणौ तत्कृपाबलात्
सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं वितनोत्ययम्॥ १॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः श्रुतिब्रह्मसूत्रगीताश्रीभागवततात्पर्यगोचरस्वसिद्धान्तस्य तनुवित्तजसेवात्मकस्य साधनस्य भगवत्प्रेमात्मकसेवासिद्धिपर्यन्तततां संक्षेपेण सिद्धान्तमुक्तावल्यां बोधसौकर्यार्थं निरूप्य सेवाफलग्रन्थे तथैव तत्फलं निरूपयितुं प्रतिजानते **यादृशीत्यादि**।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी यत्प्रकारिका **सेवना** सेवा, ण्यासश्रन्थो युजिति युजन्तत्वाद्धारणा विनिगमनेत्यादिवत्स्त्रीत्वम्, **प्रोक्ता** सिद्धान्तमुक्तावल्यां व्युत्पादिता, **तत्सिद्धौ** तस्यास्तत्रोक्तमानसीसेवासाधकतायां सत्यां फलं यत् प्राप्यत्वेन विवक्षितं तदुच्यत इत्यर्थः। अस्यग्रन्थस्य संक्षिप्तत्वेन दुरूहत्वात् स्वयमेव गृह्णन्तो व्याकुर्वन्ति **सेवायां फलत्रयमित्यादि**।

श्रीमदाचार्यचरणकमलों को प्रणाम कर उनके कृपाबल से,
सेवाफलोक्ति की विवृति पर मैं विवृति कर रहा हूँ॥ १॥

अब श्रीमदाचार्यचरण श्रुतिब्रह्मसूत्रगीताश्रीभागवत के तात्पर्य को बताने वाले उनके तनुवित्तजात्मक सेवारूपी साधन के सिद्धांत द्वारा भगवान में प्रेम हो जाने तक की सिद्धि को सरलता से समझाने के लिये सिद्धांतमुक्तावली में संक्षेप में निरूपित करके, अब इस सेवाफलग्रंथ में उसी प्रकार संक्षेप में सेवा का फल निरूपित करने की प्रतिज्ञा **यादृशी** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। (अर्थात् आचार्यचरणों ने श्रुतिब्रह्मसूत्र इत्यादि शास्त्रों में से यह तात्पर्य निकाला है कि भगवान की प्राप्ति का साधन तनुवित्तजा सेवा है, जिन साधनों से भगवान में प्रेम हो जाने तक की सिद्धि प्राप्त होती है और जिसके बारे में आपश्री ने सिद्धांतमुक्तावली में संक्षेप में बताया है। अब इस ग्रंथ में आपश्री उस सेवा का फल बता रहे हैं।)

यादृशी अर्थात् "जैसे प्रकार की"। **सेवना** का अर्थ है – सेवा। ण्यन्त, आस एवं श्रन्थ धातु से युच् प्रत्यय होता है अतः सेवा शब्द में युच् प्रत्यय है, जिससे सेवना शब्द बना है। जैसे कि धारणा, विनिगमना इत्यादि शब्द बनते हैं। **प्रोक्ता** का अर्थ है – जिस प्रकार की सेवा सिद्धांतमुक्तावली में कही गयी है, उस प्रकार की सेवा। **तत्सिद्धौ** का अर्थ है – यह सेवा जब मानसीसेवा की साधक बन जाय, तब जो फल प्राप्त करना होता है , उस फल के विषय में आपश्री इस ग्रंथ में कह रहे हैं। यह ग्रंथ संक्षिप्त है अतः दुरूह बन गया है, इसलिये आचार्यचरणों ने स्वयं ही **सेवायां फलत्रयम्** इत्यादि शब्दों द्वारा इसकी विवृति की है।

अत्र सेवायामिति सत्यर्थया सप्तम्या साधनसाध्यरूपयोर्द्वयोरपि सेवयोः सत्ता विवक्षितेति बोध्यते। तेन साधनरूपाया आवर्तने तन्निर्वाहः, साध्यरूपायाश्च निरन्तरस्थैर्यं विवक्षितं भवतीति सूच्यते। **फलत्रयमित्यनेन** मूले यादृशीति सेवाविशेषणेन यत्तदोर्नित्यसम्बन्धस्मारणात् फलेपि तादृशमिति प्रकारबोधकं विशेषणं स्मार्यते। तथा च तत्रोत्तममध्यमजघन्यभेदेन बाह्यमानस्योस्त्रैविध्यस्य सिद्धत्वादत्रापि फलत्रयमुच्यत इत्यर्थः।

यहाँ **सेवायां** शब्द में सति-सप्तमी है जिससे आचार्यचरणों को यह कहना है कि, सेवा साधन भी है एवं साध्य भी है। (अर्थात् पुष्टिमार्ग में जिस फल को प्राप्त करना है, उसके लिये सेवा ही साधन है और जब फल प्राप्त होगा तो सेवा करते करते सेवा में ही प्राप्त होने वाला है अतः जब फल प्राप्त हो जाय, तब वह सेवा साध्य भी बन गयी, यह अर्थ है)। **तात्पर्य यह कि सेवा करत**

रहना साधन है एवं तत्पश्चात् जो फल होगा, वह भी सेवात्मक ही होगा अतः सेवा तो निरंतर चलती रहती है- यह आपश्री का **सेवायां** शब्द में सति-सप्तमी प्रयोग करने का आशय है। आपश्री ने मूलश्लोक में कहे "जैसी सेवा(यादृशी सेवना)पद के लिये अपने विवरण में "सेवा में तीन फल होते हैं" यों लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि , जैसी सेवा होगी, वैसा फल होगा। इसका अर्थ यह है कि, उत्तम-मध्यम-जघन्य यों तीन प्रकार के अधिकारिभेद से तनुवित्तजा-मानसी सेवा भी उत्तम-मध्यम-जघन्य यों तीन प्रकार की सिद्ध हुई और तदनुसार फल भी तीन प्रकार के सिद्ध हुए। (अर्थात् तनुवित्तजा सेवा भी अधिकारी के अनुसार उत्तम-मध्यम एवं जघन्य यों तीन प्रकार की एवं मानसी सेवा भी उत्तम-मध्यम एवं जघन्य यों तीन प्रकार की सिद्ध हुई- यह टीकाकार का आशय है)।

तर्हिं किं तत्फलत्रयमित्यपेक्षायां टीकायां तत्स्वरूपं विभजन्ते **अलौकिकसामर्थ्यमित्यादि**। तत्रालौकिकसामर्थ्यं नाम परप्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपानुभवे "प्रदीपवदावेश" इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभवः। श्रीदेवकीनन्दना अप्येवमाहुः। श्रीहरिरायास्तु भगवद्विरहानुभवसामर्थ्यमित्याहुः। श्रीकल्याणरायास्तु भगवता सह गानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेत्याहुः। चचागोपीशास्त्वलौकिकभजनानन्दानुभवे स्वरूपयोग्यतेत्याहुः। एतत्सर्वं भगवतो नानाविधप्रवेशहेतुकत्वाद्भगवदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादुपपन्नम्।

और वे तीन फल क्या हैं, यह आपश्री अपनी टीका में उनका स्वरूप **अलौकिकसामर्थ्यं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इनमें अलौकिक सामर्थ्य का अर्थ श्रुति में जिस प्रकार से परमात्मा की प्राप्ति का विवरण दिया गया है, उस प्रकार से भगवत्स्वरूप का अनुभव करना है। जैसा कि ब्रह्मसूत्र में "जैसे अनेक दीपकों में एक ही अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही मुक्तात्मा समस्त शरीरों में प्रविष्ट होकर दिव्यभोगों का उपभोग करता है(ब्रह्म ४-४-१५)" इस सूत्र में बताया गया है कि, शरीर में भगवान का आवेश हो जाने के पश्चात् वह योग्यता आ जाती है, जिससे रसात्मक भगवान के पूर्णस्वरूपानन्द का अनुभव किया जा सकता है। श्रीदेवकीनन्दन भी यही कह रहे हैं। श्रीहरिरायजी तो अलौकिकसामर्थ्य का अर्थ भगवान का विरह अनुभव करने की सामर्थ्य बताते हैं। श्रीकल्याणरायजी अलौकिकसामर्थ्य का अर्थ भगवान के संग गान इत्यादि करने की सामर्थ्य बताते हैं, जैसे कि रासस्थ गोपिकाओं ने किया। चाचागोपीशजी तो इसका तात्पर्य अलौकिकभजनानन्द का अनुभव करने की स्वरूपयोग्यता बताते हैं। इन सभी का कहना भी ठीक ही है क्योंकि जैसा कि मैंने कहा, वैसे भगवान अनेक प्रकार से जीव के शरीर में प्रवेश करते हैं एवं भगवान कब-कैसे प्रवेश करेंगे ऐसी उनकी इच्छा भी जाननी अशक्य है।

सायुज्यं "भक्त्या मामभिजानाती"त्युक्तो भगवत्स्वरूपे लयः। चचा अप्येवम् , श्रीदेवकीनन्दनाश्च। श्रीहरिरायास्तु सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं संयोगानुभवसामर्थ्यमित्याहुः। श्रीकल्याणरायास्तु गोपानामिवेति विशेषमाहुः। **सेवोपयोगिदेहो**क्षरात्मको देहेन्द्रियासुहीनः पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेषः। तदेतत् फलत्रयं त्रिविधसेवायां यथायथं बोध्यमित्यर्थः।

सायुज्य का अर्थ "भक्तियोग द्वारा तत्व से जानकर भक्त मुझमें प्रवेश करता है(भ०गी० १८-५५)" इस वाक्यानुसार जीव का भगवत्स्वरूप में लय हो जाना है। चाचागोपीशजी भी यही कह रहे हैं और देवकीनन्दनजी भी। श्रीहरिरायजी तो "साथ में जुडने का नाम है- सयुक् ; साथ में जुड़ने का भाव है - सायुज्यं अर्थात् भगवान के संयोग अनुभव करना" यों कह रहे हैं। श्रीकल्याणरायजी तो गोपबालकों की भाँति प्रभु के संग विशेषरूप से संग में रहने को सायुज्य बताते हैं। **सेवोपयोगिदेह** का अर्थ है - प्राकृत देहइंद्रियप्राण इत्यादि से रहित प्रभुलीला की आवश्यकता के अनुसार जीव को पुरुष-स्त्री-पशु-पक्षी इत्यादि किसी भी आकृति में परिवर्तित कर देने वाला एक अक्षरात्मक संस्थानविशेष। (संस्थान उस मूल स्थल को कहा जाता है , जहाँ से कई वस्तुओं का उद्गम होता हो। जैसा कि वेदान्त में बताया गया है कि अक्षरब्रह्म से समस्त जीवात्माओं का उद्गम होता है अतः यहाँ अक्षरब्रह्म संस्थान है।)। अतः कुलमिला कर अर्थ यह हुआ कि, तीन प्रकार की सेवा में तीन प्रकार के फल यथायोग्य जान लेने चाहिए।

ननु "यथाक्रतु"रिति श्रुतौ तत्क्रतुन्यायस्योक्तत्वात् संन्यासनिर्णये "भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवे"दित्याचार्यैरपि तदंगीकारान्न्यायत एवात्रापि तादृशफलप्राप्तिसिद्धेर्विशेषतस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां तत्र हेतुं वदन्ति मूले **अलौकिकस्य दाने** हीत्यादिपादत्रयेण।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

फलं वा ह्यधिकारो वा,

अब शंका यह होती है कि, "जैसा यज्ञ करेंगे, फल भी वैसा प्राप्त होगा" इस श्रुति के अनुसार एवं संन्यासनिर्णय में भी आचार्यचरण द्वारा "जैसी भावना वैसा फल(१०)" ये स्वीकारा गया होने से यहाँ भी तो यही बात लागू हो रही है कि, जैसा अधिकारी होगा, उसे वैसा फल अपने आप मिल जायेगा। फिर उस बात को आचार्यचरण "ऐसी सेवा का ऐसा फल होगा, वैसी सेवा का वैसा फल होगा" इत्यादि कहकर विशेषरूप से क्यों बता रहे हैं ? तो इसका कारण आपश्री अग्रिमश्लोक में **अलौकिकस्य दाने हि** इत्यादि तीन चरणों द्वारा कह रहे हैं। आचार्यचरण यहाँ यह बताना चाह रहे हैं कि, ये आवश्यक नहीं है कि जीव जैसी भक्ति करे उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा क्योंकि अलौकिकसामर्थ्य की प्राप्ति तो तब होती है, जब भगवान कृपा करके दान करें अतः ऊपर कही तत्क्रतुन्याय एवं संन्यासनिर्णय वाली बात यहाँ लागू नहीं पड़ेगी।

अत्र हिर्हेतौ। **चो**वधारणे। यतो हेतो**रलौकिकस्य** सम्पाद्याविर्भावाधिकरणोक्तरीतिकस्याक्षरात्मकविग्रहस्य **दान** एव **आद्य** आदौ भव उत्तमफलविषये विद्यमानो **मनोरथः** निश्चयशब्दोक्तकामचारात्मकः सिध्येत्। अदाने तु **फलं वा हि** निश्चयेन **अधिकारो वा** सिध्येदित्यनुषज्यते। तथा च "लोकवत्तु लीला कैवल्य"मिति न्यायेन भगवता अलौकिकस्य सम्पाद्याविर्भावसूत्रोक्तदेहस्य दाने एव तत्सम्बन्धिफललाभान्न तत्क्रतुन्यायमात्रेण पूर्वस्य सिद्धिरित्यतस्तन्निरूपणमित्यर्थः। **वा**द्वयमनादरे। तेन तत्क्रतुन्यायेन कदाचित् तद्द्वयं भवतीति बोधितम्।

हि शब्द का अर्थ है - चूँकि। **च** शब्द का अर्थ है - निश्चय। अब कारिका का अर्थ यह हुआ कि - चूँकि अलौकिकसामर्थ्य की प्राप्ति भगवान के दान पर निर्भर करती है अतः यह निश्चय कर लो कि, जब प्रभु दान करेंगे तब ही ऐसा मनोरथ सिद्ध होगा। चूँकि "जीव जब परमधाम को प्राप्त होता है, तो भगवान उसे अक्षरात्मक बना देते हैं(ब्रह्म० ४-४-१)" इत्यादि श्रुति में भगवान द्वारा अक्षरात्मक शरीर का दान देने की बात बतायी गयी है अतः ऐसा दान होने पर ही उत्तमफल के लिये किया जाने वाला पहला मनोरथ सिद्ध होता है। अर्थात् भक्त का मनचाहा वह मनोरथ सिद्ध होता है, जिसकी निश्चितता आचार्यचरणों ने यहाँ **च** शब्द से कही है। और यदि भगवान ऐसा दान नहीं करते तो फिर निश्चित ही आगे कहे "फलं(सायुज्य)" एवं "अधिकार(सेवोपयोगिदेह का अधिकार)" ये दो ही फल सिद्ध होते हैं। ऐसा इसलिये क्योंकि, "परमेश्वर के कार्य तो लीलामात्र है(ब्रह्म० २-१-३३)" इस कथनानुसार जैसा कि ऊपर के ब्रह्मसूत्र में बताया गया, भगवान द्वारा अलौकिक का दान होने पर ही उससे संबंधित फल प्राप्त होंगे , केवल तत्क्रतुन्याय के अनुसार जैसी भक्ति करेंगे वैसा फल नहीं। इसी कारण आचार्यचरणों ने यहाँ **हि** एवं **च** का प्रयोग करके ये बात समझायी है। **वा** शब्द अनादर अर्थ में है अर्थात् यदि भगवान अलौकिकसामर्थ्य का दान नहीं करते तो फिर उससे उतरती कक्षा के दो फल (फल एवं अधिकार) तो तत्क्रतुन्याय में कही बात के अनुसार कदाचित् प्राप्त हो भी जाएँ।

नन्वधिकारस्य कार्यान्तरयोग्यतारूपत्वात् तस्य च साधनदशायामपि सत्त्वात् कथं फलत्वमित्यत आहुः।

न कालोत्रनियामकः॥ १॥ इति।

अत्रेत्यधिकारे। तथा च कालनियम्यत्वाभावेनानावृत्त्या नित्यत्वादस्यापि फलत्वं निःप्रत्यूहमित्यर्थः। एतत्त्रये एकं दानहेतुकमन्यद्द्वयमपि भगवदनुग्रहैकहेतुकम्। मर्यादामार्गे निर्गुणाक्षरविद्यया तादृशतत्प्राप्तेः सगुणया सन्मनोमयदहरादिविद्यया च "जक्षन् क्रीडन् रममाण"इत्यादिनोक्तैश्वर्यपर्यन्तप्राप्तेरेव श्रावणात् ततोधिकस्य सेवोपयोगिदेहादेस्तत्र केवलया भक्तिरहितमर्यादया वक्तुमशक्यत्वात्। तया तदुपगमे "यमेवैष" इत्यादिश्रुते"र्भक्त्याहमेकया ग्राह्य" इत्यादिस्मृतेश्च विरोधस्य दुष्परिहरत्वाच्च। अतस्तत्त्रयमत्रोच्यत इति भावः।

अब यहाँ शंका यह होती है कि, अधिकार का अर्थ होता है - किसी कार्य की योग्यता आना। और अधिकार तो साधनदशा में भी विद्यमान रहता है, फिर आचार्यचरण अधिकार को फल क्यों कह रहे है ? इसके समाधान में यह समझिये कि उपर्युक्त वाक्य में **अत्र** शब्द का अर्थ है - "यहाँ अधिकार में" ; तात्पर्य यह कि इस अधिकार में काल बाधारूप नहीं बन सकता एवं यह सदा नित्य बना रहता है अतः इसे फल कह दें तो कोई आपति नहीं है। इन तीनों में (मनोरथ, फल, अधिकार में) एक प्रभु के दान पर निर्भर है एवं बाकी दो भगवान के अनुग्रह पर। क्योंकि मर्यादामार्ग में बताये गये निर्गुण अक्षरब्रह्म को प्राप्त करने वाले ढंग से निर्गुण

अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होगी और सगुण अक्षरब्रह्म की प्राप्ति बतानेवाली दहर-आदि विद्या द्वारा (देखें छान्दो० ८-१-१ जहाँ यह बताया *गया है कि परमात्मा सूक्ष्म अंतःकरणरूपी कमल में बिराजते हैं) सगुणब्रह्म की प्राप्ति होगी, जो "जक्षन् क्रीडन् रममाण"* इत्यादि कथनानुसार केवल भगवान के ऐश्वर्य तक की प्राप्ति है। परंतु इससे कहीं अधिक भगवान की सेवा में उपयोगी देह मिलनी तो भक्ति के बिना केवल मर्यादा से नहीं प्राप्त हो सकती। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो "यह परमात्मा जिसका वरण करता है, उसी को प्राप्त होता है(कठो० १-२-२३)" एवं "मैं केवल भक्ति से प्राप्त होता हूँ(श्री०भा० ११-१४-२१)" इत्यादि वाक्यों से विरोध हो जायेगा जिसका समाधान करना कठिन होगा। अतः इन तीनों को यहाँ फल कहा जा रहा है।

अत्राद्यस्य दानेन सिद्धौ "रुद्रादीनां वचः श्रुत्वे"त्यादिकृष्णोपनिषन्मन्त्राबृहद्वामनीयकथा "संकल्पो विदितः साध्व्यः" इति कुमारिकाः प्रति भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेन बोध्यम्। द्वितीये च "नैकात्मतां म" इत्यारभ्य "गतिमण्वीं प्रयुंक्त" इत्यन्तं कपिलवाक्यम्। तृतीये च "को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चै"रिति जयविजयौ प्रति सनकादिवाक्यम् ज्ञेयम्। तयोः पातस्तु भगवदिच्छात एवेति तत्रैव निबन्धे प्रतिपादितमिति न कश्चित्सन्देहः॥ १॥

और जो यहाँ आद्यफल(मनोरथ) के दान की बात कही गयी है, उसे तो "रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा" इस कृष्णोपनिषद् के वाक्यान्तर्गत बृहद्वामनीयकथा में "संकल्पो विदितः" यह कुमारिकाओं के प्रति भगवद्वाक्य को प्रमाणरूप से जानना चाहिए। भगवान द्वितीय फल सायुज्य देते हैं भले ही भक्त ने कामना की हो या नहीं, इसमें "नैकात्मतां मे(भा० ३-२५-३४)" इस वाक्य से लेकर "गतिमण्वीं(भा० ३-२५-३६)" यहाँ तक के कपिलजी के वाक्य प्रमाण हैं। तृतीय फल सेवोपयोगिदेह मिलने में "जो लोग भगवान की महती सेवा के प्रभाव से यहाँ वैकुण्ठ में निवास करते हैं वे भगवान के समान ही होते हैं(भा ३-१५-३२)" यह वाक्य प्रमाण है , जो सनकादि ऋषियों ने जयविजय को कहा था। अब किसी को यह शंका हो कि, यदि जयविजय अलौकिक सेवोपयोगिदेह प्राप्त कर चुके हैं, तो फिर वे वापस भूतल पर क्यों गिरे ? तो इस शंका का समाधान आचार्यचरण निबंध में कर चुके हैं कि यह सभी कुछ भगवान की अपनी इच्छा से हुआ अतः इसमें कोई भी संदेह नहीं है॥ १॥

ननु भवत्वेवमनुग्रहत्रैविध्यात् फलत्रैविध्यम् , तथापि "नित्यं हरौ विदधत" इति वाक्ये कामक्रोधादीनामपि भगवति नित्यं विधाने तन्मयत्वस्योक्तत्वात् तन्मयत्वे च सायुज्यस्यैव युक्तत्वात् सिद्धांतमुक्तावल्याम""प्युभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती"त्यनेन मानस्या एव फलत्वेनोक्तत्वात् तयापि तन्मयतायाः सिद्धौ तस्यैव युक्तत्वात्कथं तदभावो येन तृतीयं फलमित्यत आहुः।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यादिति।

सेवायां क्रियमाणायामिति शेषः। किं तावतेत्याकांक्षायां तेषां स्वरूपं टीकायां विवृण्वन्ति **सेवायां प्रतिबन्ध** इत्यादि। प्रतिबन्धो नाम विसामग्री तज्जनकः प्रतिबन्धकः।

चलो मान लें कि, भगवान के तीन प्रकार के अनुग्रह द्वारा तीन प्रकार के फल प्राप्त होते हैं तथापि श्रीभागवत के "काम-क्रोध-भय-सौहार्द-स्नेह चाहे जो भी भाव भगवान में जुड़ जाय, उस जीव को भगवत्प्राप्ति हो जाती है(भा १०-२९-१५) " इस वाक्यानुसार तो काम-क्रोध इत्यादि भी भगवान में या भगवान के लिये किये जाएँ तो भगवान में तन्मयता हो जाती है और भगवान में तन्मय हो जाने पर ही सायुज्य फल मिलता है ; सिद्धांतमुक्तावली में भी "मर्यादामार्गीय एवं भक्तिमार्गीय दोनों को क्रम से ही मानसीसेवा प्राप्त होगी(१९)" इस वाक्य द्वारा यही कहा गया है कि चित्त की भगवान में प्रवणता होने से मानसी सिद्ध होती है और मानसी का तात्पर्य भगवान में तन्मयता हो जाना ही तो है ! अतः अब प्रश्न यह उठता है कि यदि काम-क्रोध जैसे कारणों से भी भगवान में बड़ी सरलता से तन्मयता(अर्थात् सायुज्य) हो जाती हो , तो फिर जीव को आखिरकार सायुज्य क्यों प्राप्त नहीं होता कि जिस कारण फिर भगवान उसे दूसरा फल सायुज्य न देकर तीसरा फल सेवोपयोगिदेह देते हैं ? तो इस शंका का समाधान आचार्यचरण अग्रिम कारिका से दे रहे हैं जिसमें आपश्री यह बता रहे हैं कि भगवत्सेवा में आनेवाले उद्वेग-प्रतिबन्ध आदि अटकाव आने के कारण सायुज्य सरलता से प्राप्त नहीं हो पाता।

सेवा करने में ये तीन प्रतिबन्ध होते हैं। ये प्रतिबन्ध क्या करेंगे, इसके बारे में इनका स्वरूप आपश्री अपनी टीका में **सेवायां प्रतिबन्ध इत्यादि** शब्दों से कह रहे हैं। **प्रतिबन्ध** का अर्थ होता है विपरीत सामग्री ; और जो विपरीत सामग्री पैदा करे उसे प्रतिबन्धक कहते हैं।

तदत्रोद्वेगादित्रयम्। **तत्रोद्वेगो** नाम उच्चैर्भयं चलनं वा। ओविजी भयचलनयोः। तदत्र सेवायां क्रियमाणायां दुष्टादिभ्यो मनसो भयं वा पापादिना बुद्धेश्चाञ्चल्यं वा। अत्र द्वितीयमदृष्टजन्यम्। एतदुभयमप्यान्तरमतो द्विविधोप्युद्वेगो बाह्यसेवाफलरूपाया *मानसीतत्समानाधिकरणविरुद्धसामग्रीरूपस्तत्प्रतिबन्धकः। प्रतिबन्धो नाम तल्लक्षीकृत्य वा तत्प्रतिकूलो वा निग्रहः। प्रतिर्लक्षणे प्रातिकूल्ये वा। बंध बन्धने।*

विपरीत सामग्री पैदा करने वाले ये उद्वेग आदि तीन हैं। "ओविजी भयचलनयोः" इस धातु-अर्थ के अनुसार **उद्वेग** का अर्थ है - अत्यधिक भय होना या मन का विचलित होना। और सेवा करने में किसी दुष्ट व्यक्ति से मन में भय अथवा पापाचरण से बुद्धि की चंचलता होनी उद्वेग है। उद्वेग का दूसरा कारण जो मन की चंचलता है , वह भाग्य के कारण होती है। ऊपर बताये गये दोनों प्रकार के उद्वेग अंतःकरणसंबंधी हैं (क्योंकि भय या बुद्धि की चंचलता अंतर में ही होगी) अतः दोनों ही प्रकार के उद्वेग बाह्यसेवा (तनुवित्तजा) का फल मानसी से विरुद्ध जाते होने के कारण मानसी सिद्ध होने में प्रतिबन्धक हैं (क्योंकी मानसी चित्त की एकाग्रता से होगी एवं उद्वेग चित्त को ही दूषित करेगा इसलिए)। भय एवं मानसी दोनों का अधिकरण अर्थात् रहने का स्थान समान ही है अर्थात् मन ही है। प्रतिबन्ध अर्थात् प्रति + बन्ध। प्रति का अर्थ है- किसी को लक्ष्य बना कर सामने से उसे रोकना या फिर पीछे से या अन्य किसी प्रकार से घुमा-फिरा कर उसे रोकना। बन्ध का अर्थ तो बाँधना है।

सोत्र सेवायां रुचौ सत्यामपि शरीरादिसामर्थ्ये सत्यपि सेवाकरणकाले लौकिकवैदिककायिकादिव्यापाररूपो बाह्यसेवासामानाधिकरण्यात्[१] तद्विरुद्धसामग्र्यात्मकतत्स्वरूपप्रतिबन्धकः कदाचित्कः। **भोगो** नाम सुखदुःखसाक्षात्कारोभ्यव्यवहाररूपः प्रसिद्धौ देहेन्द्रियोभयनिष्ठत्वादुभयविधसेवाविसामग्रीरूपो बलिष्ठः स्वभावतः प्राप्तः। तथा च तेषां सेवाविरुद्धकायिकवाचिक-मानसिकसामग्र्युत्पादकत्वेन मानस्या जड्डन्यत्वापादनात् तया तन्मयताया असिद्धौ सुखेन तृतीयस्य फलस्य सिद्धिरित्यर्थः।

और प्रतिबन्ध करेगा यह कि, सेवा में रुचि होने पर भी और शरीर आदि की सामर्थ्य होने पर भी सेवा करते समय लौकिक-वैदिक-कायिक इत्यादि कार्य करने जैसे कार्यों द्वारा तनुवित्तजा सेवा से विरुद्ध सामग्रियाँ उत्पन्न करा कर सेवा में रुकावट डालेगा क्योंकि शरीर से ही सेवा करनी है और शरीर से ही ये लौकिक-वैदिक कार्य भी करने पड़ेंगे। परंतु लौकिकवैदिक कार्य वाला प्रतिबन्ध कभी-कभार होता है। **भोग** का अर्थ है - सुख-दुःख से साक्षात्कार करना अथवा सुखदुःख भोगना। सुख दुःख देह-इंद्रिय दोनों में रहता है अतः तनुवित्तजा एवं मानसी दोनों प्रकार की सेवा से विपरीत सामग्री उत्पन्न करता होने से इसका स्वरूप ही बलिष्ठ है। अतः इस प्रकार उद्वेग-प्रतिबन्ध-भोग सेवा से विरुद्ध कायिक-वाचिक-मानसिक सामग्रियाँ उत्पन्न करते होने से मानसीसेवा को जड्डन्य बना देते हैं। अतः इस कारण जब भगवान में तन्मयता ही नहीं रहेगी, तो दूसरा फल सायुज्य न मिल कर तीसरा फल सेवोपयोगिदेह ही मिलेगी।

ननु भवत्वेवं तथापि यदत्र मुख्यं फलं तत्तु दानैकसाध्यमित्युक्तम्। दानं तु पूर्वं ज्ञातुमशक्यम्। तथा सति स्वतःपुरुषार्थत्वेन सेवाकरणे मम किं फलं भविष्यतीति सन्देहः कथं निवर्तेतेत्यत आहुः।

तु बाधकमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि यथा वा इति।

तुः शंकानिरासे। बाधकं पूर्वोक्तं त्रयमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेत् तदा हि निश्चयेन गतिर्न, प्राणानां देहादुत्क्रमणं न। मनसो वा भगवद्व्यतिरिक्ते गतिर्न, किन्तु "वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्चे"त्यधिकरणोक्तन्यायेन भगवत्येव लयः। "ता नाविद"न्नित्युक्तरीत्या भगवदेकतानत्वं हि निश्चयेन। एतेन मुख्यफलभवनविषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः।

चलो ठीक है, फिर भी प्रश्न यह होता है कि, यहाँ जो मुख्यफल बताया गया है वह तो केवल भगवान के दान द्वारा ही तो सिद्ध हो सकता है और भगवान दान देंगे ; यह पहले से ही जान लेना संभव नहीं होता। ऐसे में जीव को यह विचार आता है कि, सेवा को स्वतःपुरुषार्थ मान कर सेवा करें भी तथापि मुझे क्या फल प्राप्त होगा ? ऐसा संदेह होने पर इसका निवारण आचार्यचरण अग्रिम पंक्ति से कर रहे हैं। तुः शब्द इस अर्थ में शंका न रखने के लिये प्रयुक्त है। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, पूर्व में कहे तीन बाधकों को जब भगवान उत्पन्न नहीं करना चाहते, तब निश्चित ही जीव की गति नहीं होती अर्थात् देह से प्राण नहीं निकलते (अर्थात् जब तक सेवा का उत्तमफल प्राप्त नहीं होता, तब तक सेवा का अनुकूलता से निर्वाह होता है एवं उत्तमफल प्राप्त किये बिना प्राण

---

[१] विसामग्र्युत्पादकत्वात् प्रतिबन्धकत्वमिति पाठः।

नहीं निकलते)। अथवा ये समझें कि भगवान जब ऊपर कहे बाधक उत्पन्न नहीं करते, तब मन की भगवान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं गति नहीं होती, अपितु "वाणी एवं अन्य इंद्रियाँ मन में और मन भगवान में स्थित हो जाता है(ब्रह्म० ४-२-१)" इस वाक्य द्वारा भगवान में ही लय होता है। और "हि" शब्द से श्रीमद्भागवत के "गोपियाँ परमप्रेम के द्वारा ऐसी खो गयीं कि उन्हें समस्त लोक की सुध न रही(११-१२-१२)" इस वाक्यानुसार निश्चितरूप से मन भगवान में एकनिष्ठ हो जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि, भगवान जब बाधक नहीं करते तब मुख्यफल की प्राप्ति अवश्य होती है।

यथावेति भिन्नं वाक्यम्। अत्रापि **बाधकं भगवतः अकर्तव्यं चेदि**त्यन्वेति। तथा च **यथा** येन प्रकारेण सेवा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तथा तेन प्रकारेण बाधकं भगवतोकर्तव्यं चेत्तदा, वा फले विकल्पः, सेवा मध्यमा चेन्मध्यमम्, जघन्या चेज्जघन्यं फलमित्येवं सन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः।

"**यथा वा**" इन शब्दों को **बाधकं भगवतः अकर्तव्यं चेत्** इत्यादि वाक्यों के संग जोड़कर अर्थ करें। इसका तात्पर्य यह हुआ कि - अथवा तो जैसी(यथा वा) सेवा, वैसा फल। क्योंकि जहाँ "जैसी" शब्द आयेगा, वहाँ "वैसी" शब्द तो अपने आप ही आ जायेगा अतः कुल मिला कर अर्थ यह होगा कि, जैसी सेवा होगी वैसे प्रकार से यदि भगवान बाधक उत्पन्न न करना चाहें, तो फल भी बदलते चले जायेंगे (वा शब्द का अर्थ "विकल्प" है अर्थात् वा शब्द के प्रयोग से आचार्यचरण यह बताना चाह रहे हैं कि, सेवा के अनुसार फल भी बदलता जायेगा)। सेवा यदि मध्यम हुई तो मध्यमफल। जघन्य हुई तो जघन्यफल।

अथवा। ननु सेवा हि भक्तिमार्गीयं साधनम्। भक्तिमार्गश्चानुग्रहैकलभ्यः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थापितः, निबन्धे च "सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि। तस्य सर्वमशक्यं हि मार्गेस्मिन् सुतरामपी"त्यनेन। एवं सत्यस्मिन् मार्गे प्रतिबन्ध एव कथं येन फलत्रैविध्यमित्यत आहुः **तु बाधकमित्यारभ्य यथावेत्यन्तम्**। अत्र त्रीणि वाक्यानि, तेषु त्रिष्वपि बाधकपदं चेत्पदं चान्वेति। तथा च **बाधकं** पूर्वोक्तं **भगवतः अकर्तव्यं चेत्तदा** प्रतिबन्धस्याभावाद्गतिर्मध्यमं फलं भवति। **बाधकं सर्वथा चेत्तदा न हि** निश्चयेन **सेवाफलमेव न**। **बाधकं यथा** तथा **चेत्तदा वा** विकल्पः। तथा चैवं भगवदिच्छातस्त्रैविध्यमित्यर्थः।

अथवा दूसरे ढंग से अर्थ करें। सबसे पहले प्रश्न यह है कि, सेवा भक्तिमार्ग में प्रभुप्राप्ति का साधन है और भक्तिमार्ग केवल भगवान के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है, आचार्यचरणों ने पु०प्र०म० ग्रंथ में एवं निबंध में "जिस पर सभी प्रकार से हरिकृपा न हो, उसे इस मार्ग में मुख्यफल की प्राप्ति नहीं हो सकती। हरिकृपा से सब कुछ संभव है (सर्व० २२६)" यों कहा है अतः इन वाक्यों के अनुसार इस मार्ग में तो प्रतिबन्ध होने ही नहीं चाहिए, फिर ये तीन प्रकार के फलों की बात ही कहाँ से आई ? तो इस प्रश्न का निवारण आपश्री **तु बाधकं** इत्यादि शब्दों से आरंभ करके **यथा वा** तक के वाक्यों से कर रहे हैं। यहाँ कुल मिला कर तीन वाक्य हैं। इन तीनों में बाधक एवं चेत् पद जुड़ कर अर्थ साफ होता है। पहला वाक्य यह कि - भगवान यदि बाधक उत्पन्न नहीं करते तो प्रतिबन्ध न होने के कारण जीव की गति संभव बनती है अर्थात् उसे मध्यमफल(सायुज्य)प्राप्त होता है। दूसरा वाक्य यह कि - यदि भगवान सर्वथा बाधक ही उत्पन्न करना चाहते हैं तो निश्चित ही सेवा का फल ही प्राप्त नहीं होता। और तीसरा वाक्य यह कि - भगवान जैसा बाधक करेंगे, वैसे वैसे फल भी बदलता जायेगा अर्थात् बड़े बाधक तो जघन्यफल, छोटे बाधक तो मध्यमफल यों। परंतु ये तीनों परिस्थितियाँ भी आखिरकार भगवान की इच्छा से ही बनती हैं, यह ध्यान रखें॥

तर्हि विकल्पे किं कार्यमित्यत आहुः।

अतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम्॥ ३॥

बाधकानां परित्याग, इति।

अत्रोक्तवाक्यद्वयस्य त्रयस्य वाऽसन्दिग्धत्वादतत्त्वनिर्धार इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति। **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति। त्रयाणां** पूर्वोक्तानां बाधकानां यत्साधनमतत्त्वनिर्धाराविवेकरूपं तस्य **परित्यागः** सर्वथा त्यागः कर्तव्यः। तत्प्रतियोगिभूततत्त्वनिर्धारविवेकयोरभ्यासेन तयोः प्रागभावानिवृत्तिः सम्पादनीय, ध्वंसो वा। तथा च नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागे यथा भोजनपरित्यागे पूर्वाजीर्णस्य निवृत्तिः भाविनश्चानुत्पत्तिस्तथा तत्त्वनिर्धारे जाते बुद्धिदोषरूपस्योद्वेगस्य निवृत्त्या विवेके च जाते प्रतिबन्धभोगयोर्निवृत्त्या तयोर्निःशेषनाशः सम्पादनीय इत्यर्थः।

और यदि फल बदलकर जघन्य बन जाय, तब क्या करना चाहिए, यह आपश्री अग्रिम पंक्ति में कह रहे हैं।

ऊपर जो मैंने सबसे पहले दो प्रकार से अर्थ किया था एवं उसके पश्चात् तीन प्रकार से अर्थ किया, ये दोनों ढंग ठीक हैं- यह आचार्यचरणों के **अतत्वनिर्धार** इत्यादि वाक्यों के विवरण से पता लग जाता है। आपश्री **त्रयाणां** इत्यादि शब्दों से यह आज्ञा कर रहे हैं कि, ये तीनों बाधक जिन कारणों से होते हों उन साधनों का परित्याग करना चाहिए। ये साधन हैं - अतत्व का निर्धारण (बाधक क्यों हो रहे हैं इसे जानने के लिये तत्व का निर्धारण न कर पाना) एवं अविवेक ; इन दोनों साधनों का परित्याग करना चाहिए , यह अर्थ है। तात्पर्य यह कि, इन दोनों साधनों के विपरीत तत्व का निर्धारण एवं विवेकपूर्ण रहना इन दोनों के द्वारा बाधकों का ध्वंस कर दें, अथवा ये करें कि इनका प्राक्-अभाव बना रहने दें। ***** प्रागभाव का अर्थ है - प्राक् + अभाव। प्राक् का अर्थ है - पहले। अभाव का अर्थ है - अस्तित्व न होना। न्यायशास्त्र में पदार्थ के चार प्रकार के अभाव गिनाए गये हैं , उनमें से एक है - प्रागभाव। किसी वस्तु के निर्माण से पहले जब वह वस्तु अस्तित्व में नहीं होती, उस अवस्था को उस वस्तु का प्राक्-अभाव कहा जाता है। उदाहरण के लिये जैसे एक मिट्टि का घड़ा बनाना है, तो मिट्टि का घड़ा मिट्टि के दो भागों को जोड़कर बनाया जाता है। इन भागों को कपाल कहा जाता है। जब तक ये दो कपाल अलग अलग होते हैं, तब यह कहा जायेगा कि इन दोनों को आपस में मिलाने से एक घड़े का निर्माण होगा। परंतु जब तक वे अलग अलग हैं, तब तक यह कहा जायेगा कि इनमें घड़े का प्राक्-अभाव है अर्थात् वह अवस्था है, जब घड़ा अस्तित्व में नहीं है। अब मान लो, कपालों को उसी दशा में रख दिया जाय और जोड़ा न जाय, तो घड़ा बनेगा ही नहीं। ठीक इसी प्रकार समझें कि टीकाकार नैयायिक भाषा में इसी बात को अतत्व का निर्धार एवं अविवेक के संदर्भ में कह रहे हैं। टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि, अतत्व का निर्धार एवं अविवेक के प्राक्-अभाव को बनाये रखें जिससे ये अस्तित्व में न आने पायें। यदि इनका प्राक्-अभाव निवृत्त हो गया तो ये अस्तित्व में आ जायेंगे। बिल्कुल उसी तरह जैसे यदि दो विभक्त कपालों के रूप में घड़े का प्राक्-अभाव मिट गया और आपस में जुड़ गये तो घड़ा अस्तित्व में आ जायेगा। तात्पर्य यह कि इन दोनों को ध्वंस कर दें। संक्षेप में यह समझें कि, अब आगे इनके और नये साधन उत्पन्न न होने पायें, वैसे ढंग से इनका त्याग करें।***** जैसे कि भोजन का त्याग करने से पहले हुए अजीर्ण की निवृत्ति होती है और आगे होने वाले अजीर्ण की भी निवृति होती है ; ठीक इसी प्रकार तत्व का निर्धारण कर लेने से बुद्धि को दूषित करने वाले उद्वेग की निवृत्ति होती है एवं उद्वेग की निवृत्ति होने से मन में विवेक उत्पन्न होता है ; और इससे प्रतिबन्ध एवं भोग की निवृत्ति हो जाने से अतत्वनिर्धारण एवं अविवेक का संपूर्णतया नाश होता है।

ननु बाधकत्यागे कर्तव्ये भोगत्याग आगतः, तथाकृते शरीरस्थितेर्बलादेश्चासम्भवात् सेवाया एवासिद्धिः, प्रतिबन्धस्य चादृष्टजन्यत्वात् तत्त्यागस्याशक्यत्वमिति सेवासिद्धिरेव दुर्घटेत्याशंकायां तदर्थं विभागमाहुः भोगेपीत्यादि।

भोगेप्येकं तथा परम्।
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ४॥

अपि समुच्चये। भोगे, अपि शब्दात् प्रतिबन्धे, एकं परित्याज्यमिति शेषः। तथेति वैधर्म्ये दृष्टांतः। यथा भोगप्रतिबन्धयोरेकं परित्याज्यं तथा परं द्वितीयं निःप्रत्यूहं विघ्नशून्यम्। भोगस्य निःप्रत्यूहत्वे हेतुर्महान् भोगः प्रथमे विशत इति। प्रतिबन्धस्य तथात्वे हेतुः सदेति। तदेतत् सर्वं मन्दादेर्दुष्करं दुर्ज्ञेयं चेति तदर्थं गृह्णन्तो व्याकुर्वन्तः प्रतिलोमक्रममादाय प्रथमतो भोगं विभजन्ते भोग इत्यादि। भोग उक्तरूपो द्विप्रकारकः। तयोर्मध्ये लोकासक्तिजन्मा सार्वदिकत्वेन बलवद्बाधकत्वादवश्यं त्यक्तव्य एवेत्यर्थः। ततो न्यूनं प्रतिबन्धं विभजन्ते **प्रतिबन्धोपीत्यादि**। तस्य कादाचित्कत्वेन स्वल्पत्वात् पूर्वं तत्त्यागप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि। तयोः प्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्यः। यद्यपि तत्त्वनिर्धारविवेकौ पूर्वं प्रतिबन्धविघातकत्वेन सूचितौ तथापि न तावन्मात्रेण निवृत्तिः, किन्तु बुद्धिरपि तत्सहकारित्वेनापेक्षिता। अतस्तया त्याज्य इत्यर्थः।

परंतु शंका यह होती है कि, बाधकों का त्याग करने में भोग का त्याग भी आ ही गया और यदि भोग ही त्याग देंगे तो न शरीर टिक पायेगा और न ही बल। ऐसी परिस्थिति में सेवा भी कैसे निभ पायेगी ? प्रतिबन्ध भी तो कह कर नहीं आते अतः प्रतिबन्ध से भी बच कर रहना संभव नहीं है अतः आखिर में होगा यह कि सेवा ही नहीं बन पायेगी। इस शंका का समाधान आपश्री भोगों का विभाग करके बता रहे हैं कि, किस भोग-प्रतिबन्ध का त्याग करें और किसका नहीं।

इस कारिका में अपि शब्द समुच्चय अर्थ में है अर्थात् भोग में भी एक और प्रतिबन्ध में भी एक-एक का त्याग करना है , दूसरे का नहीं। तथा शब्द से जिसका त्याग नहीं करना है, उसका अर्थ निकलता है। भोग एवं प्रतिबन्ध में से जैसे एक त्याज्य

है, वैसे दूसरा निष्कंटक है, विघ्नरहित है। दूसरे प्रकार का भोग निःप्रत्यूह क्यों है, इसका कारण आपश्री **महान् भोगः प्रथमे विशते** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं एवं दूसरा प्रतिबन्ध निष्प्रत्यूह क्यों है, इसका कारण आपश्री **सदा** शब्द से कह रहे हैं। यह सभी बातें एक मंदबुद्धि के लिये समझनी बड़ी कठिन हैं अतः आचार्यचरण स्वयं ही उल्टे क्रम से इनका अर्थ करते हुए अपनी टीका में सबसे पहले भोग का विभाग करते हुए **भोग** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जैसे कि पहले कहा, भोग दो प्रकार का होता है। इन दो भोगों में लोकासक्ति के कारण उत्पन्न होने वाला, बलशाली, घातक जिसको सभी जानते हैं, उसका त्याग अवश्य करना है। इससे उतरती कक्षा में है प्रतिबन्ध, जिसे आपश्री **प्रतिबन्ध** इत्यादि शब्द से अपने विवरण में कह रहे हैं। चूँकि भोग की तुलना में प्रतिबन्ध कभी कभी होता है एवं छोटा भी है अतः आपश्री पहले उसके त्याग का प्रकार **तत्र** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, इन दोनों प्रतिबन्धों में से आद्य-पहला साधारण प्रतिबन्ध बुद्धिपूर्वक दूर करना चाहिए। यद्यपि पहले तत्व का निर्धारण एवं विवेक, ये दोनों इन प्रतिबन्धों को दूर करने के साधन अवश्य बताये गये परंतु केवल उतने से ही ये दूर होने वाले नहीं हैं अपितु इनके संग-संग बुद्धिपूर्वक व्यवहार करना भी अपेक्षित है अतः आचार्यचरण इन्हें बुद्धिपूर्वक दूर करने के लिये कह रहे हैं।

ननु भवत्वेवं तथाप्यलौकिकभोगात्यागे किं बीजमित्याकांक्षायां तत्र बीजमाहुः **अलौकिक** इत्यादि। तुः शंकानिरासे। अलौकिको भगवद्दत्तप्रसादत्वेन क्रियमाणो भोगः **फलानां मध्ये प्रथमे** आद्यमनोरथात्मके **प्रवेशं प्राप्नोत्यतो** निःप्रत्यूहत्वान्न **त्याज्य** इत्यर्थः। अयमेव हेतुर्मूले महानिति पदेनोक्तो बोध्यः।

चलो ये बात ठीक है परंतु अलौकिकभोग त्याग न करने के पीछे क्या कारण है ये बताईये ? तो इसका हेतु आपश्री **अलौकिक** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तु शब्द इस अर्थ में शंका न करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। अलौकिकभोग तो भगवान द्वारा दिया गया प्रसादरूप होने के कारण फलों में प्रथम आद्य मनोरथ में प्रवेश करता होने के कारण निष्प्रत्यूह है अतः त्याज्य नहीं है। यही कारण आपश्री ने **महान्** पद से बताया है।

द्वितीयप्रतिबन्धस्य निःप्रत्यूहत्वे यो हेतुः **सदा** पदेनोक्तस्तं व्युत्पादयन्ति **भगवत्कृत** इत्यादि। सेवायां स्वस्य रुचेः सामग्रीसम्पत्तेश्च सत्त्वेपि यदा पुनः पुनस्तद्विघटनेन तन्निर्वाहाभावः सेवायामरुच्यादिर्वा स भगवत्कृतप्रतिबन्धः। तत्रैव हि स्वस्यान्येषां च "दैवमत्र विघातक"मिति बुद्धिरुदेति। तादृशः स चेद्भवेत् तदा भगवान् फलं पूर्वोक्तं त्रिविधमपि सेवाफलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तेन सेवाप्रतिबन्धवता युक्तिभिर्विचारणीयम्। तदान्येषां गुर्वादीनां सेवां चेत्तदर्थं कुर्यात्तदा सापि व्यर्था। एतत्फलरूपार्थविरहितेति मन्तव्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः। तदायं जीव "एवं पञ्चविधं लिंग"मिति चतुर्थस्कन्धवाक्योक्तश्चेतनायुक्तसंघात आसुर इति निर्धारः कार्य इति प्रायपाठादायाति। तदा ज्ञानमार्गेण स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मत्वभावनपरेणास्थूलादिसदाद्युपासनपरेण वा स्थातव्यं शोकाभावाय। आत्मज्ञानस्य शोकनाशकत्वश्रावणात्तथा स्थितौ तस्मिन् संघाते निवृत्ते एतस्याक्षरसायुज्यं वा तत्र स्थितिर्वा भवतीति **विवेकः सेवाफलात् पृथक्करणमित्यर्थः**।

द्वितीय प्रतिबन्ध निष्प्रत्यूह क्यों है, इसका कारण आपश्री ने मूलग्रंथ में **सदा** पद से कहा है, जिसका व्याख्यान आपश्री ने अपने विवरण में **भगवत्कृतः** इत्यादि शब्दों से कहा है। तात्पर्य यह है कि, भले ही सेवा में रुचि हो एवं सेवा की समस्त संपत्ति/सामग्रियाँ भी उपलब्ध हों, तथापि यदि वारंवार सेवा टूटती हो और निभ न पाती हो या फिर सेवा में अरुचि आदि होने के कारण सेवा निभ न पाती हो, तो समझिए कि यह भगवत्कृतप्रतिबन्ध है। ऐसे में फिर अपने मन में या दूसरों के मन में यही आता है कि- "भाग्य ही ऐसा नहीं होने दे रहा है"। ऐसा प्रतिबन्ध जब होता हो, तब यह मान लें कि भगवान इन तीन फलों में से एक भी फल देना नहीं चाहते। ऐसे में जिसे ये प्रतिबन्ध हो रहे हों, उसे युक्ति से विचार करना चाहिए। भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर तो फल की लालसा से की जाने वाली अन्य गुरुजनों की सेवा भी व्यर्थ हो जाती है अर्थात् वह सेवा ऊपर कहे फल देने में सक्षम नहीं होगी, यह मानें। तब समझिए कि, चतुर्थस्कंध के "पंचतन्मात्राओं से बना हुआ एवं सोलह तत्वों के रूप में विकसित यह त्रिगुणमय संघात ही आसुरजीव है(४-२९-७४)" इस वाक्य में जो चेतनायुक्त शरीर का वर्णन आया है, वह शरीर आसुर है, यह निर्धारण कर लेना चाहिए। ***** इसके आगे मूलपाठ में आये "इति प्रायपाठादायाति" इन शब्दों का तात्पर्य मैं समझ नहीं पाया, जिसका मुझे खेद है।***** ऐसी परिस्थिति में जब उसे भगवत्कृत प्रतिबन्ध हो रहा हो तो उसे ज्ञानमार्ग पर चलते हुए उसे अपने आप में एवं संपूर्ण प्रपंच में अक्षरब्रह्म की भावना करते अपने शोक को दूर करने के लिये हुए निर्गुण या सगुण उपासना करते हुए रहना चाहिए।

आत्मज्ञान शोकनाश का कारण सुना गया है अतः आत्मज्ञानी बन कर उसे यह सोचना चाहिए कि, मेरे इस शरीर के निवृत हो जाने पर अथवा तो इस शरीर का अक्षरब्रह्म से सायुज्य होकर अक्षरब्रह्म में स्थिति होगी। ऐसा सोचना विवेक है। ऐसे में वह फिर सेवाफल से बाहर हो जायेगा।

अत्रैतद्ग्रन्थदर्शनेन ममेदं प्रतिभाति। आसुरजीवा हि पुष्टिप्रवाहमर्यादायां "जीवास्ते ह्यासुरा सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिता" इत्युक्तलक्षणका अज्ञदुर्ज्ञभेदेन द्विविधा निरूपिताः। ते तु नोपदेशार्हाः। "सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः। भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यत" इति प्रतिज्ञावाक्येन तथा निश्चयात्। अतःपरं "प्रवाहेपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते। सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यत" इत्युक्तोवशिष्यते। यथा अलीखानादिः। अतस्तादृशं तद्देश्यं प्रति वायमुपदेश इति॥ ४॥

इस ग्रंथ का दर्शन करने पर मुझे तो यह लगता है कि पु०प्र०म०भे० में कहे "वे प्रवाही जीव आसुरी हैं जो गीता में प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च इस वाक्य द्वारा कहे गये हैं(२४)" इस वाक्य के अनुसार आसुरजीव अज्ञ एवं दुर्ज्ञ भेद से दो प्रकार के होते हैं। मैं मानता हूँ कि ऐसे आसुरीजीवों के लिये आपश्री का यहाँ कोई उपदेश नहीं है क्योंकि आचार्यचरणों ने निबंध में भी "सात्विक भगवद्भक्तों के लिये ही मैं इस ग्रंथ का निरूपण कर रहा हूँ(शा०प्र० - २)" इस वाक्यानुसार आसुरीजीवों को उपदेश नहीं दिया है। अतः पु०प्र०म० में कहे "प्रवाह में दिखाई देने पर भी वे पुष्टिजीव हैं। कर्म के बंधन के कारण उन पुष्टिजीवों का प्रवाहमार्ग में जन्म हो गया है(२५)" इस वाक्यानुसार ऐसे जीवों के प्रति आचार्यचरणों ने यहाँ उपदेश दिया है, जैसे कि अलीखान आदि भक्त हुए थे, जो वैसे तो पुष्टिभक्त थे परंतु उनका जन्म हीन जाति में हो गया था॥ ४॥

एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोस्त्यागानर्हत्वे बीजं व्याख्याय साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्त्याज्यत्वे बीजं वक्तुमवतारयन्ति।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

साधारण इत्यादि। **कथमिति** [1]हेतुरूपप्रकारबोधकम्। तथा चैतयोस्त्यक्तव्यताप्रयोजकः प्रकारः क इत्यर्थः। अन्यथा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति पूर्वग्रन्थविरोध आपद्येतेति। व्याकुर्वन्ति **सविघ्नत्वादित्यादि**। कालादिकृतविघ्नसाहित्यात् स्वरूपतः साधनतः फलतश्चाल्पत्वात् तथेत्यर्थः। एवं भोगे त्याज्यत्वबीजद्वये व्याख्याते शिष्टौ घातकत्वरूपो हेतुः साधारणप्रतिबन्धनिष्ठ इत्यर्थादेव बोधितम्।

इस प्रकार से यहाँ तक आचार्यचरणों ने अलौकिकभोग एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध का त्याग न करने का कारण कहा अब साधारणप्रतिबन्ध एवं लौकिकभोग का त्याग करने का कारण आपश्री अग्रिम कारिका में कह रहे हैं।

अब हम आचार्यचरणों के विवरण में कहे **साधारण** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इसमें कहा **कथं** शब्द प्रकार का बोधक है। अर्थात् आचार्यचरणों ने अपने विवरण में जो "कथं" शब्द कहा है, उससे आपश्री प्रतिबन्धकों का निवारण किस प्रकार से करना चाहिए यह बताना चाह रहे हैं अतः कथं शब्द प्रतिवन्धकों के निवारण का प्रकार बताने का द्योतक है। यदि आचार्यचरण केवल प्रतिबन्धों की ही चर्चा करके छोड़ दें एवं उसके निवारण का प्रकार न बताएँ तो खुद उनके अपने ही वाक्यों से विरोध आ जाए जिसमें आपश्री यह कह रहे हैं हैं कि- बाधकों का परित्याग करना चाहिए। तात्पर्य यह कि निवारण का प्रकार बताए बिना केवल परित्याग करने को कह देना व्यर्थ है। इनका त्याग करने का कारण आपश्री **सविघ्नत्वात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि साधारण भोग में काल आदि के द्वारा विघ्न होता है एवं वह स्वरूप से, साधन से एवं फल तीनों की दृष्टि से अल्प भी है अतः इसका त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार जब आपश्री ने लौकिकभोग का त्याग करने में ऊपर कहे विघ्न एवं अल्पता ये दो कारण बता दिये हैं, तो बाकी बचा घातकरूपी कारण तो अपने आप ही शेष बचे प्रतिबन्ध को त्यागने में कारण बन जाता है।

ननु प्रतिवन्धकत्यागप्रकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **बलादेताविति**। व्याकुर्वन्ति **एतावित्यादि**। यत एतौ लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा क्षणे क्षणे प्रतिबन्धकावतो बुद्ध्या उपायचातुर्येण बलाद् दृढात् त्याज्यौ। यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानीन्तना सेवा गता, मया गानाद्यासक्त्या जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेयमित्येवं बुद्ध्योपायचातुर्येण सर्वथा त्यक्तव्यावित्येतदर्थं पुनः कथनमित्यर्थः।

---

[1] त्यागहेतुरूपेति पाठः।

परंतु जब आचार्यचरण प्रतिबन्ध के त्याग का प्रकार तो पहले ही कह आये हैं फिर यहाँ पुनः कहने का कारण क्या ? तो आपश्री **बलादेतौ** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध ये दोनों सदा क्षण क्षण में प्रतिबन्धक हैं अतः बुद्धिपूर्वक चतुराई से बलपूर्वक दृढ़ता से इनको दूर करना चाहिए। जैसे ये सोचना कि - यदि अधिक भोजन करूँगा तो मेरी इस समय की सेवा जायेगी- गाने में अति आसक्ति होने के कारण मैंने रात्रि में जागरण किया है और अब प्रातःकाल सेवा के समय में मुझे निद्रा आ रही है, सो आगे से मैं ऐसा नहीं करूँगा- इत्यादि विचार करके बुद्धि की चतुराई से इनका त्याग करें। यह सब बताने के लिये आपश्री ने यहाँ भोग एवं प्रतिबन्ध को त्यागने के विषय में पुनः कहा है।

द्वितीये सर्वथेति व्याकुर्वन्ति। **द्वितीय** इत्यादि। पूर्वं भोगप्रतिबन्धयोरुभयोरुक्तत्वात् कोत्र द्वितीय इति शंकानिरासायैतदुक्तम्। ननु भगवत्कृते प्रतिबन्धे यादृशी स्थिरपेक्षिता सा तु पूर्वं विवृतैवेति पुनस्तदुक्तेः किं प्रयोजनमत आहुः **ज्ञानेत्यादि**। तथा च पूर्वोक्तादपि यो हीनः सिद्धांतमुक्तावल्यां "भक्त्यभावे त्वि"ति कारिकयोक्तस्तस्य संसारेत्यन्ताभिनिवेशनिवृत्त्यर्थमिदमित्यर्थः॥ ५॥

अब हम **द्वितीये सर्वथा** इत्यादि शब्दों का व्याख्यान कर रहे हैं। पूर्व में भोग एवं प्रतिबन्ध दोनों की बात की चर्चा आचार्यचरणों ने की है अतः यहाँ द्वितीय शब्द का अर्थ भोग से है या प्रतिबन्ध से ? इसे स्पष्ट करने के लिये आपश्री ने अपने विवरण में **द्वितीय** शब्द से भगवत्कृतप्रतिबन्ध के बारे में कहा है। प्रश्न यह होता है कि, भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर जिस प्रकार से रहना चाहिए, उसका प्रकार तो आपश्री पहले विवृत कर ही चुके हैं फिर यहाँ उसे दोबारा कहने का तात्पर्य क्या है ? तो इसका प्रयोजन आपश्री **ज्ञान** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, सिद्धांतमुक्तावली की "भक्ति के अभाव में तो तीर्थस्थान पर रहने वाला भी पाखंडी बन जाता है(२०)" इस कारिका के कथनानुसार पूर्व में कहे जीव से भी अधिक हीन कोटि के जीव के लिये आचार्यचरण उपदेश कर रहे हैं ताकि उसे संसार में अधिक डूबने से बचा सकें॥ ५॥

ननु पूर्वमुद्वेगादित्रयं ससाधनं त्याज्यत्वेनोक्त्वाग्रे तत् त्याज्यत्वात्याज्यत्वविभागं च कृत्वा पश्चाद्द्वयोरेवावश्यं त्याज्यत्वं यन्निरूपितं न तु उद्वेगस्यापि, तत् कुत इत्याकांक्षायामाहुः।

ननु आद्ये दातृता नास्तीति अथवा **न तु आद्ये दातृता नास्ती**ति अथवा **न नु आद्ये अदातृता नास्ती**ति।

अत्र प्राञ्चः पाठं द्विधांगीकुर्वन्ति केचिन्नन्विति। केचिच्च न त्वेति। तत्रापि **नु** इति भिन्नं पदं निश्चयार्थकमिति मम प्रतिभाति। **आद्ये** उद्वेगे। **तुः** शंकानिरासे। **नु** निश्चयेन वा न, चिन्ता फलसाधनविषयिणी न त्याज्या। तत्र हेतुः। **दातृता नास्तीति**। **अदातृता नास्तीति** वा। तदेतद्व्याकुर्वन्ति। **आद्यफलेत्यादि**। आद्यं यत् फलमलौकिकसामर्थ्यरूपं, तस्याभावे अप्राप्तौ, भगवतो दातृत्वं नास्ति, तदा तस्मिन् दानसमये सेवा अनाधिदैविकी।

किंतु शंका यह होती है कि, आचार्यचरणों ने पहले उद्वेग आदि तीनों को कारणसहित त्यागने का उपदेश दिया तत्पश्चात् किसका त्याग और किसका नहीं, यह भी विभाग किया और भोग एवं प्रतिबन्ध के लिये ये कहा कि इन दोनों का अवश्य त्याग करें, परंतु उद्वेग के त्याग के बारे में नहीं कहा, ऐसा क्यों ? इसका समाधान आपश्री अग्रिम कारिका से कर रहे हैं।

***** आगे बढ़ने से पहले इस कारिका के विषय में टीकाकार की योजना समझ लेनी आवश्यक है। टीकाकार आगे कहेंगे कि प्राचीन टीकाकारों ने इस पंक्ति का अर्थ "ननु आद्ये दातृता नास्ति" एवं "न तु आद्ये दातृता नास्ति" यों दो प्रकार से किया है। जबकि स्वयं टीकाकार इसका अर्थ "न नु आद्ये दातृता नास्ति" यों मान रहे हैं। यद्यपि टीकाकार ने "न तु आद्ये दातृता नास्ति" यों करके भी अर्थ किया है परंतु उनके अनुसार "न नु आद्ये दातृता नास्ति" यही ठीक पंक्ति है। इस बात का अनुसंधान रखते हुए आगे पढ़े कि, वे इन दोनों का क्या अर्थ कर रहे हैं।*****

कुछ प्राचीन विद्वान् यहाँ दो प्रकार के पाठ मानते हैं। कुछ **ननु** पाठ मानते हैं और कुछ **न तु** पाठ मानते हैं। किंतु मुझे निश्चय अर्थ में **न नु** पाठ यों अलग से प्रतीत होता है। **आद्ये** शब्द से तात्पर्य है- उद्वेग-प्रतिबन्ध और भोग में से पहला होने पर अर्थात् उद्वेग होने पर। यदि **तु** पाठ मान लिया जाय तो अर्थ यह बनेगा कि - **तु** शब्द यहाँ कहे अर्थ में उठी शंका का निराकरण करने के लिये है। और यदि मेरे अनुसार **नु** पाठ मान लेते हो तो **नु** का अर्थ है - निश्चय ; तात्पर्य यह कि फलसंबंधी साधन करने की चिन्ता निश्चित ही नहीं त्यागनी चाहिए। क्यों नहीं त्यागनी चाहिए ? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं- एक या तो भगवान की देने की इच्छा नहीं है अथवा देने की इच्छा है। इसका स्पष्टीकरण आपश्री विवरण में **आद्यफल** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करत

कह रहे हैं कि - आद्यफल अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य यदि प्राप्त नहीं है, तो समझिये कि भगवान को फल देने की इच्छा नहीं है ; तात्पर्य यह कि भगवान दान करते समय यदि सेवा को अनाधिदैविकी देखें , तो दान नहीं करते।

उद्वेगो हि मानसो, मानस्या एव विरुद्धसामग्रीजनकः, सा दानसमये "चेतस्तत्प्रवणं", "ता नाविदन् " इतिवद्भगवति लीनं न करोति, तेन सा सेवा अनाधिदैविकीत्युक्तं भवति। अत उद्वेगे तन्निवृत्त्यर्था चिन्ता भगवद्भावनरूपा न त्याज्या, किन्तु सदा कर्तव्यैव। द्वितीयपक्षे उद्वेगेन कृत्वा फलाभावे मुख्यफलाप्राप्तौ भगवतोऽदातृत्वं नास्ति किन्तु तदोद्वेगदशायां सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति। अतस्तस्या आधिदैविकीत्वसम्पादनायोद्वेगनिवृत्त्यर्था चिन्ता न त्याज्या किन्तु कार्यैव। तथा चोद्वेगस्य मुख्यफलातिरिक्तफलाप्रतिबन्धकत्वाद् मुख्यफलस्य केवलं दानमात्रसाध्यत्वाद् दित्सायाश्च "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुंक्त" इतिवाक्येन "कर्हिचित् स्म न भक्तियोग"मिति वाक्येन च ज्ञातुमशक्यत्वान्नोक्तमित्यर्थः। अत्रानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति कथनेन सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वरूपमुद्वेगत्याज्यताबीजमप्युक्तं ज्ञेयम्।

तात्पर्य यह कि उद्वेग तो मन में होता है अतः वह मानसी सेवा के विरुद्ध सामग्री को पैदा करता है। ऐसी सेवा सि०मु० में कहे "चित्त की प्रभु में प्रवणता ही सेवा है(२)" एवं श्री०भा० में कहे "गोपियाँ परमप्रेम के द्वारा ऐसी खो गयीं कि उन्हें समस्त लोक की सुध न रही(११-१२-१२)" इत्यादि वाक्यों की भाँति भगवान में लीन नहीं करती अतः वह सेवा आधिदैविकी नहीं बनती। इसलिये जब उद्वेग हो तब उद्वेग की निवृति करने के लिये चिन्ता का त्याग न करें अपितु ऐसी चिन्ता तो भगवद्भावनरूपी होने के कारण अवश्य करनी ही चाहिए। और यदि द्वितीयपक्ष यानि अदातृता नास्तीति पाठ मानें तो अर्थ यों होगा - उद्वेग के कारण यदि फल प्राप्त नहीं होता अर्थात् मुख्यफल की प्राप्ति नहीं होती, तो यह बात नहीं है कि भगवान की फल देने की इच्छा नहीं है किंतु बात यह है कि उद्वेग के कारण फल प्राप्त नहीं हो रहा है और सेवा अधिदैविकी नहीं बन पा रही है। अतः सेवा को आधिदैविकी बनाने के लिये उद्वेग मिटाने की चिन्ता छोड़ न दें, अपितु चिन्ता करते ही रहें। इस प्रकार उद्वेग मुख्यफल से अतिरिक्त फलों का प्रतिबन्धक है एवं मुख्यफल तो केवल भगवान के दान द्वारा ही सिद्ध हो सकता है और भगवान की दान देने की इच्छा के लिये "गतिमण्वीं(श्री०भा० ३-२५-३६)" एवं "भगवान मुक्ति भले ही दे दें परंतु भक्ति सरलता से नहीं देते(भा० ५-६-१८)" इत्यादि वाक्यों से पता चलता है कि भगवद्-इच्छा को जान लेनी शक्य नहीं है अतः ऊपर कहे श्लोकों में कही बात का अनुसंधान रखते हुए आचार्यचरणों ने उद्वेग के विषय में अधिक कुछ नहीं कहा। सेवा को अनाधिदैविकी कहने के पीछे उद्देश्य यह है कि, सेवा को अनाधिदैविकी बनाने वाले उद्वेग का त्याग करना चाहिए , यह समझिए।

ननु तत्त्वनिर्धारविवेकाभ्यां प्रतिबन्धत्यागे यतमानस्यापि त्रयाणां त्याज्यबीजं जानतोपि यदा न प्रतिबन्धनिवृत्तिः तदानेन किं कार्यमित्यत आहुः।

तृतीये बाधकं गृहमिति।

तदेतद्विवृण्वन्ति भोगाभाव इत्यादि। उद्विग्नः साधारणप्रतिबद्धोपि निरुपधि यथाकथञ्चन भक्तिमान् सेवेत तदापि तृतीयं फलं भक्तिमत्त्वाद्भवति तस्मिन्नपि भोगो लौकिकः प्रतिबन्धं करोति। अतस्तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धेऽशक्यत्यागे सति भगवता गृहत्याग एवानेन प्रकारेण बोध्यत इत्यनुसन्धाय बाधकभूतं गृहं त्याज्यम्। यतो भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः। तथा च तदानीमयमेवोपायोनेतर इत्यर्थः। अयं त्यागो न भक्तिमार्गीयसंन्यासरूपः, अधिकाराभावात् , किन्तु "तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशन"मित्यादि भक्तिवर्धिन्युक्तभक्तिसाधनसम्पादनार्थं इति ज्ञातव्यम्। एवमत्र यावान् कठिनांशः सोत्र स्वयं व्याख्यातः।

अब प्रश्न यह होता है कि, तत्वनिर्धार और विवेक के द्वारा चलो कोई प्रतिबन्धों को दूर करने का प्रयास भी करे और तीनों प्रकार के प्रतिबन्ध होने के मूल कारणों को भी जानता हो, फिर भी यदि उसके प्रतिबन्ध दूर न हों तो उसे क्या करना चाहिए ? यह आपश्री अग्रिम कारिका से कह रहे हैं।

इस कारिका को आपश्री ने भोगाभावः इत्यादि वाक्यों से विवरण में स्पष्ट किया है। अर्थ यह है कि, ऐसा उद्विग्न जीव जो साधारणप्रतिबन्ध से बाधित हुआ है, वह भक्तिमान जीव जैसे-तैसे भी यदि स्वार्थरहित होकर प्रभुसेवा करे, तो उसे तीसराफल तो प्राप्त होता ही है परंतु लौकिकभोग प्रतिबन्ध करते हैं। अतः तीसरा भोगरूपी प्रतिबन्ध का त्याग न कर पायें, तो भगवान गृहत्याग करना कह रहे हैं यह समझ कर गृहत्याग करना चाहिए। क्योंकि भोग भी तभी मिटेंगे, जब गृहत्याग करेंगे। अतः यदि किसी भी प्रकार से प्रतिबन्ध दूर नहीं होते तो केवल यही एक उपाय है, अन्य कोई नहीं। यह त्याग भक्तिमार्गीयसंन्यासरूप त्याग नहीं है क्योंकि

ऐसा जीव भक्तिमार्गीय संन्यास का अधिकारी नहीं है अपितु यह त्याग तो भक्तिवर्धिनी में कहे "तादृशी को भी सतत गृह में रहना बाधक है(६)" इस वाक्यानुसार भक्ति के साधन जुटाने के लिये किया गया त्याग है। ***** (भक्तिवर्धिनी में कहा गया गृहत्याग भक्ति बढ़ाने के लिये भक्ति के साधन जुटाने के लिये किया जाने वाला त्याग है। जिस त्याग के पश्चात् भी कुछ कर्म शेष रह जाते हैं और उसे लौट कर पुनः घर आना होता है। परंतु संन्यासनिर्णय में कहा गया त्याग संपूर्णत्याग है, जो केवल प्रभु के विरह का अनुभव करने के लिया किया जाता है और जो फलदशा का त्याग है) ***** । इस प्रकार से जितने कठिन अंश थे, वे आचार्यचरणों ने स्वयं स्पष्ट किये।

अतःपरं य एवं गृहत्यागमपि न कर्तुं शक्नुयात् तदर्थं मूले उपायमुपदिशन्ति।

अवश्येयं सदा भाव्येत्यादि।

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी च **अवश्या**, यथायथं भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वाद्भगवद्विचारमात्रसाध्यत्वाच्च **अवश्या**, न स्वकृतसाधनाद्यायत्ता। अतः **सदा भाव्या** प्रतिबन्धोपस्थितावश्यत्वेनैव स्वदैन्याय तदा तदा विचारणीया। अत्र सदापदेनेदमेव बोध्यते, न तु काललैरन्तर्यम्। "निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वदे"त्यादीनां विरोधापत्तेः।

इसके पश्चात् जो गृहत्याग भी नहीं कर सकते, ऐसे जीवों के लिये आपश्री मूल में ही **अवश्येयं** इत्यादि शब्दों से उपाय बता रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं – ये तीन फल एवं तीन प्रतिबन्धक जीव के वश में नहीं हैं। क्योंकि भगवान जब जैसे अनुग्रह करें और जब भगवान फल देने का विचार करें, तब ही सिद्ध हो सकते हैं, जीव द्वारा किये गये साधनों द्वारा नहीं। अतः सदा भाव्या अर्थात् जब प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाएँ, तब तब अपनी दीनता रखते हुए इनका विचार करें। यहाँ सदा पद से आपश्री "इनकी भावना अवश्य करें" यह आज्ञा कर रहे हैं, यह नहीं कह रहे हैं कि "निरंतर भावना करें" क्योंकि निरंतर इनकी ही भावना करें तो स्वयं आचार्यचरणों के ही वाक्यों से विरोध आ जायेगा, जहाँ वे नवरत्न में "अपने निवेदन का सर्वदा स्मरण रखें(२)"इस वाक्य द्वारा ये कह रहे हैं कि, निरंतर स्मरण तो निवेदन का ही रखना है।

सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

फलस्य स्वकृतसाधनायत्तत्वभावनं प्रतिबन्धस्य स्वकृतसाधनान्तरनाश्यत्वभावनं च मनोभ्रमश्चित्तबाहिर्मुख्यसम्पादकं चाञ्चल्यमात्रम्, भगवदिच्छां विना कथमपि केनापि किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात्। "एष उ एव साधु कर्म कारयती"त्यादिश्रुत्या तथा बोधनात्। "अनन्याश्चिन्तयन्तो मा"मिति वाक्ये तादृशां योगक्षेमवहनस्य स्वकर्तव्यताया उक्तत्वादत्र प्रतिबन्धनिवृत्त्यादियोगक्षेमस्यापि भगवतैव कर्तव्यत्वादेकादशस्य विंशेध्याये "जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु। वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेप्यनीश्वरः॥ ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः। जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हय"न्नित्यन्तेन तथा करणस्याज्ञापनाच्च ॥ ६ ॥

आपश्री आज्ञा करते हैं कि, "फल हमारे अधीन है", "हमारे किये साधन करने के पश्चात् प्रतिबन्ध दूर हो जायेंगे" इत्यादि सोचना मन का भ्रम है, चित्त को बहिर्मुख बनाने वाला है एवं चित्त की चंचलता है। क्योंकि भगवान की इच्छा के बिना कोई भी, कैसे भी, कुछ भी करने में अशक्य है। "एष उ साधु कर्म कारयति" इत्यादि श्रुति में भी यही बात बतायी गयी है। और "अनन्यभाव से चिंतन करते हुए जो मेरा भजन करते हैं, मैं उनके योगक्षेम का वहन करता हूँ(भ०गी ९-२२)" इस वाक्य में भगवान ने ऐसे भक्तों के योगक्षेम को वहन करना उनका अपना कर्तव्य बताया है एवं यहाँ बताये प्रतिबन्ध की निवृति करनी भी तो योगक्षेम का वहन करना ही है, जो भगवान का कर्तव्य ही है और जिसके लिये एकादशस्कंध में भगवान ने "जो समस्त कर्मो से विरक्त हो गया हो,मेरी कथा में श्रद्धा रखता हो और फिर भी भोगों का परित्याग न कर सके, उसे भोगों से छुटकारा पाने के लिये दृढ़ निश्चय से मेरा भजन करना चाहिए(श्री०भा० ११-२०-२७,२८)" इस वाक्य द्वारा भोगों का त्याग करने के लिये खुद ही उनका भजन करने का उपदेश दिया है॥ ६॥

ननु यद्येवं तदा भावनस्यापि किं प्रयोजनम्। ननु जीवकृतया भावनया सत्यसङ्कल्पो भगवान् स्वविचारितादन्यथा किमपि करोति। तथा सति किं भावनोपदेशेनेत्यत आहुः तदीयैरपीत्यादि।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

एते हि तदीयाः, सर्वसमर्पणात् सर्वप्रकारेण भगवत एव भावनाच्च भगवदीयाः, तैरपि तदुक्तं भावनं कार्यम्। तत्र हेतुः। **पुष्टौ** अनुग्रहविषये, भगवान्नैव विलम्बयेत्। एतत्कृत्या विलम्बं न कारयेत्, न कुर्याद्वा। रामो राज्यमचीकरदितिवत् स्वार्थे णिच्। तथा च पुष्टिमर्यादायां स्वयमेव साधनानामुपदेशादस्मात् साधनद्वारा वोद्दिधीर्षति, तानि विना वा न वेति न ज्ञातुं शक्यते, अतो विलम्बाभावायायमुपदेश इत्यर्थः।

तो प्रश्न ये होता है कि, जब भगवान का भजन करने से ही कार्य बन सकता हो तो फिर व्यर्थ में इन भोग एवं प्रतिबन्धों की भावना करने से भी क्या लाभ ? क्योंकि ऐसा तो नहीं है कि जीव भावना करे और सत्यसंकल्पी भगवान खुद के विचार को बदल कर कुछ और कर दें ! ऐसे में भावना करने से भी क्या लाभ होगा ? इसका उत्तर आपश्री **तदीयैरपि** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि मेरे कहे अनुसार भावना करने वाले ये तदीय हैं और सर्वसमर्पण करने के कारण सभी प्रकार से भगवान की ही भावना करने के कारण भगवदीय हैं। ऐसे भगवदीयों को भी भावना करनी है। इसका कारण यह है कि , पुष्टि में भगवान विलंब नहीं करते हैं अर्थात् भावना करेंगे तो भगवान विलंब न करायेंगे और न करेंगे। "विलम्बयेत्" क्रिया में "णिच्" प्रत्यय है जिसका अर्थ "करवाने" के लिये होता है परंतु कहीं कहीं "करने" के लिये भी इसका प्रयोग होता है, जैसे - रामो राज्यमचीकरत् अर्थात् "राम ने राज्य किया"। भगवान जब जीव को पुष्टिमर्यादा की पद्धति से अंगीकार करते हैं, तब खुद ही उनकी प्राप्ति कराने के साधनों का उपदेश करते हैं अतः उन साधनों द्वारा वे जीव का उद्धार करेंगे या बिना साधनों के जीव का उद्धार करेंगे या फिर उद्धार करेंगे ही नहीं,- यह सब जाना नहीं जा सकता अतः आचार्यचरण तदीय-भगवदीयजनों को भी सेवा में आनेवाले इन प्रतिबन्धकों के विषय में विचार करते रहने का उपदेश दे रहे हैं ताकि फलप्राप्ति में विलंब न हो - यह अर्थ है।

ननु "सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे। चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यत" इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् चित्तजा गुणाः कालकर्मस्वभाववशात् क्षुभ्यमाणाः प्रतिबध्नन्त्येव तदा किं कार्यमित्यत आहुः **गुणक्षोभेपीत्यादि**।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

गुणक्षोभोपि परंपरया भगवदिच्छाधीन इति तत्रापि एतदेव भगवत्कृतं विलम्बनमेव कारणत्वेन द्रष्टव्यम्। **इति मे मतिः**। इदमस्माभिरेवोच्यते। अत्र नान्यस्य सम्मतिरित्यर्थः॥ ७॥

किंतु श्रीमद्भागवत के "सत्व-रज-तम इन गुणों का कारण चित्त है। इन्हीं गुणों से आसक्त होकर जीव धन, शरीर के बंधन में पड़ जाता है(११-२५-१२)" इस एकादशस्कंध के वाक्यानुसार चित्त में पैदा होने वाले गुण कालकर्मस्वभाव के वशीभूत होकर क्षुब्ध होकर प्रतिबन्ध करें तो क्या किया जाय ? इसका समाधान आपश्री आगे **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। गुणक्षोभ होना भी परंपरा से भगवान के ही अधीन है अतः यदि ऐसा होता है तब भी यही मानें कि, भगवान ही फलदान में विलंब कर रहे हैं। आपश्री **इति मे मतिः** से यह कह रहे हैं कि- "ऐसा हम ही कह रहे हैं, अन्य किसी दूसरे की संमति की बात नहीं कर रहे हैं"॥ ७॥

तत्र हेतुः **कुसृष्टिरित्यादि**।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

शास्त्रे तदर्थं साधनान्तरोपदेशदर्शनाद्विरुद्धयुक्तिसृष्टिरत्र वा विकल्पेनोत्पद्येत, परं स विकल्पोधिकारभेदानवधानाद् वै निश्चयेन **भ्रमः**। भगवता "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त" इति गुणमूलनिवृत्तये स्वप्रपत्तिमात्रस्यैव साधनस्योक्तत्वात्। साधनान्तरकरणे च निःशेषतन्निवृत्त्यभावात्। भगवत्कृतविलम्बभावने तु भगवानेव शरणमिति बुद्ध्युत्पत्तेः। अतोस्माभिरिदं भगवदभिप्रेतमेवोच्यत इति तथेत्यर्थः॥ ७॥

इति तत्प्रेरणप्राप्तबुद्धिस्तु पुरुषोत्तमः
सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं चैवमुज्जगौ॥ १॥

इतिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य कृतौ सेवाफलविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः।

आपश्री ने किसी अन्य की संमति क्यों नहीं ली, इसका कारण आपश्री आगे **कुसृष्टि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

सेवाफलम्।

आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि – मन में होने वाले गुणक्षोभ को दूर करने के लिये शास्त्रों में अन्य उपाय भी प्राप्त होते हैं जिनको देखने/पढ़ने से जीव के मन में मेरे कथन से विरुद्ध जाने वाली कुसृष्टि उत्पन्न हो सकती है परंतु ऐसा सोचनेवाले को अधिकारिभेद (अर्थात् अन्य शास्त्रों में कहे उपाय किसी अन्य अधिकारी के लिये हैं एवं मैं यहाँ किसी और अधिकारियों के लिये कह रहा हूँ–यह अर्थ है) का ज्ञान नहीं है अतः वह निश्चित ही उसका भ्रम ही है। वहाँ शास्त्रों में मर्यादामार्गीय जीवों के लिये उपाय बताये गये हैं एवं मैं यहाँ पुष्टिजीवों के लिये उपाय कह रहा हूँ। भगवान ने भी गीता के "मेरे शरणागत होने वाले दुस्तर माया को भी पार कर लेते हैं(७-१४)" इस वाक्य द्वारा गुणों का मूल नष्ट करने के लिये एकमात्र अपनी शरणागति को ही साधन बताया है। अन्य साधन करेंगे तो पूर्णरूप से निवृति नहीं होगी। यदि ऐसा सोचेंगे कि, भगवान ही विलंब करा रहे हैं , तो बुद्धि में भगवान की शरणभावना ही आयेगी। इसी कारण आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं – मैंने वही कहा है जो भगवान को अभिप्रेत है॥ ७॥

आचार्यचरण/भगवान की प्रेरणा से बुद्धि प्राप्त करने वाले पुरुषोत्तम ने
इस प्रकार सेवाफलविवृति की विवृति की॥ १॥

श्रीकृष्णाय नमः

सेवाफलम्।

विवृतिविवरणसमेतम्।

⁂

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् विट्ठलेशान् निजान् गुरून्।
सेवाफलस्य विवृतिव्याख्यानं वितनोम्यहम्॥ १॥

अथ दैवोद्धारप्रयत्नात्मानः श्रीमदाचार्या निजानां सुखेन सिद्धान्तमुक्तावल्युक्त सेवायाः सिद्धये तत्फलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रतिज्ञां कुर्वन्ति **यादृशी सेवनेति**। एतद्ग्रन्थस्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुर्बोध्यत्वात् स्वयमेव विवृतिं रचयन्तः सेवाया निजग्रन्थेषु फलत्वांगीकारेण तत्फलेष्वन्येषूच्यमानेषु सेवायाः साधनतामाशंक्य साधनताभ्रमं वारयन्तः फलनामान्याहुः **सेवायामिति**।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

सेवायां फलत्रयम्, अलौकिकसामर्थ्यम्, सायुज्यम्, सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु। सर्वत्र साधनान्ते फलम्। फले लब्धे साधनत्यागः। अत्र सेवासाधकसेवायां क्रियमाणायामित्युक्त्या न तद्भ्रमस्यावकाशः।

निजगुरु श्रीवल्लभाचार्य एवं श्रीविट्ठलेश को नमन करके
मैं सेवाफलविवृति का व्याख्यान कर रहा हूँ॥ १॥

दैवीजीवों के उद्धार को प्रयत्नशील श्रीमदाचार्यचरण निजजनों को सुखपूर्वक सिद्धांतमुक्तावली में कही सेवा की सिद्धि के लिये एवं उसके फलप्रतिबन्धों के साधनों का निरूपण करते हुए इस ग्रंथ का आरंभ **यादृशी सेवना** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यह ग्रंथ अति संक्षिप्त होने के कारण दुर्बोध भी है अतः आपश्री ने इसे सुबोध बनाने के लिये स्वयं ही इसकी विवृति भी की है। आपश्री ने अपने ग्रंथों में सेवा को ही फलरूप कहा है और यहाँ यदि वे सेवा के ही फल बताने बात कह रहे हों, तो ऐसी शंका होती है कि क्या सेवा साधन है जो आपश्री अब इसके फल बता रहे हैं ? इस प्रकार के भ्रम का निवारण करने के लिये सेवा में होनेवाले फलों का नामोल्लेख **सेवायां** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री अपने विवरण में आज्ञा करते हैं कि सेवा के तीन फल हैं - अलौकिकसामर्थ्य ,सायुज्य एवं वैकुण्ठ आदि में सेवा में उपयोगी देह। वैसे सर्वत्र नियम तो यह है कि साधन समाप्त होने के पश्चात् फल की प्राप्ति होती है और जब फल मिल जाय तो साधन छोड़ दिया जाता है। किंतु यहाँ तो आचार्यचरणों ने - सेवा की साधक सेवा करने पर फल प्राप्त होता है और वह फल भी सेवा करते करते ही प्राप्त होता है - यों कहा है, सो सेवा सदा चलती होने से ऊपर कहे भ्रम के लिये कोई अवकाश नहीं है।

यादृशी सिद्धान्तमुक्तावल्यां कथिता मानसी सेवा, **तत्सिद्धौ** मानसीत्वे सिद्धे, तस्यां यत्फलत्रयमलौकिकादि, तदुच्यते। आद्यफलस्यालौकिकसामर्थ्यस्य प्रभुणा दाने कृते, चकारात्तद्देहेन्द्रियादिषु स्वरूपे स्थापिते, आदौ उत्तमफले जातो मनोरथः सिध्येत्, तस्यादाने फलं सायुज्यं वा सिध्येत्, अधिकारः सेवोपयोगिदेहो वा सिध्येदित्यग्रिमेणान्वयः। **हि** युक्तोयमर्थः। अत्र द्वौ वाशब्दौ पूर्वफलतुल्यत्वबोधकौ॥ १॥

आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि जो मानसीसेवा सिद्धान्तमुक्तावली में कही गयी है, वह मानसीसेवा सिद्ध होने पर जो फल होता है वह फल कह रहे हैं ; अर्थात् उस मानसीसेवा के जो अलौकिकसामर्थ्य इत्यादि तीन फल हैं, वह कह रहे हैं। इन तीन में प्रभु जब आद्यफल अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य का दान करते हैं , और च शब्द से जीव की देह-इन्द्रियों में अपने स्वरूप को स्थापित करते हैं , तब उत्तमफल प्राप्त होने पर जीव के मन का जो मनोरथ सिद्ध होता है, यहाँ उस फल की चर्चा हो रही है। यदि प्रभु ऐसा

दान नहीं करते, तो सायुज्यफल सिद्ध होता है या फिर सेवोपयोगिदेह की प्राप्तिरूप अधिकार सिद्ध होता है। हि शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिये है। आगे के श्लोक में दो बार प्रयुक्त हुआ वा शब्द फल एवं अधिकार दोनों को अलौकिकसामर्थ्य की तुलना में समान बताने के लिये प्रयुक्त हुआ है॥ १॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।
उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् , उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा।

फलमिति। आद्यफलमनियतम् , परमानुग्रहैकलभ्यत्वात्। एवं चाद्यस्य दानैकहेतुत्वम्। फलद्वयस्य साधारणानुग्रहहेतुत्वम्। नन्वधिकारस्य सेवापूर्वकाले स्थितत्वात्कथं फलत्वमित्यत आहुः **न काल** इति। अस्मिन्नधिकारे सत्ययुगादिरूपः कालो नियामको न। अतः कालानियम्यत्वात्फलताधिकारस्य। एवं सोपपत्तिकं फलत्रमुक्त्वा प्रतिबन्धकत्रयमाहुः मूले **उद्वेग** इति, विवृतौ **सेवायामिति**। उदधिको वेगः भयम् , अपराधादिना मनश्चाञ्चल्यं वा पापादिना। स च सेवाऽरुचिसम्पादनेन बाधकः। प्रतिबन्धश्च सेवायां रुचौ सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूपः। स च तत्समयरोधनेन बाधकः। भोगश्च शरीरवृत्यनुसारेणाभ्यव्यवहारशयनादिरूपः। सोपि पूर्ववद्बाधकः॥ २॥

उपर्युक्त श्लोक के विवरण में आचार्यचरण लिखते हैं कि सेवा में प्रतिबन्ध तीन हैं - उद्वेग, प्रतिबन्ध एवं भोग। मूलश्लोक में कहे **फलं** शब्द का तात्पर्य आद्यफल से है और निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि भगवान यह फल किसको देंगे क्योंकि यह फल तो केवल भगवान जिस पर परम अनुग्रह करें, वही पा सकता है। और इसे प्राप्त करने में हेतु केवल भगवान का दान ही है। इसके बाद के दो फल भगवान की साधारण कृपा से प्राप्त होते हैं। किंतु प्रश्न यह होता है कि भगवत्सेवा का अधिकार तो जीव को सेवा करने से पहले ही प्राप्त हो जाता है जब वह निवेदन करता है , फिर यहाँ यह क्यों कहा जा रहा है कि सेवा करते समय उसे अधिकाररूपी फल मिलता है ? अर्थात् शंका यह है कि, जो अधिकार सेवा करने से पहले मिला था, अब वही अधिकार फल कैसे बन गया ? इसका उत्तर आपश्री **न कालः** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, यह अधिकार प्राप्त होने में सतयुग आदि काल नियामक नहीं है अतः यदि काल नियामक नहीं है और केवल प्रभुकृपा से ही प्राप्त होता है , तो यह अधिकार भी फल ही कहा जायेगा, अधिकार नहीं। इस प्रकार उदाहरणसहित सेवा के तीन फलों की व्याख्या करके अब आचार्यचरण आगे तीन प्रतिबन्धों को बता रहे हैं, जिसे आपश्री ने मूल में **उद्वेगः** एवं विवरण में **सेवायां** इत्यादि शब्दों से कहा है। उद्वेग शब्द में उत् का अर्थ है - अधिक ; एवं वेग शब्द का अर्थ है - भय। सो उद्वेग शब्द का अर्थ हुआ - अधिक वेग यानि किसी अपराध से मन की चंचलता द्वारा अथवा तो किसी पाप द्वारा मन में अधिक भय होना। यह उद्वेग सेवा में अरुचि उत्पन्न करता है अतः बाधक है। और सेवा में भले ही चलो रुचि हो तथापि सेवा करते समय लौकिकवैदिककार्यों में आसक्ति रहनी प्रतिबन्ध है। यह प्रतिबन्ध सेवासमय में अवरोध पैदा करता है अतः बाधक है। और शरीर की वृत्ति के अनुसार सोते रहना, आलस्य-प्रमाद करने का नाम है - भोग। यह भी सेवा में अवरोध करता होने के कारण बाधक है॥ २॥

ननु फलानामनुग्रहलभ्यतयानुग्रहस्य च भगवदिच्छाधीनत्वात्सेवायां क्रियमाणायां मम फलं भविष्यति न वेति सन्देहः कथमपेयादतस्तन्निवारणाय तु बाधकमित्यारभ्य यथा वेत्यन्तमाहुः।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि
यथा वाऽतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम्॥ ३॥

बाधकानां परित्यागः,त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः। भगवतो बाधकत्रयं न करणीयं चेत् तर्हि मनस अन्यत्र गमनं न, फलं तु **यथा वा**। येन प्रकारेण सेवा तथा तेन प्रकारेण फलमिति सन्देहाभावः।

यहाँ यह बताया गया कि, फल भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होता है एवं अनुग्रह करना तो भगवान की इच्छा के अधीन है अतः जीव को संदेह यह होता है कि, मैं जो सेवा कर रहा हूँ उसमें मुझे फल प्राप्त होगा कि नहीं ? इस संदेह का निवारण करने के लिये आचार्यचरणों ने **बाधकं** से लेकर **यथा वा** तक के शब्दों में कहा है।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - ये तीन प्रतिबन्ध जिससे होते हैं, उन साधनों का परित्याग करना चाहिए। यदि भगवान ये तीन बाधक उत्पन्न नहीं करना चाहते तो जीव का मन अन्यत्र कहीं भटकेगा ही नहीं ; और फल तो जिस प्रकार सेवा करेंगे, उस प्रकार का प्राप्त होगा। जैसी सेवा वैसा फल अतः आपके कहे संदेह के लिये कोई अवकाश नहीं है।

यद्वा भक्तिमार्गो भगवदनुग्रहलभ्यः। तस्मिन् कथं प्रतिबन्धकत्रयमित्यतस्तु बाधकमित्यादि यथा वेत्यन्तमाहुः। वाक्यत्रयमत्र। बाधकं पूर्वोक्तं भगवतोकर्तव्यं चेत्तदा गतिर्नाम सेवायां सायुज्यम्॥ १॥ बाधकं चेत् सर्वथा तदा **न हि** फलाभाव इत्यर्थः॥ २॥ यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यथा बाधकं तथा चेत्तदा वा नाम फले विकल्पः॥ ३॥ तथा चैवं भगवदिच्छयानुग्रहस्य त्रैविध्यात् फले त्रैविध्यम्। तथा च यस्य जीवस्य यादृशोधिकारः स तादृशीं सेवां करिष्यति, तस्य स्वाधिकारयोग्यं फलं च भविष्यतीति सन्देहाभावः।

अथवा यों समझें कि, मान लो कोई ऐसी शंका करे कि, जब भक्तिमार्ग भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होता है तो फिर इसमें ये तीन प्रतिबन्धक आते ही क्यों हैं ? इसका उत्तर आपश्री ने **बाधकं** से लेकर **यथा वा** तक के शब्दों से दिया है। यहाँ मूलश्लोक में कहे बाधकं से लेकर यथा वा तक के वाक्यों के अंतर्गत कुल तीन वाक्य समझने हैं - १=यदि भगवान पूर्व में कहे बाधक उत्पन्न नहीं करना चाहते तो जीव की गति है अर्थात् उसे सेवा में सायुज्य प्राप्त होता है। २= यदि बाधक करना चाहते हैं तब **न हि** अर्थात् फल प्राप्त नहीं होता। ३= "जब" और "तब" शब्दों का आपस में नित्य संबंध होता है अतः अर्थ यह हुआ कि - जैसा जैसा बाधक , वैसा वैसा फल अर्थात् बाधक जितना जितना बलशाली होगा, फल भी उतना उतना कम होता चला जायेगा यानि पहले से दूसरा और दूसरे से तीसरा। इस प्रकार यह समझना चाहिए कि भगवदिच्छा से अनुग्रह भी तीन प्रकार के हैं अतः फल भी तीन प्रकार के हैं। जिस जीव का जैसा अधिकार होता है, वह वैसी सेवा करेगा ; और उसके अधिकार के अनुसार उसे फल प्राप्त होगा अतः यहाँ संदेह के लिये कोई स्थान नहीं है।

एवं फलविकल्पे प्राप्ते किं कार्यमत आहुः **अतत्त्वनिर्धार** इत्यारभ्य **बाधकानां परित्याग** इत्यन्तम्। विवृतौ **त्रयाणामिति**। त्रयाणामुद्वेगादीनां साधनस्यातत्त्वनिर्धारस्याविवेकस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरभ्यासेन सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः। ननु तत्त्वनिर्धारविवेकौ किं रूपौ ? तथा हि, तस्य लोकवेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्य भावस्तत्त्वम् , तस्य निर्धरणं निर्धारः। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" , "स हैतावानास", "अखण्डं कृष्णव"दित्यादिभिः सर्वत्र भगवद्भावनम्। विवेकस्तु "हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती"ति सर्वत्र भगवत्कृतिः।

अब मानों यदि उसे पहला फल न मिलकर दूसरा या तीसरा फल मिला तो वह क्या करे ? इसका उत्तर आपश्री **अतत्त्वनिर्धार** से लेकर **बाधकानां परित्यागः** तक के शब्दों द्वारा दे रहे हैं। विवृति में आपश्री ने यह बात **त्रयाणां** इत्यादि शब्दों से कही है।****** इसके आगे की पंक्ति यदि मूलग्रंथ में देखेंगे तो पता चलेगा कि "त्रयाणामुद्वेगादीनां साधनस्यातत्त्वनिर्धारस्याविवेकस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरभ्यासेन सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः" यों छपा हुआ है। परंतु मेरे विचार से "तत्त्वनिर्धारविवेकयोरभ्यासेन" इस प्रकार से पाठ मानना उचित है। यदि ऐसा पाठ नहीं मानेंगे तो पंक्ति का व्यवस्थित अर्थघटन नहीं हो पायेगा। यदि कोई महानुभाव इसके अतिरिक्त मूल में छपी पंक्ति से ही अर्थघटन कर सकते हों तो अवश्य कृपा करके सूचित करें, मैं आगामी प्रकाशन में उनका अर्थ नामसहित छपवा कर उनका आभारी रहूँगा)***** ये उद्वेग आदि प्रतिबन्ध होने के कारण अतत्व का निर्धारण करना एवं अविवेकपूर्ण रहना हैं ; इनके विपरीत तत्त्व का निर्धारण कर लेने एवं विवेकपूर्ण ढंग से रहते हुए इन प्रतिबन्धों को दूर करना चाहिए। तत्त्वनिर्धार एवं विवेक किसे कहते हैं ? तो समझिए कि, उस लोकवेद में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम का भाव करना तत्त्व है और उस भाव का मन में निर्धारण कर लेना निर्धार है। पुरुषोत्तम का भाव करने का अर्थ यह है कि - "यह सारा जगत् निश्चितरूप से ब्रह्म ही है(छन्दो० ३-१४-१)" ,"वह उतना ही हुआ(बृ० १-४-३)" ,"जगत् में सभी कुछ कृष्णरूप ही है(सर्व० १८२)" इत्यादि वाक्यों द्वारा सर्वत्र भगवान की ही भावना करनी। विवेकपूर्ण रहने का तात्पर्य है - "हरि सभी कुछ उनकी अपनी इच्छा से ही करते हैं(वि०धै०आ०-१)" इस वाक्य द्वारा सभी परिस्थितियों में ये सोचना कि, यह सभी भगवान ने ही किया है।

ननु बाधकानां मध्ये भोगस्यापि त्यागे जाते तं विना शरीरस्थितेरसम्भवात् सेवाया असिद्धिमाशङ्क्य त्यागे व्यवस्थामाहुः **भोगेपीति**।

भोगेप्येकं तथा परम्
निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ४॥

भोगो हि द्विविधः, लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकस्त्याज्य एव। प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्चेति। तत्राद्यो बुद्धया त्याज्यः। अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति। भगवत्कृतश्चेत्प्रतिबन्धस्तदा भगवान्फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तदान्यसेवापि व्यर्था। तदासुरोयं जीव इति निर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेकः।

भोगप्रतिबन्धयोरेकैकं परित्याज्यम्। अपिशब्देन प्रतिबन्धस्य ग्रहणम्। तथा परं द्वितीयं निष्प्रत्यूहं विघ्नरहितम् , तत्र हेतुः, महान्भोगः। एवं प्रतिबन्धरूपं वस्त्वपि निष्प्रत्यूहम्। तत्र हेतुः, सदेति। एतत्सर्वं मनसि कृत्वा विवृतौ तात्पर्यमाहुः सूचिकटाहन्यायेन।

अब प्रश्न यह होता है कि बाधकों का त्याग करने के अंतर्गत भोग का भी त्याग कह दिया गया है ; अब भोग बिना तो शरीर रह नहीं सकता अतः शरीर ही न रहने से सेवा भी कैसे बन पायेगी ? ऐसी आशंका होने पर किस भोग का त्याग करें और किस भोग का नहीं इसकी व्यवस्था आपश्री **भोगेपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

उपर्युक्त श्लोक के विषय में आचार्यचरणों ने अपने विवरण में **भोगो हि** इत्यादि शब्दों से लेकर **विवेकः** तक के शब्दों से कहा है। आपश्री यह कहना चाहते हैं कि भोग एवं प्रतिबन्ध इन दोनों में से एक-एक का त्याग करना है क्योंकि **भोगेपि** शब्द में जुड़े **अपि** शब्द से प्रतिबन्ध भी समाहित हो जाता है। दूसरा भोग निष्प्रत्यूह है , विघ्नरहित है क्योंकि यह भोग महान है। इसी प्रकार भगवत्कृतप्रतिबन्ध को भी कोई रोक नहीं सकता, जिसका संकेत आपश्री के **सदा** पद से मिलता है अर्थात् जब तक स्वयं भगवान चाहें तब तक भगवत्कृतप्रतिबन्ध सदा बना रहता है। यह सभी कुछ मन में रखते हुए आचार्यचरण अपनी विवृति में इन सभी का तात्पर्य **सूचीकटाहन्याय** से कर रहे हैं। ******(जब सरल एवं कठिन दो कार्यों को करना हो तो पहले वो कार्य किया जाता है जो सरल हो एवं जिसका काम पहले पड़ना है। तत्पश्चात् कठिन काम हाथ में लिया जाता है। इसे सूचीकटाहन्याय कहते हैं। सूची यानि सुई एवं कटाह यानि कढ़ाई। इन दोनों में सुई बनानी सरल है तो पहले सरल काम ही किया जाना चाहिए। यहाँ भोग को समझाना सरल है अतः पहले भोग की चर्चा की जा रही है, यह अर्थ है) ******।

पूर्वं भोगद्वैविध्यमाहुः भोग इति। लौकिकालौकिकभेदेन भोगो द्विधा। अत्र लौकिको भोगो लौकिकासक्तिरूपत्वात् सेवासमयरोधकत्वात्त्याज्यः। एवं लौकिकभोगं निरूप्य हेतुसहितमलौकिकभोगं निरूपयन्ति तथेति। विवृतौ अलौकिकेति। अलौकिको यो भोगः स तु फलत्रये यदाद्यमलौकिकसामर्थ्यं तस्मिन् सति भगवद्दत्तप्रसादेन भवतीति तत्प्रवेश उक्तः। एवं च तस्यात्याज्यत्वे बीजमुक्तम्। एवं द्विप्रकारकं भोगं निरूप्य द्वितीयप्रतिबन्धस्य निर्विघ्नत्वे यो हेतुर्मूलेसदापदेनोक्तस्तं विवृतौ भगवत्कृत इत्यादिना विशदयन्ति। सेवायां प्रवृत्तस्य यदा दुःसङ्गादिना भगवदीयद्रोहे कृते प्रभुः स्वयं प्रतिबन्धं करोति, तदा सेवायामरुचिर्भवति, तदा सर्वथा फलाभावः, तदा तदुपायार्थमन्यसेवनं न कर्तव्यम् , व्यर्थत्वात् , तदायं जीव आसुर एव। दैवजीवे सर्वथा फलाभावाभावात्। तदा एतादृशे प्रतिबन्धे चिन्तानिवृत्त्यै आदिसृष्टौ भगवान् जीवं यथा विचारितवांस्तथैव निजेच्छया करिष्यतीत्यादिरूपेण ज्ञानमार्गेण स्थातव्यम्।

सो सर्वप्रथम दो प्रकार के भोग के विषय में आपश्री **भोगः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। लौकिक-अलौकिक भेद से भोग दो प्रकार का होता है। इसमें लौकिकभोग लौकिक आसक्ति को बढ़ाता है अतः सेवा में अवरोध पैदा करता होने के कारण त्याज्य है। इस प्रकार लौकिकभोग का निरूपण करके आचार्यचरण **तथा** इत्यादि शब्दों से अलौकिकभोग का कारणसहित निरूपण कर रहे हैं। विवृति में इसे आपश्री ने **अलौकिक** इत्यादि शब्दों से कहा है। अलौकिकभोग तो तीन फलों में जो पहला अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य में प्रवेश करता है ; अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य प्राप्त होने पर भगवान द्वारा दिये गये प्रसाद का उपभोग करने का नाम है अलौकिकभोग ; और इसी कारण आपश्री ने कहा कि अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्य के अंतर्गत प्रविष्ट होता है।इस प्रकार आचार्यचरणों ने अलौकिकभोग का त्याग न करने का कारण कहा। यों दो प्रकार के भोग का निरूपण करके आपश्री ने द्वितीय प्रतिबन्ध हटाया नहीं जा सकता यह कहा, जिसको आपश्री ने **सदा** पद से कहा है, उसी का विस्तार विवृति में **भगवत्कृत** इत्यादि शब्दों से किया है। इसका अर्थ यह है कि, सेवा में प्रवृत्त होने वाला जीव जब दुःसंग आदि से भगवदीय का द्रोह करता है तब स्वयं प्रभु उसे प्रतिबन्ध करते हैं। तब उसे सेवा में अरुचि उत्पन्न होती है जिसके कारण उसे सेवा में सर्वथा फल का अभाव हो जाता है। तब इसका उपाय करने के लिये अन्य किसी की सेवा भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह व्यर्थ है। ऐसी परिस्थिति में वह जीव

आसुर ही है। दैवीजीव को तो फल के अभाव की परिस्थिति सर्वथा आती ही नहीं। ऐसा प्रतिबन्ध होने पर चिन्ता दूर करने के लिये मन में यह विचार करें कि –सृष्टि के आरंभ में भगवान ने जीव के लिये जो सोचा है, वही उनकी अपनी इच्छा से करेंगे – ऐसा सोच कर ज्ञानमार्ग के रास्ते पर रहना चाहिए।

एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोरत्याज्यतामुक्त्वा साधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्त्यक्तव्यत्वे विवृतौ बीजमवतारयन्ति **साधारणेति**। साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह **सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति**। ननु लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ केन हेतुना केन प्रकारेण च त्यक्तव्याविति व्याकुर्वन्ति **सविघ्न इति**। लौकिको भोगः सविघ्नत्वाल्पत्वाभ्यां हेतुभ्यां बलाद्धठात्त्याज्यः। घातकत्वेन हेतुना साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्यः। नन्वेतत्त्यागप्रकारस्तत्त्वनिर्धारविवेकरूपः पूर्वमुक्त इति पुनः किमर्थमुच्यते ? सत्यम्। पूर्वं यदुक्तं स तु नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागरूपः। अयं तूत्पन्नयोस्त्यागप्रकारोत उच्यते।

इस प्रकार अलौकिकभोग एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध त्याज्य नहीं है, यह कहकर साधारणप्रतिबन्ध एवं लौकिकभोग का त्याग करने का कारण आपश्री अपनी विवृति में **साधारण** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। साधारणभोग का त्याग क्यों करें, इसका उत्तर आपश्री ने **सविघ्नोल्पो घातक स्यात्** इत्यादि शब्दों से दिया है। अब लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध किस कारण एवं क्यों त्याग देने चाहिए , यह आपश्री **सविघ्नः** आदि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य है – लौकिकभोग विघ्नसहित एवं अल्प होने के कारण बलपूर्वक त्याग दें। और घातक होने के कारण साधारण प्रतिबन्ध त्याग दें। किंतु शंका यह होती है कि इन प्रतिबन्धों को त्याग देने का प्रकार तो आचार्यचरणों ने तत्त्वनिर्धार एवं विवेक के रूप में पहले ही कह दिया गया था, अब यहाँ फिर से उसी को क्यों कह जा रहे हैं ? बात सच है। पूर्व में जो कहा था, वो नये प्रतिबन्धों एवं उनके उत्पन्न होने के साधनों को दूर करने का उपाय बताया था। यहाँ जो बात कही जा रही है वह तो पहले से ही उत्पन्न हुए प्रतिबन्धों को दूर करने का उपाय बताया है अतः पुनः कहा।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः। **एतौ** सदा प्रतिबन्धकौ। **बलादिति**। यत एतौ **सदा** क्षणेक्षणे सेवासमयरोधकत्वेन **मतौ** ज्ञातौ। अतो बलाद्धठाद्बुद्ध्योपायचातुर्येण त्याज्यौ। तत्स्वरूपं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः। तथाहि, "यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानींतना सेवा गता, मया गानाद्यासक्त्या जागरः कृतश्चेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेय"मिति।

पंक्ति का अर्थ यह है कि- विघ्नसहित एवं अल्प होने के कारण भोग त्याज्य है। **एतौ** अर्थात् लौकिभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध सदा प्रतिबन्धक होते हैं। इसमें बलात् शब्द का अर्थ है – कारण कि ये दोनों सदा क्षण क्षण में सेवा के समय में अवरोधक माने गये हैं अतः बलात् अर्थात् हठपूर्वक बुद्धि की चतुराई रखते हुए इनका त्याग करें। श्रीपुरुषोत्तमजी ने तो इनका स्वरूप निम्नलिखित वाक्यों से किया है। " अधिक भोजन करूँगा तो मेरी सेवा जायेगी" , "मैं गाने में आसक्त होकर जागता रहा अतः अब सेवा के समय मुझे निद्रा आ रही है, अब से मैं ऐसा नहीं करूँगा" आदि-आदि विचार करके बुद्धिपूर्वक इन प्रतिबन्धों को दूर करने का प्रयत्न करते रहें।

प्रकृतमनुसरामः। अतःपरं ज्ञानस्थित्ययोग्यानां भगवत्कृतप्रतिबन्धे स्थितिप्रकारमाहुः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्याऽसंसारनिश्चयात्॥ ५॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः। ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह **द्वितीय इति**। द्वितीय इति भगवत्कृतप्रतिबन्धे ज्ञानस्थितावपि पुष्टिमार्गीयफलविषयिणी चिन्ता सर्वथाऽत्याज्या। कुतः ? असंसारनिश्चयात्। अत्रायमर्थः। "अस्मिन्पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यत" इति वाक्येन अलीखानादिरिव जन्मान्तरे उद्धरिष्यति।

ठीक है, अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें। इतने विवेचन के पश्चात् अब आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि ज्ञानस्थिति के अयोग्य जीवों को भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर कैसे रहना चाहिए।

आपश्री आज्ञा करते हैं – द्वितीय प्रतिबन्ध भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध है। जब भगवान प्रतिबन्ध करें, तब जो जीव ज्ञानस्थिति में भी नहीं रह सकते, उनके लिये चिन्ता न करने का उपाय आचार्यचरण कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि दूसरा भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होने पर भले ही ज्ञानस्थिति या ज्ञानमार्ग में न रह पाते हों, तथापि एक पुष्टिमार्गीय जीव को पुष्टिमार्ग का

फल प्राप्त होने की चिन्ता सर्वथा छोड़ नहीं देनी है अपितु चिन्ता करते रहनी चाहिए। चिन्ता क्यों करते रहनी चाहिए ? तो आपश्री कहते हैं - **असंसारनिश्चयात्** अर्थात् मन में यह निश्चय रखें कि पुष्टिमार्ग में आने वालों को प्रभु कभी संसार में नहीं गिरायेंगे। इसका अर्थ यह है - जैसा कि आचार्यचरणों ने निबंध में "यह पुष्टिमार्ग समस्त मार्गों से उत्तम है, इसमें पतन का भय नहीं है(सर्व०-२२२)" इस प्रकार से कहा है अतः प्रभु अलीखान पठान की भाँति अगले जन्मों में भी उद्धार तो अवश्य करेंगे।

एवं भोगप्रतिबन्धौ त्याज्यत्वेन विचार्य उद्वेगत्यागे बीजं वदन्ति **नन्विति**।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

आद्यफलाभावे भगवतो दानृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति। अत्र पाठद्वयम्। **नन्विति, न त्विति**। नु निश्चयेन, आद्ये उद्वेगे सति फलविषयिणी चिन्ता न त्याज्या। तत्र हेतुमाहुः **भगवतो दातृता नास्ति**। एतदेव विवृतावाद्येत्यादिनोक्तम्। एवं च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वादुद्वेगोपि त्याज्यः, यदिच्छाकृतो यस्तूद्वेगः, स एवैनं निवारयिष्यतीतिविचारेण त्याज्यः। एवं जानतोपि यथाकथञ्चित्सेवायां प्रवृत्तस्य यदा लौकिकभोगः प्रतिबन्धं करोति तदा कर्तव्यमाहुः **तृतीय** इति। विवृतौ तदपि भोगेत्यादिना व्याचक्षते। **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः**। तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धे गृहमेव त्यजेत् , कृष्णार्थमेव गृहं प्रयुञ्जीत। तथा कृते भोगस्यालौकिकत्वं सिध्येदिति लौकिकभोगस्त्यक्त एव।

तो इस प्रकार से भोग एवं प्रतिबन्ध त्याज्य हैं यह विचार करके आगे के श्लोक में आचार्यचरण **ननु** इत्यादि शब्दों से उद्वेगत्याग करने का कारण कह रहे हैं।

आपश्री ने विवरण में इस बात को **आद्यफलाभावे..... भवति** इत्यादि शब्दों से कहा है। यहाँ दो पाठ माने गये हैं- **ननु** और **न तु**। नु शब्द निश्चित अर्थ को बताने के लिये प्रयोग किया जाता है अर्थात् यह निश्चित तौर पर मानें कि आद्ये-उद्वेग होने पर फलविषयिणी चिन्ता करनी मत छोड़िए और इसका कारण यह है कि भगवान की फल देने की इच्छा नहीं है ऐसा नहीं है परंतु अभी मन में होने वाले उद्वेग के कारण भगवान फलदान नहीं कर रहे हैं अतः फल मिलने की चिन्ता बनाए रखें। यही बात आपश्री ने अपनी विवृति में **आद्यफलाभावे** इत्यादि शब्दों से कही है। अतः उद्वेग सेवा को आधिदैविकी नहीं बनने देता इसलिये त्याज्य है। यह मानें कि, जिसने अपनी इच्छा से उद्वेग उत्पन्न किया है, वही भगवान इसका निवारण भी करेंगे- ऐसा सोच कर उद्वेग करना छोड़ दें। जो जीव इस बात को जान रहा है, वह जैसे तैसे सेवा में प्रवृत्त हो और उसे लौकिकभोग सेवा में प्रतिबन्ध करे, तो उसे क्या करना चाहिए यह आपश्री **तृतीय** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस बात को भी विवृति में आपश्री ने **भोगाभावः** आदि शब्दों से कहा है। आपश्री कहते हैं - भोग तभी दूर हो सकते हैं, जब **गृहपरित्याग करेंगे**। तात्पर्य यह कि जब तीसरा भोगरूपी प्रतिबन्ध होता हो तो गृह का ही त्याग कर देना चाहिए अर्थात् गृह का उपयोग कृष्ण के लिये ही करें। ऐसा करेंगे तो भोग भी अलौकिक बन जायेगा एवं लौकिकभोग तो छूट ही गया समझो।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥
तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।
गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः।

एवं कठिनांशं स्वयं व्याकृत्य गृहत्यागेऽसमर्थानां यत्कर्तव्यं तदाहुः **अवश्येति**। इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावश्या, अतो बाधकानामुपस्थितौ स्वदैन्यसिद्धये सदा विचारणीया। अन्यत्सर्वमिदं साध्वसाधु वा मत्कृतमित्यादिरूपं मनोभ्रमः चित्तबाहिर्मुख्यमेवेति ज्ञेयम्। ननु भगवान् सत्यप्रतिज्ञः, यथा पूर्वं विचारितवांस्तथैव करिष्यतीति किमेतेनेत्याशंक्याहुः **तदीयैरिति**। एते हि समर्पणेन तदीयाः। स्वकीयानां सर्वं चिन्तनं भगवत एव करणीयम्। अतो भगवदीयैरपि तदुक्तभावनं कार्यम्। एतेनानन्यशरणान् ज्ञात्वा पुष्टावनुग्रहे भगवान् बाधकेषु सत्स्वपि नैव विलम्बयेत् , फलं दद्यादेव।

इस प्रकार से ग्रंथ के जो कठिन अंश थे, वे आचार्यचरणों ने स्वयं विवृति लिखकर स्पष्ट कर दिए। अब जो गृहत्याग नहीं कर सकते वे क्या करें , यह आपश्री अग्रिमश्लोक में **अवश्या** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - इस ग्रंथ में कहे तीन फल एवं तीन प्रतिबन्ध जीव के वश में नहीं हैं अतः जब बाधक आएँ तब अपनी दीनता बनाये रखने के लिये सदा इनका *चिंतन करते रहें। इस ग्रंथ में कही बात के अतिरिक्त अन्य सभी उचित-अनुचित , खुद का सोचा हुआ सभी कुछ मन का भ्रम है,* चित्त की बहिर्मुखता ही जानें। किंतु शंका यह है कि, भगवान की प्रतिज्ञा तो कभी टल नहीं सकती अतः उन्होंने जैसा पहले विचार कर रखा है, वैसा ही **करेंगे** ; फिर फल एवं प्रतिबन्धों के विषय में इतना सब विचार करने का क्या लाभ ? तो इसका समाधान आपश्री **तदीयैः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि, ये समर्पण के द्वारा तदीय बने हैं अतः जो ऐसे स्वकीय हैं उनकी समस्त चिंताएँ तो भगवान ही करते हैं, सो भक्तों को भी उनकी कही बात का चिंतन तो करना ही चाहिए। ऐसा करने पर जीव को अनन्यशरण जानकर पुष्टौ-अनुग्रह करने पर भगवान बाधकों के होते हुए भी विलंब नहीं करेंगे, फल देंगे ही।

ननु चित्तजानां गुणानां क्षोभे विचारे क्रियमाणेपि प्रतिबन्धो भवेदेव तदा यत्कार्यं तदाहुः गुणेति। सत्त्वादिगुणेषु क्षुभ्यमाणेष्वपि भगवत्कृतः प्रतिबन्ध एव कारणमिति द्रष्टव्यम्। तदापि भगवदिच्छाविचारणमेवोपायो नान्यः। मम मतेरत्रैव पर्यवसानम्। सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति पूर्वमुक्तत्वात्। अत्रास्मिन्विषये काचित्कुसृष्टिः कुबुद्धियुक्तिः भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य निवारणे अन्योप्युपायोस्त्येतद्रूपा मनसि जायेत तदा सापि भ्रमरूपैवेतिज्ञेयम्। एतेनानन्यभावनपूर्वकं भगवदीयैः स्थेयम्॥ ६ ,७॥

इतिश्रीसेवाफलविवृतिव्याख्यानं समाप्तम्।

परंतु उपर कहे अनुसार चिंतन करने पर भी चित्त में होने वाले गुणों का क्षोभ होने पर प्रतिबन्ध तो होगा ही अतः मन में **गुणक्षोभ** होने पर (मन की विकलता होने पर) जो करना है, उसे आपश्री **गुण** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। समाधान यह है कि सत्त्वादि गुणों का क्षोभ होने पर भी - यह प्रतिबन्ध भी भगवान ही कर रहे हैं - यह सोचना चाहिए। तब भी भगवद्-इच्छा का विचार करना ही उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। आपश्री कहते हैं - मेरा मत तो यही है, अन्य सभी कुछ तो मन का भ्रम है। **आपश्री यह** कह रहे हैं कि - हमारे कहे से अतिरिक्त "भगवान द्वारा किये गये प्रतिबन्ध को दूर करने के अन्य दूसरे भी कोई उपाय **हो सकते हैं**" इस प्रकार कोई कुसृष्टि या कुबुद्धि मन में पैदा होती है, तो वह भी भ्रमरूपा ही है यह जान लीजिए। इस बात से ज्ञात होता है कि भगवदीयों को भगवान के प्रति अनन्यभाव से रहना चाहिए॥ ६॥ ७॥

यह श्रीसेवाफलविवृति का व्याख्यान समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः

सेवाफलम्।

लालूभट्टोपनामश्रीबालकृष्णदीक्षितविरचितटिप्पणीसमेतम्।

* * *

श्रीराधावदनेन्दुश्रीपानमत्तचकोरकम्।
गोवर्धनधरं वन्दे व्रजराजकिशोरकम्॥ १॥
श्रीमदाचार्यवर्यश्रीविट्ठलेशकृपाबलात्।
सेवाफलस्य विवृतेर्विवृतिं वितनोम्यहम्॥ २॥
यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

सेवायां फलत्रयमिति। सेवायां सिद्धायां सत्यामित्यर्थः। मूले **यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यत इत्यत्र सिद्धाविति**कथनात् सिद्धस्यैव सर्वत्र फलसाधकत्वात्। तथा च यादृशी सेवना तृतीयस्कन्धे देवहूतिं प्रति कपिलदेवेन 'देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या। अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'त्यनेन भक्तिशब्देनोक्ता, तस्याः सिद्धौ मुख्यमध्यमहीनाधिकारभेदेन फलत्रयं ज्ञेयम्।

श्रीराधा के मुखचंद्र की श्री का पान करने के लिये मत्त चकोररूप
श्रीगोवर्धनधर व्रजराजकिशोर को नमस्कार॥ १॥
श्रीमदाचार्यवर्य एवं श्रीविट्ठलेश के कृपाबल से
सेवाफलविवृति की विवृति कर रहा हूँ ॥२॥

सेवायां फलत्रयम् का अर्थ है - सेवा सिद्ध हो जाने पर जो तीन फल प्राप्त होते हैं, वे। मूल में श्लोक में "सेवा सिद्ध हो जाने पर" यों कहा गया है, क्योंकि सिद्ध हुई वस्तु ही फल को साध सकती है। तात्पर्य यह है कि, जो बात यहाँ **सेवना** शब्द से कही गयी है, वही बात श्रीमद्भागवत में "जिसका चित्त एकमात्र भगवान में ही लग गया है, ऐसे मनुष्य की विषयों का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों की भगवान के प्रति जो स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, वही अहैतुकी भक्ति है(३-२५-३२)" इस वाक्य द्वारा भक्ति शब्द से कही गयी है ; आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि ऐसी भक्ति सिद्ध हो जाने पर मुख्य-मध्यम-हीनाधिकारी भेद से सेवा में तीन फल प्राप्त होते हैं।

तदेव **फलत्रयमाहुः अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति**। **अलौकिकसामर्थ्यं** तु साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वम्। 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि। रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ती'तिवाक्यादिह 'पश्यन्ति त' इति तच्छब्देन 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः' इति पूर्वश्लोके उक्ता मोक्षानभिलाषिणो गृह्यन्ते। तेषां मोक्षान्तपुमर्थानभिलाषात् स्वतन्त्रसेवैकाकांक्षया **अलौकिकसामर्थ्यं** भवति। तेषां पूर्वोक्तभक्त्या प्राकृतलिंगशरीरं नश्यति "जरत्याशु या कोश"मिति वाक्यात्। ततो लिंगशरीरनाशे सति भगवद्दर्शनाद्यभावे प्रसक्ते सायुज्ययोग्यतायां यदि भगवान् कृपयति तदा दिव्यान्यलौकिकेन्द्रियाणि सम्पादयति, ततस्तैर्भगवद्दत्तैरप्राकृतेन्द्रियैः 'पश्यन्ति ते मे' इति श्लोकोक्तं दर्शनादि सिध्यति।

तदेतदुक्तं मूले।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्य सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

वे तीन फल हैं - **अलौकिकसामर्थ्य** , **सायुज्य** एवं **वैकुण्ठ इत्यादि में सेवोपयोगिदेह**। **अलौकिकसामर्थ्य** का अर्थ है - साक्षात् श्रीवृन्दावन आदि में श्रीकृष्ण के स्वरूप का दर्शन, स्पर्श आदि कर सकने की सामर्थ्य। जैसा कि श्रीमद्भागवत क

" जिनका चित्त एकमात्र मुझमें लग गया है, वे मेरे परम सुंदर वरदायक मनोहर दिव्यरूपों की झाँकी करते हैं(३-२५-३५)" इस वाक्य में कहा गया है। इस श्लोक में उन जीवों के बारे में कहा गया है , जिनके लिये इससे पूर्व के श्लोक "नैकात्मतां(३-२५-३४)" इस वाक्य में कहा गया है कि, प्रभुचरणकमलों की सेवा के सामने वे मोक्ष की भी कामना नहीं रखते। ऐसे भक्तों को मोक्षपुरुषार्थ की अभिलाषा नहीं होती, केवल स्वतन्त्रसेवा की आकांक्षा से उनमें अलौकिकसामर्थ्य उत्पन्न होती है। इन श्लोकों में बतायी गयी भक्ति के द्वारा उनका प्राकृत लिंगशरीर नष्ट हो जाता है, जैसा कि इन्हीं भागवत के श्लोकों के पहले "जरत्याशु (३-२५-३३)" के श्लोक द्वारा कहा गया है। ऐसी भक्ति द्वारा जब उनका लिंगशरीर नष्ट हो जाता है, तो भगवद्-दर्शन आदि संभव नहीं होता, तो उसे फिर सायुज्य की प्राप्ति होती है। और सायुज्य की योग्यता प्राप्त होने पर भगवान जब कृपा करके उसे दिव्य अलौकिक इंद्रियों का संपादन करते हैं, तब उन भगवान द्वारा दी गयी अलौकिक इन्द्रियों से उसे ऊपर कहे भागवत के ३-२५-३५ श्लोकानुसार भगवान का दर्शन आदि सिद्ध होता है। इसी कारण मूलग्रंथ में आचार्यचरणों ने "अलौकिक का दान होने पर आद्य मनोरथ सिद्ध होता है" यह कहा।

अर्थस्तु **अलौकिकस्येन्द्रियवर्गस्य दाने** भगवता कृते सति **आद्यः** 'पश्यन्ती'त्यादिश्लोकत्रयोक्तेषु त्रिषु फलेषु प्रथमो **मनोरथो** भगवद्दर्शनादिविषयकः सिध्येत् , फलपर्यवसायी भवतीति भगवद्दर्शनादेः परमफलत्वम्। 'अक्षण्वतां फलमिद'मितिश्रुतिरूपगोपिकावाक्यात्। अक्षण्वतामिन्द्रियवतामित्यर्थः। तस्मादलौकिकेन्द्रियदानं भगवत्कर्तृकमपेक्षितम् , अन्यथा पूर्वोक्तभक्त्या 'जरत्याशु या कोश'मितिवाक्याल्लिंगशरीरभंगे दर्शनादिकं न सिध्येदिति भावः।

******* योजना : टीकाकार श्रीभागवत के ३-२५-३२ से लेकर ३५ तक के श्लोकों का आधार लेकर चल रहे हैं। इन श्लोकों में बताया गया है कि, जिस भक्त का चित्त एकमात्र भगवान में लग गया है उसे भगवान के दिव्य दर्शन, संभाषण इत्यादि प्राप्त होते हैं। इन श्लोकों में कहे दर्शन के विषय में टीकाकार का कहना है कि, भक्त को भगवान के दर्शन करने की लालसा होनी ही पहला मनोरथ है।******

मूलश्लोक में कहे **अलौकिकस्य** शब्द का अर्थ है - अलौकिक इन्द्रियाँ। आपश्री कहते हैं - भगवान जब अलौकिक इन्द्रियों का दान करते हैं, तब श्रीभागवत के (३-२५-३५)इत्यादि श्लोकों में कहे तीन फलों में से पहला भगवद्-दर्शन वाला **मनोरथ** सिद्ध होता है। अर्थात् ऐसा दान होने पर फल प्राप्त हो जाता है क्योंकि भगवान का दर्शन आदि करना ही तो परमफल है। श्रुतिरूपा गोपिकाओं ने भी यही बात "श्यामसुंदर श्रीकृष्ण का गौएँ चरा कर वापस आते हुए दर्शन करना नेत्रों का परमफल है(श्री०भा० १०-२१-७)" इस श्लोक द्वारा कही है। इस श्लोक में आँख वाले कहने का अर्थ इन्द्रियों वाले ही हैं। अतः अलौकिक इंद्रियों का दान तो प्रभु ही करते हैं , अन्यथा तो पहले कही भक्ति(श्री०भा० ३-२५-३३ में कही) के अनुसार लिंगशरीर तो भस्म हो जाता है अतः जब शरीर ही न रहा तो भगवान का दर्शन भी तो संभव नहीं हो पायेगा, यह भाव है।

न च मास्तु दर्शनादि, सायुज्यमेवास्त्वितिवाच्यम्। 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि'दितिवाक्येन तेषां तदनभिलाषात्। इह एकात्मतां न स्पृहयन्ति, अपि तु दर्शनादिकमेव स्पृहयन्तीत्यर्थादायाति। 'मत्पादसेवाभिरता' इति वाक्यात्। अत एव मूले स्पृहापदपर्यायः मनोरथशब्द उक्तः। अत एव वृत्रासुरेणोक्तं 'न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे' इति। अर्थस्तु अपुनर्भवं मोक्षमपि त्वां विरहय्य न कांक्षे अपि तु त्वामेव फलत्वेन कांक्ष इति।

अब कोई ये शंका करे कि, चलो भले ही दर्शन आदि न हो परंतु सायुज्य ही मिल जाय ! तो श्री० भा० ३-२५-३४ के अनुसार ऐसे भक्त तो सायुज्यमोक्ष की अभिलाषा ही नहीं रखते। इस श्लोक से अर्थ यह स्फुट होता है कि, वे भक्त भगवान से एकाकार होने की स्पृहा नहीं करते अपितु भगवान के दर्शन आदि की स्पृहा करते हैं क्योंकि ये बात इसी श्लोक में भगवान ने "मेरी सेवा में युक्त सायुज्य की भी कामना नहीं करते" यों कही है। इसी कारण इस श्लोक में कहा गया स्पृहा पद ही यहाँ आचार्यचरणों ने मनोरथ के दूसरे नाम से कहा है। जो बात वहाँ स्पृहा पद से कही गयी, वही बात आपश्री ने यहाँ मनोरथ पद से कही है। इसी कारण वृत्रासुर ने भी "हे प्रभु ! आपको छोड़ कर न मुझे योगसिद्धि चाहिए न मोक्ष(श्री० भा० ६-११-२५)" यह कहा है। इस श्लोक में कहे अपुनर्भवं शब्द का अर्थ है - मोक्ष; अर्थात् वृत्रासुर कह रहा है कि, हे भगवान तुम्हें छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहिए अपितु तुम्हें ही चाहता हूँ।

एतदेव श्रीव्रजसुन्दरीभिरुक्तं 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम' इति। परो मोक्षः सायुज्यादिरिति सुबोधिन्यां व्याख्यातं च। अत इन्द्रियवतामिदमेव रसात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्। 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे'ति सुबोधिन्या'मात्मलाभान्न

परं विद्यते'तिश्रुतेर्मोक्षस्यैव पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम् , तद्रहितानां तु मोक्ष एव फलमिति व्यवस्थापितम्। पुष्टिभक्तास्तु भगवद्दत्तेन्द्रियाणि लब्ध्वा सकलेन्द्रियैः रसात्मकं स्वरूपमनुभवन्ति।

इसके विषय में आचार्यचरणों ने "इन्द्रियवानों का भगवान के संग वार्तालाप, उनका दर्शन, उनसे मिलना इत्यादि फल ही मोक्ष है(सु० १०-१८-७)" इसकी सुबोधिनी में समस्त इन्द्रियों द्वारा भगवान का भोग करना ही मोक्ष बताया है। और इसी कारण इसी श्लोक की सुबोधिनी में आपश्री ने निम्नलिखित बातें कही हैं......... मेरी दृष्टि से प्राचीनग्रन्थों में छपी हुई - "आत्मलाभान्न परं विद्यते"तिश्रुतेर्मोक्षस्यैव पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्"- यह पंक्ति अशुद्ध होनी चाहिए क्योंकि यह पंक्ति मान लेंगे तो अर्थ व्यभिचरित हो जायेगा। मेरे मत से इस पंक्ति को सुधार कर- "आत्मलाभान्न परं विद्यते"तिश्रुतेर्मोक्षस्यैव पुरुषार्थरूपमेव फलम्"- यों पढ़नी चाहिए। पहली वाली पंक्ति से अर्थ करने पर किसी भी कोण से व्यवस्थित अर्थ नहीं बैठता। विशेष जानने के लिये उक्त श्लोक की सुबोधिनी(१०-१८-७) देखें। .... आपश्री ने उक्त सुबोधिनी में "मोक्ष (आत्मलाभ) मिल जाना ही परम पुरुषार्थ है" इस श्रुति का उदाहरण देकर प्रश्न यह उठाया है कि, यदि कोई इस श्रुति का हवाला देकर यह कहे कि यदि मोक्ष मिल जाना ही परम पुरुषार्थ है तो फिर गोपिकाएँ यह कैसे कह रहीं है कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं है अपितु इंद्रियों द्वारा भगवान का दर्शन-स्पर्श कर लेना ही परम पुरुषार्थ है ? तो इसके स्पष्टीकरण देते हुए आचार्यचरणों ने लिखा कि- गोपिकाएँ भी तो खुद ही उपनिषद्रूप हैं अतः वे ही जानती हैं कि वास्तव में परम पुरुषार्थ क्या है। वे कहती हैं- देह-इंद्रियों से रहित केवल आत्मा के लिये मोक्ष परम पुरुषार्थ हो सकता है परंतु देहधारियों या इंद्रियवानों के लिये तो भगवद्-दर्शन ही परम पुरुषार्थ है। पुष्टिभक्त तो भगवान द्वारा प्रदत्त इन्द्रियों को पाकर समस्त इन्द्रियों द्वारा प्रभु के रसात्मकस्वरूप का अनुभव करते हैं।

न ह्येतादृत्त्वं सायुज्यादाविति। 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा संघातस्य विलीनत्वा'दितिनिबन्धात्। अत एव 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इत्यनेन सालोक्यादीनामग्रहणमुक्तम्। न च मोक्षसुखाज्ञानान्न गृह्णन्तीतिवाच्यम्। 'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोन्यत्कालविलुप्त'मिति वाक्ये सेवया पूर्णा इत्युक्त्या तेषां भगवता सभाजनात् , अन्यथा अज्ञत्वान्न गृह्णन्तीति भगवान् तेषां निन्दामेव कुर्यान्न स्तुतिम्। अतो ज्ञायते भगवत्सेवायां मोक्षादप्यधिकरसोस्तीति। 'मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति वाक्याच्च। अतः फलदशायामाधिदैविकवृन्दावनादौ या फलरूपा भगवत्सेवा सा मोक्षादप्युत्कृष्टा।

यह सब सायुज्य में नहीं होता। क्योंकि निबंध में कहे "ब्रह्मानंद में एकाकार होने वालों को आत्मा में ही सुख का अनुभव होता है क्योंकि शरीर तो रहता नहीं, भगवान में ही विलीन हो जाता है(शा०प्र०-५०)" इस वाक्यानुसार सायुज्य में तो केवल आत्मा ही रहता है। और इसी कारण प्रभुसेवा में प्रीति रखने वालों को "मेरी सेवा में प्रीति रखनेवाले देने पर भी सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्ति नहीं स्वीकारते(श्री०भा०३-२९-१३)" इत्यादि वाक्यों द्वारा मोक्ष की भी कामना नहीं होती। ऐसा भी नहीं है कि वे मोक्षसुख से अनभिज्ञ होते हैं इसलिये कामना नहीं करते क्योंकि श्रीमद्भागवत में भगवान ने "मेरे अनन्यप्रेमी भक्त मेरी सेवा से ही अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं, उन्हें फलरूप से चारों मुक्तियाँ भी दे दी जाएँ , तो भी वे नहीं स्वीकारते(९-४-६७)" इस वाक्य द्वारा उनकी प्रशंसा ही की है। यदि मोक्षसुख से अनभिज्ञ होने के कारण वो मोक्ष को ठुकराते होते तो भगवान ने उनकी निंदा ही की होती, स्तुति नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भगवत्सेवा में मोक्ष से भी अधिक रस है। यही बात "मधुसूदन की सेवा में अनुरक्त चित्त वालों के लिये मोक्ष भी तुच्छ है (श्री०भा० ५-१४-४४)" इस वाक्य में भी कही गयी है।

अतः सा भगवता परमानुग्रहभाजनाय तादृशाधिकारिणे पुष्टिभक्ताय दीयते, न तु सर्वेभ्यः भक्तेभ्य इति ज्ञेयम्। 'अस्त्वेवमंग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति शुकवाक्यात्। इह भक्तियोगमित्यस्य [१]फलरूपपुष्टिभक्तियोगमित्यर्थो ज्ञेयः। एतस्मिन् श्लोके मुक्तिं ददाति भक्तिं न ददातीत्युक्त्या भगवत्कतृकदानं विना तादृशी भक्तिर्न प्राप्यत इत्युक्तं भवति। अत एवात्रापि मूले **अलौकिककस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथ** इत्यनेन **दानमेवोक्तम्।**

अतः यह समझें कि फलदशा में आधिदैविक वृन्दावन आदि में जो फलरूपा भगवत्सेवा है, वह मोक्ष से भी अधिक उत्कृष्ट है। अतः ऐसी फलरूपा सेवा तो भगवान अपने परम कृपापात्र को ही देते हैं, हर किसी को नहीं। यही बात शुकदेवजी ने भी "भगवान मुक्ति दे देते हैं परंतु भक्तियोग सहज में नहीं देते(५-६-१८)" इस वाक्य द्वारा कही है। इस श्लोक में कहे भक्तियोग शब्द का तात्पर्य फलरूप पुष्टिभक्तियोग ही है। इस श्लोक में शुकदेवजी ने यह कहा है कि, भगवान मुक्ति दे देते हैं परंतु भक्ति नहीं देते अतः ये ज्ञात

---

[१] पुष्टियोगमिति पाठः।

होता है कि जब तक भगवान दान न करें, तब तक ऐसी भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसी कारण आचार्यचरणों ने भी मूलग्रंथ में यह कहा है कि, भगवान जब **अलौकिक का दान** करते हैं, तब **आद्य मनोरथ** सिद्ध होता है।

तथा च सिद्धमेतत्। **अलौकिकसामर्थ्यरूपं** फलं पुष्टिमार्गीयसेवायामेव, फलद्वयं तु मर्यादाभक्तानाम्। ननु तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये 'देवानां गुणलिंगाना'मित्यत्र भक्तेर्लक्षणमुक्त्वा 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिना भक्तिफलत्वेन फलत्रयमुक्तम्। तत् कथमुच्यते **सेवायां फलत्रयमिति चेत्**। न। भक्तिशब्देन सेवाया एवाभिधानात्। भज् सेवायामितिधात्वर्थात्। "लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे। सालोक्यसार्ष्टीसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इत्यत्रादौ भक्तिपदमुक्त्वा, मध्ये सेवनपदं पठित्वा अग्रे स एव भक्तियोगाख्य इति भक्तिपदमुक्तम्। अतोपि ज्ञायते भक्तिशब्देन सेवैव।

अब सिद्ध यह हुआ कि, **अलौकिकसामर्थ्यरूपी** फल पुष्टिमार्गीय सेवा में ही प्राप्त होता है, एवं बाकी बचे दो फल मर्यादाभक्तों को प्राप्त होते हैं। किंतु शंका यह होती है कि तृतीयस्कंध में कपिलजी के "देवानां(३-२५-३२)" इस वाक्य में भक्ति के लक्षण कह कर वहीं आगे "पश्यन्ति(३-२५-३५)" इत्यादि वाक्यों में भक्ति के तीन फल कहे गये हैं। फिर आचार्यचरण यहाँ सेवा में तीन फल की बात कैसे कह रहे हैं ? नहीं, आपकी शंका ठीक नहीं है। भज् धातु सेवा के ही अर्थ में प्रयुक्त होती है अतः वहाँ भक्ति शब्द का तात्पर्य सेवा ही है। इसके अतिरिक्त " मुझ पुरुषोत्तम में अनन्य प्रेम होना भक्तियोग का लक्षण है। ऐसे निष्काम भक्त मेरी सेवा को छोड़ कर देने पर भी सालोक्य आदि मोक्ष नहीं लेते। भगवत्सेवा के लिये मुक्ति का तिरस्कार करने वाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ है(श्री०भा० ३-२९-१२,१३,१४)" इत्यादि वाक्यों में पहले तो भक्ति पद कहा गया है, फिर बीच बीच में सेवा पद कह कर आगे तीसरे श्लोक में सेवा को ही भक्तियोग का नाम दिया गया है। इससे भी पता चलता है कि भक्ति शब्द का अर्थ सेवा ही है।

'देवानां गुणलिंगाना'मितिलक्षणमुक्त्वा 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा' इत्यत्र 'सेवाभिरता' इत्यनेन सेवैवाभिहिता, अतोपि भक्तिशब्देन सेवैव। तदुक्तं निबन्धे सर्वनिर्णये, 'भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमे'ति तथा च प्रेमसेवा भक्तिशब्दार्थः। इयमेव प्रेमसेवा मानसी सेवेत्युच्यते "चेतस्तत्प्रवणं सेवे"ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां मनोवृत्तेः सेवात्वकथनादत्रापि 'मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु ये'त्यनेन मनोवृत्तेर्भक्तित्वकथनात्। अतो **'यादृशी सेवना प्रोक्तेत्यत्र सेवनाशब्देन** मानसी सेवोच्यते। तस्याः सिद्धौ **अलौकिकसामर्थ्यरूपं** फलं भवति, तस्यातारतम्ये गौणं फलद्वयमुक्तम्। अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवाभिधीयते।

"देवानां" इस श्लोक से भक्ति के लक्षण कह कर "नैकात्मतां" इस श्लोक में सेवा ही कही गयी है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि, भक्ति शब्द से वहाँ सेवा ही कही गयी है। यही बात आचार्यचरणों ने निबंध में "भक्ति शब्द में भज् धातु का अर्थ है - सेवा एवं क्तिन् प्रत्यय का अर्थ है - प्रेम(सर्व०)"यों कही है अतः इस प्रकार प्रेमपूर्वक की जाने वाली सेवा ही भक्ति शब्द का अर्थ है। यही प्रेमपूर्वक की जाने वाली सेवा मानसी कही जाती है क्योंकि सि०मु० में "चित्त का प्रभु में लगना सेवा है(१)" इस वाक्य द्वारा भगवान में लगी मनोवृत्ति को सेवा कहा गया है एवं यहाँ श्रीभागवत के "मनसो वृत्तिः(भा०३-२५-३२)" इस वाक्य में भी मनोवृत्ति को ही भक्ति कहा गया है। अतः ज्ञात होता है कि, **यादृशी** इत्यादि वाक्यों में आचार्यचरण **सेवना** शब्द से मानसी सेवा ही कह रहे हैं। मानसी सिद्ध होने पर अलौकिकसामर्थ्यरूप फल प्राप्त होता है। और यदि मानसी सिद्ध न हुई तो फिर उससे उतरती कक्षा के दो फल अर्थात् सायुज्य एवं सेवोपयोगिदेह होंगे। अतः भक्ति शब्द से मुख्यतया मानसी सेवा ही समझनी है।

इदं त्ववधेयम्। 'देवानां गुणलिंगाना'मिति भक्तेः स्वरूपलक्षणमुक्त्वा, 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरतामदीहा' इत्यनेन भक्तेः कार्यलक्षणमुक्तम्। तथा च मोक्षान्तपुमर्थस्पृहाराहित्यसम्पादकत्वं तादृग्भक्तित्वमिति भक्तेः कार्यलक्षणम्। एवं सति सर्वपुमर्थान् भक्ता न स्पृहयन्तीत्युक्ते भगवत्स्वरूपमात्रं स्पृहयन्तीति सिध्यति।

एवं सकलपुरुषार्थाभिलाषशून्ये पुरुषोत्तमस्वरूपमात्रफलाभिलाषिणि भक्ते परमानुग्रहपरवशो भगवान् स्वरूपात्मकफलप्राप्तये तत्फलप्राप्त्यनुकूलमलौकिकसंघातं सम्पाद्य स्वयं फलरूपेण सर्वेन्द्रियविषयो भवति। तदेतदुक्तम्। **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः** इति मूले, **अलौकिकसामर्थ्यमित्यनेन** टीकायां विवृतं च।

यहाँ ध्यान ये रखना है कि "देवानां(३-२५-३२)" इस श्लोक में भक्ति का स्वरूपलक्षण कह कर "नैकात्मतां(३-२५-३४)" इस श्लोक में भक्ति का कार्यलक्षण कहा गया है। अर्थ यह है कि- समस्त प्रकार के मोक्षपुरुषार्थ की चाहना मिटा देनी ही भक्ति का कार्यलक्षण है। ऐसी भक्ति सिद्ध होने पर भक्त यदि किसी भी पुरुषार्थ की कामना नहीं करते, तो यह अपने आप सिद्ध हो जाता है

कि वे तब केवल भगवत्स्वरूपमात्र की स्पृहा करते हैं। इस प्रकार सकल पुरुषार्थ की कामना से रहित और केवल पुरुषोत्तमस्वरूपमात्र की अभिलाषा रखने वाले भक्त के वशीभूत होकर भगवान उसे अपने स्वरूपात्मकफल की प्राप्ति कराने के लिये उसे फल के अनुकूल एक विशेष देह प्रदान करके स्वयं उसकी समस्त इंद्रियों का विषय बन जाते हैं। यही बात आपश्री ने मूलग्रंथ में **अलौकिकस्य दाने** एवं विवृति में **अलौकिकसामर्थ्यं** इत्यादि शब्दों से कही है।

ननु तृतीयस्कन्धे अलौकिकविग्रहप्राप्तिर्नोक्तेति कथमत्राचार्यैर्लौकिकसामर्थ्यं फलत्वेनोक्तम्। तत्किंप्रमाणकमिति चेत्, श्रूयताम्। 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानी'त्यनेन भगवद्दर्शनादीनां फलत्वेनोक्तिरत्र मानम्। अन्यथा तादृशमलौकिकसंघातं विना 'पश्यन्ति ते म' इत्यत्रोक्ता दर्शनाद्युक्तिर्विरुध्येत। लौकिकेन्द्रियवर्गस्य निवृत्तत्वात्। 'जरत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथे'तिवाक्यात्। अतो दर्शनाद्यन्यथानुपपत्या अलौकिकदेहेन्द्रियप्राप्तिराक्षिप्यते। सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः। तथा च सिद्धमलौकिकसामर्थ्यरूपमुत्तमं फलमुत्तमानाम्॥ १॥

किंतु शंका यह होती है कि, तृतीयस्कंध में ऐसे किसी अलौकिक शरीर का उल्लेख तो कहीं आया नहीं है, फिर आचार्यचरण यहाँ अलौकिकसामर्थ्य को कैसे फलरूप में कह रहे हैं ? यदि आपश्री की बात में प्रमाण सुनना चाहते हैं, तो सुनिए। "पश्यन्ति(३-२५-३५)" इस श्लोक में जो भगवान के दर्शन को फल कहा गया है, वही आपश्री की बात को प्रमाणित करता है। क्योंकि भगवान के दर्शन अलौकिकशरीर के बिना तो हो ही नहीं सकते और लौकिक इंद्रियाँ तो इसी श्लोक के पहले कहे "जरत्याशु(३-२५-३३)" इस वाक्य के अनुसार भस्मसात हो जाती हैं। अतः भगवान के दर्शन अन्य किसी भी प्रकार से संभव न होने के कारण अलौकिकशरीर प्राप्त होने की बात तो स्वीकारनी ही पड़ेगी। अन्यथानुपपत्ति सबसे बलवान होती है।

******* यहाँ अन्यथानुपपत्ति का अर्थ समझें। अन्यथा शब्द का अर्थ है - "नहीं तो"। अनुपपत्ति शब्द का अर्थ है - अयुक्ति या अयुक्त बात। मान लीजिए कोई एक वाक्य कहा गया और वह अगले व्यक्ति को ठीक ढंग से समझ में नहीं आया, तो उसे समझाने के लिये उसमें एक वाक्य और जोड़ना पड़ेगा, और तब बात ठीक ढंग से समझ में आयेगी। यदि दूसरा वाक्य नहीं जोड़ेंगे तो अर्थ समझ में आयेगा ही नहीं। इसे कहेंगे - यदि दूसरा वाक्य नहीं जोड़ा तो पहला वाक्य अयुक्त हो जायेगा। उदाहरण के लिये जैसे कहा जाय - यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता। अब ध्यान से देखें तो इस वाक्य में ही विरोध है क्योंकि एक ओर उसे मोटा कहा जा रहा है और दूसरी ओर यह कहा जा रहा है कि वह दिन में नहीं खाता। तो इस वाक्य को ठीक ढंग से समझाने के लिये इसमें एक वाक्य और जोड़ना पड़ेगा और वो यह कि - मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता, रात में खाता है। इस दूसरे वाक्य के जुड़ते ही बात एकदम साफ हो जायेगी। किंतु जब तक दूसरा वाक्य नहीं जोड़ा जायेगा तब तक बात अयुक्त रहेगी। अर्थात् अन्यथा अयुक्त रहेगी। यहाँ अलौकिकशरीर की बात पर शंका की गयी है। तो टीकाकार भागवत के श्लोक में कही भगवान के दर्शन की बात से यह समझाना चाह रहे हैं, भगवान का दर्शन तब तक संभव नहीं है, जब तक अलौकिकशरीर न मिला हो अतः यदि अलौकिकशरीर की बात यहाँ न जोड़ी गयी तो इस श्लोक में कही भगवान के दर्शन की बात ही अयुक्त सिद्ध हो जायेगी, यह अर्थ है।****** इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अलौकिकसामर्थ्यरूप उत्तमफल उत्तम कोटि के जीवों को प्राप्त होता है॥ १॥

एवमुत्तमाधिकारिणामुत्तमफलमुक्त्वा मध्यमाधिकारिणां फलमाहुः सायुज्यमिति। 'मद्भक्तिं लभते परां', 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्त्वा 'विशते तदनन्तर'मित्यत्रोक्तं सायुज्यमित्यर्थः। इदं मध्यमं फलम्, अलौकिकसामर्थ्यापेक्षया हीनम्, सेवौपयिकदेहापेक्षयोत्तमम्। अतो मध्यमम्। अलौकिकेन्द्रियवर्गस्य दानसापेक्षत्वान्मध्यमानां तदलाभे सायुज्यं भवति। तदुक्तं मूले, फलं वेति।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

फलशब्देन सायुज्यम्। साधारणमर्यादया सर्वेषां भक्तिमतां तत्प्राप्तेः। 'हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्त' इति तृतीयस्कन्धवाक्यात्।

इस प्रकार से उत्तमाधिकारियों का उत्तम फल कह कर मध्यमाधिकारियों का फल आचार्यचरण **सायुज्यं** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं। भगवद्गीता में "ब्रह्मभूत पुरुष मेरी दिव्यभक्ति प्राप्त करता है(१८-५४), "शुद्धभक्तियोग से मुझे जान जाता है(१८-५५) यह कह कर "मुझे तत्व से जान कर मेरे वैकुण्ठ में प्रवेश करता है(१८-५५)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा सायुज्य ही यहाँ कहा जा

रहा है। यह मध्यमफल है , अलौकिकसामर्थ्य की अपेक्षा हीन है और सेवोपयोगिदेह की अपेक्षा उत्तम है , इसलिये इसे मध्यमफल कहा जा रहा है। अलौकिक इंद्रियाँ तो भगवान जब दान करें ,तब प्राप्त होती हैं अतः मध्यमाधिकारियों को यह दान प्राप्त नहीं होता अतः उन्हें सायुज्य प्राप्त होता है। यह बात आपश्री ने मूलग्रंथ में **फलं वा** इत्यादि शब्दों से कही है।

यहाँ फल शब्द का अर्थ सायुज्य है क्योंकि भगवान के “मेरे मनोहर चितवन एवं सुमधुर वाणी में उनका मन और इंद्रियाँ फँस जाती हैं और न चाहते हुए भी उन्हें मेरी भक्ति प्राप्त हो जाती है(३-२५-३६)” इस वाक्य के अनुसार केवल मर्यादा से भक्ति करने वाले सभी को इस फल की प्राप्ति होती है।

न चात्र वाक्ये ‘अनिच्छत’ इतिपदेन मोक्षेच्छाशून्यानां पुष्टिभक्तानां ग्रहणात्तेषामेव सायुज्यलाभोस्तीतिवाच्यम्। मोक्षस्पृहयैव तैर्भगवद्भक्तेः कृतत्वात्। अनिच्छाकथनं तु भक्तिमहिम्ना कदाचित्तादृशभावोदयात्। न ह्यं भावस्तेषां सार्वदिकः। अतो भगवति प्रेमाप्येतेषां सोपाधिः। मोक्षदातृत्वेन भगवति जातत्वात्। अत एतेषां सायुज्यप्राप्तिर्भवति। एतच्च तृतीयाध्यायभाष्ये स्फुटम्। पूर्वोक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलाधिकारिणां तु भगवति निरुपाधिकं प्रेम। सायुज्यादिपुमर्थस्य स्पृहाराहित्येनैवोत्पन्नत्वात्। अतो भगवत्स्वरूपस्य सकलेन्द्रियास्वाद्यत्वेन तेषामपेक्षितत्वादलौकिकसंघातं दत्वा सर्वेन्द्रियास्वाद्यो भवति, येषां मोक्षदातृत्वेन सोपाधिकं हरौ प्रेम तेषां सायुज्यमितिविवेकः।

अब यहाँ ऐसी शंका मत करिये कि, इस श्लोक में तो यह कहा गया है कि “वे भक्त मोक्ष नहीं चाहते” ; और मोक्ष तो पुष्टिभक्त नहीं चाहते अतः तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे पुष्टिभक्तों को सायुज्य ही मिलने वाला है , उत्तमफल नहीं। ऐसी शंका मत करिये क्योंकि ऊपर कहे तृतीयस्कंध में जिन भक्तों का उदाहरण दिया गया है, उन्होंने तो मोक्ष की इच्छा से ही भक्ति की थी ; उनका मोक्ष न चाहना तो भक्ति की अपनी महिमा के कारण उनके मन में कभी-कभार ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है। परंतु उनका ऐसा भाव सदा नहीं रहता अतः वे यदि भगवान से प्रेम भी करते हैं तो स्वार्थवश। कारण कि वे जानते हैं कि भगवान मोक्षदाता हैं। अतः ऐसी कामना रखने वाले भक्तों को सायुज्य प्राप्त होता है। यह सभी कुछ आचार्यचरणों ने तृतीय अध्याय के भाष्य में स्पष्ट किया है। हमने जो पहले अलौकिकसामर्थ्यरूप फल के अधिकारियों की बात कही थी, वे तो भगवान से निस्वार्थ प्रेम करते हैं। और भगवान से निस्वार्थ प्रेम तो तभी उत्पन्न हो सकता है, जब वे भगवान से सायुज्य आदि की कामना न रखें। अतः उन्हें अपनी समस्त इंद्रियों से भगवत्स्वरूप का आस्वादन करना ही अपेक्षित होता है, सो भगवान उन्हें अलौकिकशरीर देकर समस्त इंद्रियों के आस्वादनरूप बनते हैं। और जो भगवान को मोक्षदाता जानकर किसी स्वार्थ के कारण प्रेम करते हैं , उन्हें सायुज्य प्राप्त होता है- यह विवेक है।

एवं मध्यमानां फलमुक्त्वा हीनानां फलमाहुः सेवौपयिकदेहो वेति। व्यापिवैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरित्यर्थः। ‘अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम्। श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेश्नुवते तु लोके’ इतिकपिलवाक्यात्। एतदाभासे ‘सालोक्यादिरूपं फलमाहे’ति सुबोधिन्यामुक्तत्वात्।

इस प्रकार मध्यमाधिकारियों का फल कह कर हीनाधिकारियों का फल आचार्यचरण **सेवोपयोगिदेहो वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सेवोपयोगिदेह की प्राप्ति का अर्थ है - व्यापि वैकुण्ठ में भगवद्-पार्षद आदि की देह प्राप्त होनी। जैसा कि “उन्हें मेरे वैकुण्ठ में सत्यादि लोकों की भोग सम्पत्ति, अष्टसिद्धि इत्यादि विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं(श्री० भा० ३-२५-३७)” इस कपिलवाक्य में कहा गया है एवं जिसके व्याख्यान में आचार्यचरणों ने “सालोक्यादिरूपं” यह वाक्य कहा है।

अत्र केचिद्वैकुण्ठशब्देन व्यापिवैकुण्ठेतरवैकुण्ठानां ग्रहणमिति वदन्ति। तन्न। व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवत इत्यर्थ‘ इति सुबोधिन्यामुक्तत्वात्। न चालौकिकसामर्थ्ये मुख्यफले तादृशविग्रहप्राप्तिरुक्ता, एवं तृतीयेपि सेवौपयिकदेहस्याप्राकृतस्य प्राप्तिरुच्यते, अतः प्रथमतृतीययोः साम्यमापतितमिति वाच्यम्। प्रथमफले भगवतः सर्वेन्द्रियभोग्यत्वेन तद्भोगानुगुणदेहलाभः, तृतीये तु सेवामात्रयोग्यदेहलाभ इति विशेषवैलक्षण्यात्।

अब कुछ महानुभाव वैकुण्ठ शब्द का अर्थ व्यापिवैकुण्ठ न करके कोई दूसरा वैकुण्ठ करते हैं। यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्वयं आचार्यचरणों ने उक्त श्लोक की सुबोधिनी में यह कहा है कि, वे भगवान के वैकुण्ठ में समस्त अष्टसिद्धि, ऐश्वर्य आदि प्राप्त करते हैं।

*****व्यापिवैकुण्ठ वह स्थल है जिसे हम पुष्टिमार्गीय गोलोकधाम कहते हैं। यह वह स्थल है, जहाँ हमारे पुष्टिप्रभु अपनी समस्त शक्तियों के साथ विराजते हैं। इतरवैकुण्ठ या रमाप्रार्थित वैकुण्ठ वह स्थल है, जहाँ भगवान मर्यादामार्गीय ढंग से लक्ष्मीनारायण

के स्वरूप में विराजते हैं।***** परंतु यहाँ व्यापिवैकुण्ठ मानने में एक शंका उत्पन्न होती है। वह यह कि, अलौकिकसामर्थ्यरूपी प्रथमफल में एक अलौकिकशरीर की प्राप्ति होती है - यह बताया गया एवं तीसरे फल सेवोपयोगिदेह में भी एक अलौकिकदेह की प्राप्ति होनी बतायी गयी है ; फिर पहले और तीसरे फल में अंतर ही क्या बचा ? क्या दोनों समान ही न हुए ? नहीं ऐसी शंका मत करिये। प्रथमफल में समस्त इंद्रियों से भगवद्भोग कर सकने वाले अलौकिकदेह की प्राप्ति होगी एवं तीसरे फल में वैकुण्ठ में केवल भगवत्सेवा कर सकने वाली देह की प्राप्ति होगी, यह दोनों में विशेष अंतर है।

इदमत्र ज्ञेयम्। अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं व्यापिवैकुण्ठान्तर्वर्तिनी आधिदैविके वृन्दावनबृहद्वनादौ प्राप्यते। 'पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसे'त्यस्य व्याख्याने वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवतीति सुबोधिन्यामुक्तत्वान्मूले अधिकारशब्देन सेवौपयिकदेहो गृह्यते, तादृशदेहस्य सेवाधिकाररूपत्वात्।

अब कुल मिला कर यह समझिए कि , अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल व्यापिवैकुण्ठ के अंतर्गत आये आधिदैविक वृन्दावन, बृहद्वन आदि में प्राप्त होता है। जैसा कि "पश्यन्ति(३-२५-३५)" इस श्लोक की सुबोधिनी के व्याख्यान में आचार्यचरणों ने वृन्दावन आदि में भगवान से साक्षात्कार होना बताया है। उसी बात को आपश्री ने इस ग्रंथ में अधिकार शब्द से सेवोपयिकदेह कही है क्योंकि ऐसी अलौकिकदेह को ही भगवत्सेवा का अधिकार मिलता है।

एवं फलत्रयमुक्तम्। तत्रालौकिककसामर्थ्यरूपं फलं पुष्टिभक्तानाम्। सायुज्यं सेवौपयिकदेहो मर्यादाभक्तानाम्। अत एव नवमनिबन्धे 'देहभावे दृढे तु स्याद्भक्तानां कृष्णदासता। सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् गंगातीरे न संशय' इत्यनेन गंगासेवातः सायुज्यसेवौपयिकदेहप्राप्तिरुक्ता। सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्पर' इत्यनेन मर्यादास्थस्य तु गंगासेवनमुक्तम्। अत एव 'मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गंगा परा मते'ति निबन्धे उक्तम्। अत एव मर्यादाभक्तेः सायुज्यादिफलम्। पुष्टिभक्तेस्तु नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलमिति स्पष्टमेव तृतीयचतुर्थाध्यायभाष्ये निरूपितमिति दिक्।

इस प्रकार आचार्यचरणों ने सेवा के तीन फल कहे। इसमें अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल पुष्टिभक्तों को प्राप्त होता है। सायुज्य एवं सेवोपयोगिदेहरूपी फल मर्यादाभक्तों को प्राप्त होता है। इसी कारण नवमनिबंध में आचार्यचरणों ने "देहभावे दृढे तु स्याद्भक्तानां कृष्णदासता (७०)" यह कहा है। सिद्धांतमुक्तावली में भी "मर्यादाभक्त को गंगाजी के तट पर रहना चाहिए(१८)" इस श्लोक द्वारा मर्यादामार्गी को आचार्यचरणों ने गंगा किनारे रहना बताया है। इसी कारण निबंध में भी आपश्री ने "मर्यादामार्गी के लिये गंगा सर्वोपरि है( )" ये कहा है। अतएव पता चलता है कि मर्यादाभक्ति में सायुज्य आदि फल प्राप्त होते हैं। पुष्टिभक्ति का फल प्रभु की नित्यलीला में प्रवेश पाना है। यह सभी कुछ तृतीयचतुर्थ अध्याय के भाष्य में आचार्यचरणों ने निरूपित किया ही है।

न कालोत्र नियामकः। अत्र फलत्रयेपि **कालो न नियामकः**। फलत्रयं कालपरिच्छेद्यं न भवतीत्यर्थः। 'न कर्हिचित्मत्पराः शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति'रिति कपिलवाक्यात् , 'मत्परा न नंक्ष्यन्ती'त्युक्त्या मत्परशब्देन फलत्रयप्राप्तानां ग्रहणात्॥ १॥

न कालोत्र नियामक का अर्थ है - ऊपर बताये गये इन फलों के प्राप्त होने में काल नियामक नहीं है। काल इन फलों में रुकावट नहीं बन सकता, यह अर्थ है। क्योंकि कपिलजी के 'जिनका सभी कुछ केवल मैं हूँ , उन्हें मेरा कालचक्र भी नहीं ग्रस सकता(श्री०भा० ३-२५-३८)" इस वाक्य में यह बात स्पष्ट की गयी है। इसी श्लोक में आये मत्परा शब्द से यह पता चलता है कि, ऐसे भक्तों को इस ग्रंथ में बताये तीनों फल मिल चुके हैं॥ १॥

कार्यमात्रप्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतास्वीकारात् सेवासिद्ध्यर्थं सेवाप्रतिबन्धा दूरीकर्तव्या इति तदर्थं प्रतिबन्धकान्निरूपयन्ति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्याच्तु बाधकम्॥ २॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् , उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा। उद्वेगो सेवासमये चित्तक्लेशप्रदश्चाञ्चल्यविशेषः। स च भगवत्सेवां प्रतिबध्नाति। भोगः सुखसाधकतया विषयासक्तिसम्पादकत्वेन भगवदासक्तिविरोधात् सेवाविरोधी। एतत्प्रतिबन्धकद्वयं दुःखसुखसाधकं प्रतिबन्धरूपम्। 'प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छती'त्यस्य न नामान्तरेण निर्देशः, किन्तु प्रतिबन्धशब्दवाच्यतैव। 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावा'दित्यत्र वाङ्मनसोर्विशिष्टकार्यमादाय इन्द्रियेभ्यः पृथक्तया गणनात्।

एवमुद्वेगभोगयोरपि दुःखसुखप्रदत्वेन विशिष्टत्वात् पृथङ्-निर्देशः। अन्यथा प्रतिबन्धकशब्देनैव उद्वेगभोगयोर्ग्रहणसम्भवात् पृथङ्नामनिर्देशो व्यर्थः स्यात्।

कार्य को सिद्ध करने में आनेवाले समस्त प्रतिबन्धकों का जो नाश कर दे, उसी को मूलकारण माना जायेगा ; अब इस ग्रंथ में जो फल बताये जा रहे हैं, वह तो सेवा करने के कारण ही प्राप्त होंगे अतः फल प्राप्त करने में सेवा कारण है। अतः सेवारूपी कारण को सिद्ध करने में सेवा में आनेवाले प्रतिबन्धों को दूर करना आवश्यक है इसलिये अब आगे आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, वे प्रतिबन्ध क्या/कैसे हैं। सेवा में तीन प्रतिबन्धक हैं - उद्वेग, प्रतिबन्ध एवं भोग। भगवत्सेवा करते समय उद्वेग चित्त में क्लेश उत्पन्न करता है और चित्त को चंचल बनाता है। इस तरह भगवत्सेवा में प्रतिबन्ध करता है। भोग लौकिकसुखों का साधक है अतः विषयासक्ति उत्पन्न करता होने से भगवद्-आसक्ति का विरोधी है और इस तरह सेवा का विरोधी होता है। ये दोनों प्रतिबन्ध दुःख और सुख कराने वाले प्रतिबन्ध हैं ******* लौकिकसुख वास्तव में तो दुःखरूप ही है अतः प्रतिबन्ध ही है क्योंकि यह भगवान से विमुख करता है***** । प्रतिबन्ध करने वाला स्वयं तो उदासीन होता है परंतु जिसको प्रतिबन्ध कराता है, उसे दुःख या सुख का अनुभव कराता है। अतः प्रतिबन्ध को यहाँ कोई दूसरा नाम न देकर आचार्यचरणों ने केवल प्रतिबन्ध कहा है। अब जैसे "काया, वाणी, मन, इंद्रिय या बुद्धि से जो कार्य करे, वह मुझे समर्पित करे(श्री० भा० ११-२-३६)" इस श्लोक में जब इंद्रियाँ कह दिया था फिर अलग से वाणी, मन इत्यादि कहने की क्या आवश्यकता थी ? तथापि इस श्लोक में वाणी एवं मन आदि से कुछ विशेष बात बतानी है इसलिये अलग कर के बताया है। ठीक इसी प्रकार उद्वेग एवं भोग में से पहला दुःख और दूसरा लौकिकसुख प्रदान करते होने के कारण आचार्यचरणों ने इनका अलग-अलग नाम लेकर बताया है। यदि केवल प्रतिबन्धक शब्द से ही ये दोनों अर्थ समझ में आ जाते तो आचार्यचरणों को अलग-अलग नाम लेने की आवश्यकता ही क्या थी ? इसलिये आपश्री ने इन दोनों को अलग-अलग करके बताया।

त्रयाणामिति। उद्वेगप्रतिबन्धभोगानां यानि साधनानि हेतवस्तेषां **परित्यागः कर्तव्यः**। साधनपरित्यागे प्रतिबन्धानामनुत्पत्तेः। **मूले बाधकानां परित्याग इत्यस्य तेषां साधनपरित्यागः** कर्तव्य इति व्याख्यानं टीकायाम्। प्रतिबन्धकेषु भोगशब्देन लौकिको भोगो ग्राह्यो न त्वलौकिक इत्याहुः **भोगो द्विविध** इत्यारभ्य **लौकिकस्त्याज्य एवेति** व्याख्यानं टीकायाम्। मूलार्थस्तु **भोगे** लौकिकालौकिकभोगे **एकं** लौकिकभोगात्मकं **परं** प्रतिबन्धकमिति। **तत्राद्य इति**। साधारणप्रतिबन्धभगवत्कृतप्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणप्रतिबन्ध इत्यर्थः। तस्य स्वरूपं तु सुखदुःखाजनकत्वेन सेवाप्रतिबन्धकत्वम्। यथा सेवासमये उदासीनेन वागादिव्यवहारः क्रियते स सेवां प्रतिबध्नाति, उद्वेगभोगौ तु दुःखसुखजनकौ, सेवाप्रतिबन्धकाविति विवेकः।

विवरण में कहे **त्रयाणां** इत्यादि शब्दों का अर्थ समझें। आपश्री आज्ञा करते हैं, उद्वेग, प्रतिबन्ध एवं भोग उत्पन्न होने के कारणों का परित्याग कर देना चाहिए। कारणों का ही परित्याग कर देंगे तो प्रतिबन्ध फिर से उत्पन्न नहीं होंगे। मूल में कहे **बाधकानां परित्यागः** इत्यादि शब्दों का विवरण टीका में **तेषां..** इत्यादि शब्दों से किया गया है। प्रतिबन्धकों में भोग शब्द से लौकिकभोग का ही अर्थ लेना चाहिए, अलौकिकभोग का नहीं - यह बात आपश्री ने अपनी टीका में **भोगो द्विविधः** से लेकर **लौकिकस्त्याज्य एव** तक के शब्दों से कही है। मूलपंक्ति का अर्थ यह है कि, **भोगे** अर्थात् लौकिक-अलौकिकभोग में से एक लौकिकभोग है जो परम प्रतिबन्धक है। विवरण में कहे तत्र आद्य इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि, साधारणप्रतिबन्ध एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध में से आद्य(पहला) साधारणप्रतिबन्ध है। साधारणप्रतिबन्ध का स्वरूप यह है कि - यह सुखदुःख को उत्पन्न नहीं करता परंतु सेवा में प्रतिबन्ध कर देता है। जैसे सेवा करते समय कोई प्रभु की ओर उदासीन रह कर अन्य किसी से बोल-चाल कर रहा है, तो प्रभु के प्रति यह उदासीनता सेवा में प्रतिबन्ध है। जबकि उद्वेग और भोग तो सुखदुःख पैदा करते होने के कारण सेवा में प्रतिबन्धक हैं, यह विवेक है।

बुद्ध्या त्याज्य इति। चातुर्येणेत्यर्थः। तथा च व्यवहारचातुर्येण सेवानवसरे लौकिकं कार्यं तथा कर्तव्यं यथा सेवावसरे तादृशं वागादिव्यवहारकार्यमेव न पतेदित्यर्थः। अथवा साधारणप्रतिबन्धो वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च। स तु बुद्ध्या त्याज्यः, बुद्धिपूर्वकं तस्य त्यागः कर्तव्य इत्यर्थः। **अलौकिकभोगस्त्विति**। भगवत्सेवार्थं मुखदुर्वासनादिदोषनिवृत्तये ताम्बूलभक्षणादिरूपः, भगवद्धामित्वादलौकिकः। 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मितिवाक्यात्। 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इति श्लोके भगवदर्थं कृतस्य दन्तधावनादेरपि भगवद्धर्मत्वस्य नवयोगिप्रसंगे कविनोक्तत्वात्। 'धर्मान् भागवतान् ब्रूते'ति प्रश्नोपक्रमात्। श्रीमत्प्रभुचरणैः स्वतन्त्रे तथा व्याख्यानाच्च।

बुद्धया त्याज्य आदि शब्दों का अर्थ है - अपने व्यवहार की चतुराई से सेवा के अनवसर काल में अपने लौकिककार्य ऐसे ढंग से करें, कि जिससे सेवा करते समय किसी से बोलने-चालने जैसे कार्य बीच में न आएँ। अथवा तो **बुद्धया त्याज्यः** का अर्थ यों करें कि, वेदनिन्दा करने जैसे पापरूप साधारणप्रतिबन्ध बुद्धिपूर्वक त्याग दें। **अलौकिकभोग** का अर्थ समझें। जैसे भगवत्सेवा में मुख की दुर्गंध मिटाने के लिये पान-सुपारी इत्यादि ली जाती है, तो वह भगवान की ओर प्रवृत्त करती होने के कारण अलौकिकभोग है। जैसा कि "सभी कुछ मुझे समर्पित करके मेरे लिये ही समस्त कार्य करना निर्गुणज्ञान है(श्री०भा० ११-२५-२४)" इस श्लोक में कहा गया है। यहाँ तक कि "काया, वाणी,मन, इंद्रिय या बुद्धि से जो कार्य करे, वह मुझे समर्पित करे(श्री० भा० ११-२-३६)" इस वाक्य में तो भगवान के लिये किये जाते दंतधावन करने जैसे कार्य भी भगवद्-रूप हो जाते हैं, यह नवयोगिप्रसंग में कवि ने कहा है, जब उनसे "हे योगीश्वरों ! भागवत धर्मों का उपदेश कीजिए(श्री०भा० ११-२-३१)" इस वाक्य द्वारा भागवत् धर्म बताने के लिये प्रश्न किये गये। श्रीप्रभुचरणों ने तो ऊपर कहे ११-२-३६ श्लोक के लिये किये अपने स्वतंत्रलेख में भी इस बात को स्पष्ट किया है।

फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति। साधनत्वेन प्रविशतीत्यर्थः। अलौकिकसामर्थ्यरूपफलसाधको भवतीति यावत्। अतोयमलौकिक भोगो न त्याज्यः। तदुक्तं मूले।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा।

अर्थस्तु **महान् भोगः** पूज्यो भोगो भगवत्सेवार्थमंगरागलेपादिरूपः **निष्प्रत्यूहं** निर्विघ्नं यथा स्यात्तथा प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले प्रविशति, तत्फलसाधको भवतीति यावत्। साधारणप्रतिबन्धस्य **बुद्धया त्याज्य** इत्यनेन निवृत्त्युपाय उक्तः॥ २ , ३॥

फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति इत्यादि शब्दों का अर्थ है - अलौकिकभोग प्रथमफल में साधनरूप से प्रवेश करता है अर्थात् अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्यरूपफल का साधक बन जाता है। इसलिये इस अलौकिकभोग का त्याग नहीं करना है। यही बात निम्नलिखित मूलश्लोक में कही है।

श्लोक का अर्थ है - **महान भोग** पूज्य है यानि भगवत्सेवा के लिए शरीर पर अंगराग लगाना इत्यादि प्रकार से भोग करना कोई दोषरूप नहीं है। ऐसा भोग विघ्नकारक नहीं होता और अलौकिकसामर्थ्यरूप प्रथमफल में प्रवेश करता है यानि उसका साधक बन जाता है। और साधारणप्रतिबन्ध को अपने बुद्धिचातुर्य से दूर करें, यह इसकी निवृति का उपाय कहा है॥ २॥ ३॥

एवं [1]भगवत्कृतप्रतिबन्धकस्यापि निवृत्त्युपायो वक्तव्य इत्याशंक्य नास्य कश्चिन्निवृत्त्युपाय इत्याहुः **भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेन**। **तदा भगवान् फलं न दास्यतीति**। सेवाफलं मुक्तिरूपं न दास्यतीत्यर्थः। **तदान्यसेवापीति**। मुक्तिप्राप्त्यर्थमन्यस्य तीर्थादेरित्यर्थः। तत्र हेतुः। **तदाऽसुरोयमिति**। आसुरस्य तु 'निबन्धायासुरी मते'ति भगवद्वाक्यात् तस्य मुक्तिर्न भवतीति तीर्थादिसेवापि व्यर्थेति भावः। तदुक्तं मूले।

अब कोई ये प्रश्न करे कि जैसे साधारणप्रतिबन्ध की निवृत्ति का उपाय कहा, वैसे भगवत्कृतप्रतिबन्ध की निवृत्ति का उपाय भी कहना चाहिए था ; तो आचार्यचरण अपने विवरण में **भगवत्कृतश्चेत्** से लेकर **विवेक** तक के शब्दों द्वारा यह बता रहे हैं कि भगवत्कृतप्रतिबन्ध की निवृति का कोई भी उपाय नहीं है। आपश्री के **तदा भगवान् फलं न दास्यति** इत्यादि वाक्यों का अर्थ यह है कि, जब भगवान प्रतिबन्ध करते हैं तब सेवा का मुक्तिरूप फल नहीं देते। **तदा अन्यसेवापि व्यर्था** इत्यादि वाक्यों का अर्थ है - जब भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता है, तब मुक्ति के लिये तीर्थाटन आदि करना भी व्यर्थ हो जाता है। कारण यह है कि वह जीव आसुर है। और आसुर को तो भगवद्गीता में "दैवीजीव मोक्ष के लिये एवं आसुरी संसारबंधन के लिये हैं(१६-५)" इस वाक्य के द्वारा मुक्ति मिल ही नहीं सकती अतः तीर्थाटन इत्यादि करना भी व्यर्थ हो जाता है।

यही बात मूल में अगले श्लोक द्वारा कही गयी है।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हीति।

ननु यस्य भगवत्कृतः प्रतिबन्धः स आसुरः, तस्य सर्वथा मुक्तिर्नास्तीति निरूपितम् , तर्हि फलाशाराहित्यजनितक्लेशः स्यात् , तत्क्लेशनिवृतिः कथं स्यादित्याशंक्य क्लेशनिवृत्त्युपायमाहुः **तदा ज्ञानमार्गेणेति**। येनाहमुत्पादितः तेन परमेश्वरेण यद्विचारितं तथैव भविष्यतीति मया दुःखं त्याज्यमित्यादिज्ञानरूपेण साधनेन नैश्चिन्त्येन स्थेयमित्यर्थः। तदुक्तं मूले।

---

[1] असाधारणप्रतिबन्धस्यापीत्यपि पाठः।

अब शंका यह होती है कि, जिसको भगवान द्वारा प्रतिबन्ध हुआ है वह तो आसुर है और उसे मुक्ति कभी मिलेगी ही नहीं, तो उसे फल की आशा निरस्त हो जाने से क्लेश तो होगा ही। इस क्लेश की निवृत्ति वह कैसे करे ? तो इसका उपाय आपश्री **तदा ज्ञानमार्गेण** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि उसे अपने क्लेश की निवृति करने के लिये ऐसा ज्ञान रखना चाहिए कि, जिस परमेश्वर ने मुझे बनाया है उसने जैसा सोचा होगा वैसा ही होगा अतः मेरे लिये ये ही अच्छा है कि मैं दुःख न करूँ। इस प्रकार से ज्ञानरूपी साधनों से उसे निश्चिंत होकर रहना चाहिए। यही बात आपश्री ने अगले मूलश्लोक द्वारा कही है।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्।

साधनमिति शोकाभावसाधनमित्यर्थः। एवं साधारणप्रतिबन्धो बुद्ध्या त्याज्य इत्युक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वात् तज्जन्यशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थेयमित्युक्तम्॥ ४॥

यहाँ **साधन** शब्द का तात्पर्य है - शोक दूर करने के साधन। पूरे श्लोक का अर्थ यह है कि, साधारणप्रतिबन्ध तो बुद्धिपूर्वक त्याग दें एवं कारण कि भगवत्कृतप्रतिबन्ध मिटाना संभव नहीं है अतः उस प्रतिबन्ध से हुए शोक को दूर करने के लिये ऊपर कहे प्रकार के ज्ञानमार्ग का आश्रय लेकर रहना चाहिए॥ ४॥

अतःपरं भोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्युपायमाहुः **साधारणो भोगः कथमित्यारभ्य त्याज्य** इत्यन्तेन। भोगस्य सुखहेतुत्वेन त्याज्यत्वं न मनस्यायातीत्याशंक्याहुः। **सविघ्नोल्पोघातकः स्यादिति**। सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्य त्याज्यत्वम्। भोगस्य सविघ्नत्वमल्पत्वं च मुहुर्मुहुर्विचार्य त्यागः कार्य इति भावः। साधारणप्रतिबन्धस्य तु घातकत्वात्त्याज्यत्वम्। साधारणप्रतिबन्धश्च वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च। स च महादोषरूपत्वात् सेवासिद्धेर्घातको भवति। अत एव वेदनिन्दायाः पापानां च जन्मान्तरसम्पादकत्वं निबन्धे सेवाप्रकरणे उक्तम्। ‘अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा। नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायत’ इति। एतस्य सर्वेषु सेवाधिकारिषु सम्भवात् साधारणत्वम् , सकलसत्कार्यमात्रप्रतिबन्धकत्वाच्च साधारणत्वम्। भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु असुरमात्रविषयकत्वादसाधारण इति विशेषो ज्ञेयः।

इतने विवेचन के पश्चात् आचार्यचरण **साधारणो भोगः कथं** से लेकर **त्याज्यः** तक के शब्दों द्वारा भोगरूपप्रतिबन्ध की निवृत्ति का उपाय कह रहे हैं। किंतु भोग तो सुख देता है अतः भोग को छोड़ना मन में जल्दी नहीं आता, तो इसके प्रत्युत्तर में आचार्यचरण अग्रिम श्लोक से लौकिकभोग का त्याग क्यों करना चाहिए, यह बता रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - भोग में विघ्न हैं एवं वह थोड़े समय के लिये ही सुख देता है अतः इसका त्याग कर देना चाहिए। मन में ऐसा वारंवार विचार करें और त्याग कर दें। साधारणप्रतिबन्ध तो घातक है अतः त्याग दें। वेदनिन्दा करने एवं पाप करने से साधारणप्रतिबन्ध आते हैं। यह प्रतिबन्ध महादोषरूप है और सेवा को सिद्ध करने में घातक बनता है। इसी कारण निबंध में "वेदनिन्दा एवं पाप करने वालों को पुनः शूद्र जैसी हीन योनि जन्म लेना पड़ेगा(सर्व०- २१६)" इस वाक्य द्वारा कहा गया है कि वेदनिन्दा करनेवाले एवं पाप करने वालों को दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। साधारणप्रतिबन्ध तो सभी प्रकार के अधिकारियों को हो सकता है एवं समस्त सत्कार्यों में हो सकता है अतः इसे साधारणप्रतिबन्ध कहा गया है। भगवत्कृतप्रतिबन्ध तो आसुरीजीवों को होता है अतः इसे असाधारण कहा गया, यह विशेषरूप से जान लीजिए।

एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति। लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा सेवाप्रतिबन्धकौ। लौकिकभोगस्य वेदनिन्दारूपपापरूपसाधारणप्रतिबन्धस्य च सर्वदा सम्भवात् सर्वदा प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः। तदुक्तं मूले।

बलादेतौ सदा मतौ।

सदा प्रतिबन्धकौ मतावितित्यर्थः। भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्यागत्वादनिवार्यत्वेन आसुरजीवस्य सेवाफलाभाव इति निरूप्य तत्कृतशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थितिः कार्येति पूर्वं निरूपितम्।

एतौ सदा प्रतिबन्धकौ का अर्थ है - लौकिकभोग और साधारणप्रतिबन्ध ये दोनों प्रकार के प्रतिबन्ध सेवा में सदा प्रतिबन्धक हैं। लौकिकभोग एवं वेदनिन्दा और पापकर्मरूप साधारण प्रतिबन्ध की संभावना तो सदैव बनी रहती है अतः ये सर्वदा प्रतिबन्ध हैं। यही बात आगे के श्लोक द्वारा आचार्यचरणों ने कही है।

---

१ तेनासिद्धेरिति पाठः।

इस पंक्ति द्वारा आपश्री आज्ञा करते हैं- ऊपर कहे लौकिकभोग एवं साधारणप्रतिबन्ध सदा प्रतिबन्धक हैं। और जहाँ तक भगवत्कृतप्रतिबन्ध की बात है , तो इसे मिटाना संभव न होने कारण आसुरीजीव को सेवा का फल प्राप्त नहीं होता, यह कह कर आपश्री ने इससे हुए शोक को दूर करने के लिये ज्ञानमार्ग पर चलने को तो पहले ही कह दिया है।

अतःपरं येन ज्ञानमार्गोपि नाश्रयितुं शक्यस्तस्यासुरस्य चित्तस्वास्थ्यप्रकारमाहुः **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहेति**। यस्यासुरस्य ज्ञानस्थित्यभावस्तस्य चिन्ताऽभावसम्पादनार्थमित्यर्थः। **द्वितीय इतीति**। भगवत्कृतप्रतिबन्ध इत्यर्थः।

इसके पश्चात् जो उपर्युक्त प्रकारक ज्ञानमार्ग का भी आश्रय नहीं ले सकता, उस आसुरजीव का चित्त ठीक हो जाने का प्रकार आपश्री अपने विवरण में **ज्ञानस्थित्यभावे** इत्यादि शब्दों से समाधान कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जो आसुरी ज्ञानमार्ग पर भी नहीं चल सकता उसके लिये आपश्री कहते हैं कि- चिंता मत करो क्योंकि तुम्हें दूसरा भगवत्कृतप्रतिबन्ध आड़े आ रहा है।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

अर्थस्तु प्रतिबन्धयोर्मध्ये द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे **चिन्ता** न कर्तव्या। तत्र हेतुः। **संसारनिश्चयादिति**। **मम संसार** एव फलं **परमेश्वरेण** विचारितं न मुक्तिः। अत आशैव न रक्षणीया। 'निबन्धायासुरी मता' इति वाक्यात्। एवं च चिन्तापि न कार्येति। **एवं प्रकारेण स्वास्थ्यं मनसि सम्पादनीयमितिभावः।**

अर्थ यह है कि दोनों प्रतिबन्धों में **द्वितीये** अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इसका कारण यह है कि, तब यह सोचें कि परमेश्वर ने मुझे संसार में रचे-पचे रखने का निश्चय किया है, मुक्ति देने का नहीं अतः मुझे फल की आशा ही छोड़ देनी चाहिए। क्योंकि गीता में भी यह कहा गया है कि, आसुरीजीव तो संसार में बँधे रहने के लिये ही हैं। ऐसा सोच कर चिन्ता नहीं करनी चाहिए और मन को स्वस्थ बनाना चाहिए , यह भाव है।

एवमासुरस्य भेदद्वयम्। तत्र 'ज्ञानमार्गेण स्थातव्य'मित्येकः प्रकारः पूर्वं टीकायामुक्तः। मूले **अकर्तव्यं भगवत** इत्यारभ्य **विवेकः साधनं मतमित्यन्तेनोक्तः**। द्वितीय प्रकारस्तु "ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहे"त्यनेन टीकायामुक्तः। **मूले द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयादित्यनेनोक्तः। एवं द्विविधस्याप्यासुरस्य सेवाफलाभावो निरूपितः, शोकाभावप्रकारश्चोक्तः॥ ५॥**

इस प्रकार से आसुरी जीव के दो भेद हैं। पहला आसुरी वह , जिसे ज्ञानमार्ग पर चलने का उपदेश आपश्री ने अपनी टीका में दिया गया था। और जिसके लिये मूल में आपश्री ने **अकर्तव्यं भगवतः** से लेकर **विवेकः साधनं मतम्** इत्यादि वाक्यों से कहा। दूसरा आसुरीजीव वह , जिसके लिये आपश्री ने कहा था कि जो ज्ञानस्थिति में भी नहीं रह सकते ; उनकी चिन्ता को दूर करने का उपाय यह है कि, वे सोचें कि प्रभु ने मेरे लिये संसार का ही निश्चय किया है। जो बात आपश्री ने मूलग्रंथ में कही है कि, दूसरा भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर चिन्ता करनी सर्वथा छोड़ दें और ये सोचें कि भगवान ने हमारे लिये संसार में डूबे रहना ही लिखा है। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने दोनों प्रकार के आसुरीजीवों को सेवाफल का अभाव बताया एवं उन्हें अपने शोक को दूर करने का प्रकार भी बताया॥ ५॥

अतः परमुद्वेगरूपप्रतिबन्धे किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः **न त्वाद्ये दातृता नास्तीति**।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

आद्ये त्रिषु बाधकेषु आद्ये उद्वेगरूपे प्रतिबन्धे तु चिन्ता न त्याज्येति पूर्वस्थाभ्यां चिन्तापदत्याज्यपदाभ्यामन्वयः। तथा चोद्वेगरूपप्रतिबन्धस्य निवारयितुं शक्यत्वेन तन्निवृत्त्युपायचिन्तां कृत्वा उद्वेगो निवर्तनीय इत्यर्थः। असाध्ये हि चिन्तात्यागो विधेयः। 'तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसी'ती वाक्यात्। साध्ये तु चिन्ता रक्षणीयैव।

इसके पश्चात् उद्वेगरूपी प्रतिबन्ध होने पर क्या किया जाय ? यह आपश्री **न त्वाद्ये दातृता नास्ति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस श्लोक से आपश्री का तात्पर्य यह है कि - आद्ये अर्थात् तीनों बाधकों में से पहला उद्वेगरूप प्रतिबन्ध होने पर चिन्ता करनी मत छोड़िए। अर्थात् ऊपर जो कहा कि "द्वितीये चिन्ता त्याज्या (साधारण और असाधारण प्रतिबन्ध होने पर इन दोनों की चिन्ता करनी छोड़ दें)" तो उसके अनुसंधान में यहाँ अर्थ होगा - आद्ये चिन्ता न त्याज्या (अर्थात् ऊपर कहे दो प्रतिबन्ध हों, तब तो चिन्ता त्याग दें परंतु पहला उद्वेगरूपी प्रतिबन्ध हो तो उसकी चिन्ता करें) । इसमें तात्पर्य यह है कि, उद्वेगरूप प्रतिबन्ध का

निवारण करना तो शक्य है अतः इसकी निंवृत्ति का उपाय करने की चिन्ता करके उद्वेग का निवारण करना चाहिए। क्योंकि गीता में कहे “जिसका कोई उपाय नहीं, उसकी चिन्ता करनी व्यर्थ है(भ०गी० २-२७)” इस वाक्यानुसार जो असाध्य है, उसकी चिन्ता करने का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु जो साध्य है, उसकी चिन्ता तो करनी ही चाहिए।

यद्युद्वेगरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिर्न स्यात्तदा किं स्यादित्याकांक्षायामाहुः। **आद्यफलाभाव** इति आद्येन फलाभाव इति तृतीयातत्पुरुषः। आद्यशब्देन प्रतिबन्धेषु आद्य उद्वेगरूपस्तेन कृते फलाभावे **भगवतो दातृत्वं नास्ति**, भगवान् सेवाफलं न दास्यतीत्यर्थः। तत्र हेतुः। **तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवति**। ‘मनसो वृत्ति स्वाभाविकी तु या। अनिमित्ता भागवती भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी’ति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् सेवाया भगवत्परमनोवृत्तिरूपत्वेन तत्र चित्तस्थैर्यस्यापेक्षणादुद्वेगे च चित्तस्थैर्यनाशात् सेवाया आधिदैविकीत्वं न स्यात् , अत उद्वेगनिवृत्तिः कर्तव्येति तात्पर्यम्।

अब यदि उद्वेगरूप प्रतिबन्ध निवृत्त न हो तब क्या समझना? यह शंका होने पर आपश्री **आद्यफलाभाव** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। आद्यफलाभाव शब्द को तृतीयातत्पुरुषसमास करके अर्थ करें ; तृतीयासमास करने पर यह तात्पर्य समझ में आयेगा कि- आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, आद्य-उद्वेगरूप प्रतिबन्ध के कारण फल प्राप्त नहीं होगा। अर्थात् आद्य शब्द का अर्थ प्रतिबन्धकों में पहला उद्वेगरूप प्रतिबन्ध है और जब उद्वेगरूप प्रतिबन्ध होता है और सेवा का फल प्राप्त नहीं होता, तब ये समझना चाहिए कि भगवान की फलदान करने की इच्छा नहीं है। इसका कारण यह है कि, उद्वेग होने पर सेवा आधिदैविकी नहीं बनेगी और तब सेवा का फल प्राप्त नहीं होगा। श्रीमद्भागवत के “जब चित्त एकमात्र मुझमें ही लग जाता है एवं विषयों की ओर नहीं जाता, तब भगवान की अहैतुकी भागवती भक्ति सिद्ध होती है(श्री०भा० ३-२५-३२,३३)” इस वाक्यानुसार सेवा तो भगवान में मनोवृत्ति लग जाने पर चित्त की भगवान में स्थिरता हो जाने का नाम है और उद्वेग से तो चित्त की स्थिरता का नाश हो जाता है अतः सेवा आधिदैविकी नहीं बनती। इसलिये उद्वेग का निवारण करना चाहिए।

पूर्वं **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इत्युक्तं टीकायाम् , **बाधकानां परित्याग** इत्युक्तं मूले।
ततश्चोद्वेगत्यागः प्रतिबन्धत्यागो भोगत्यागश्चेति त्यागत्रयमनुमतं भवति। तेषु तृतीयस्य भोगत्यागस्योपायमाहुः **भोगाभावस्तदैवे**त्यादिना। **मूले तृतीये बाधकं गृहमित्युक्तम्**। अर्थस्तु **तृतीये भोगत्यागे गृहं बाधकम्**। गृहस्थस्य सर्वात्मना भोगत्यागासम्भवादिति।

पहले टीका में आपश्री ने **त्रयाणां.....** कहा और मूल में **बाधकानां.....** कहा। इससे उद्वेगत्याग, प्रतिबन्धत्याग एवं भोगत्याग यों तीन प्रकार के त्याग समझ में आते हैं। इन तीनों में तीसरे भोगत्याग का उपाय आपश्री ने विवरण में **भोगाभावः** इत्यादि शब्दों से कहा है। और मूल में **तृतीये.. ...** इत्यादि शब्दों से कहा है। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, तीसरे प्रतिबन्ध भोग का त्याग करने में गृह रुकावट बनता है क्योंकि एक गृहस्थ के लिये सभी तरह से भोग का त्याग करना संभव नहीं होता।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः।

अर्थस्तु इयमुद्वेगादिप्रतिबन्धकत्रयी **अवश्या** स्ववश्या न भवति। अतः **सदा भाव्या** विचारणीया, एतत्प्रतिबन्धकत्रय्याः साधनपरित्यागो विचार्यः। एतत्प्रतिबन्धकत्रयात् सावधानतया स्थेयमिति तात्पर्यम्। ननु तर्हि प्रतिबन्धकत्रयसम्भवात् सोपायं सेवामार्गं त्यक्त्वा ज्ञानादिमार्ग एवानुष्ठेय इत्याशंकामपनुदन्तो ज्ञानादिमार्गेण सेवासाध्यं फलं न भवतीत्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति। सेवातिरिक्तज्ञानादिरूपं साधनं तु सेवासाध्यफलसाधकम्। अतोत्र पूर्वनिरूपितफलत्रयाकांक्षिभिरन्यत्साधनं कार्यमितिज्ञानं भ्रममात्रमित्यर्थः॥ ६॥

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ यह है कि - ये उद्वेग आदि तीन प्रतिबन्धों से छुटकारा पाना जीव के वश में नहीं होता अतः इनका सदा चिंतन करते रहें। तात्पर्य यह कि, इन तीन प्रतिबन्धकों के उत्पन्न होने के कारणों का परित्याग करने का विचार करें। इन तीन प्रतिबन्धकों से सावधान रहें। अब संदेह यह होता है कि, यदि ये तीन प्रतिबन्धक भक्ति में बाधा बनते हों, तो सेवामार्ग के सभी उपायों को छोड़कर ज्ञानमार्ग का ही अनुसरण क्यों न कर लिया जाय ? ऐसे संदेह को दूर करते हुए **सर्वमन्यन्मनोभ्रमः** इत्यादि शब्दों से आपश्री यह बता रहे हैं कि, ज्ञान आदि मार्गों से सेवा द्वारा सिद्ध होने वाला फल नहीं मिल सकता। आपश्री यहाँ यह आज्ञा करना चाहते हैं कि, सेवा के अतिरिक्त ज्ञानरूपी साधन सेवा के फल सिद्ध नहीं कर सकते। अतः इस ग्रंथ में पहले कहे तीन फल की कामना रखने वालों को हमारे कहे के अतिरिक्त अन्य दूसरे साधन करने केवल उनका भ्रम ही है॥ ६॥

ननु पुष्टिमार्गीयस्य भगवदनुग्रहपात्रस्य भगवत्पुष्टिस्वभावात् सेवाफलं सर्वथा भविष्यत्येव प्रतिबन्धकत्रयी त्वप्रयोजिकेति किमर्थं तद्विचारः कर्तव्य इत्याशंक्य तादृशस्यापि एतत्प्रतिबन्धकत्रयी विचारणीयैवेत्याहुः **तदीयैरपि तत्कार्यमिति**।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

तदीयैः पुष्टिमार्गीयैरपि तत्कार्यम्। प्रतिबन्धकत्रयीभावनं कार्यम्। किमर्थं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।** यद्यपि पुष्टौ फलाभावो नास्ति, तथापि फलविलम्बस्तु प्रतिबन्धकत्रयेण भवेदतः **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे न विलम्बयेद्विलम्बं न कारयेत् , प्रतिबन्धकत्रयादसावधानश्चेत् स्यात्तदा विलम्बो भवेत् , अतः प्रतिबन्धकत्रयीभावनं मुहुर्मुहुः कृत्वा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः। सोपि शीघ्रमेव, न विलम्बेन। एतद्विलम्बे फलविलम्बो भवेदितिभावः।

परंतु प्रश्न यह है कि, पुष्टिमार्गीयजीव तो भगवान का कृपापात्र है और भगवान का भी स्वभाव कृपा करना ही है अतः पुष्टिमार्गीयों को तो सेवा का फल मिलेगा ही, उन्हें इन प्रतिवन्धकों से क्या लेना-देना ? फिर व्यर्थ में प्रतिबन्धकों के विषय में सोचने रहने का भी क्या लाभ ? ऐसी शंका होने पर आपश्री आगे के श्लोक में यह बता रहे हैं कि, तादृशी-पुष्टिमार्गीय को भी इन तीनों का विचार तो करना ही है। इसे आपश्री **तदीयैरपि तत्कार्यम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तदीयैः का अर्थ है - पुष्टिमार्गीय। पुष्टिमार्गीयों को भी इन प्रतिवन्धकों का विचार करना ही है। क्यों करना है ? तो इसे आपश्री **पुष्टौ नैव विलम्बयेत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अर्थ यह है कि, यद्यपि पुष्टि में ऐसा नहीं है कि फल न मिले, तथापि यह हो सकता है कि इन तीन प्रतिबन्धों के कारण फलप्राप्ति में विलम्ब हो जाय। वैसे तो पुष्टिमार्ग में प्रभु फलदान करने में विलम्ब नहीं करते परंतु यदि इन प्रतिवन्धकों के प्रति असावधान हो गये तो अवश्य फल में विलंब हो जायेगा। अतः इनके विषय में बारंबार विचार करते हुए ये जिन कारणों से उत्पन्न होते हों, उन कारणों का परित्याग करना चाहिए। साधनों का परित्याग भी शीघ्र ही करें विलंब न करें। यदि इसमें विलंब किया तो फलप्राप्ति में विलंब हो जायेगा, यह भाव है।

ननु प्रतिबन्धकत्रयसाधनपरित्यागेपि सर्वत्र गीताभागवतादौ प्रकृतिगुणानां सत्त्वरजस्तमसां प्राबल्यस्योक्तत्वात्तत्क्षोभकृतः सेवाप्रतिबन्धो भवेत्तदर्थं किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः गुणक्षोभेपीति।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

गुणानां क्षोभेपि एतदेव मदुक्तमेव द्रष्टव्यं विचारणीयमिति। एतद्विचारे साधनपरित्याग एवोपायत्वेन स्फुरेत्। **गुणक्षोभसाधनं** तु सगुणवस्तुसंगः। सगुणं वस्तु भगवतैकादशे निरूपितं पञ्चविंशाध्याये। एवं सति सगुणवस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा तत्संगस्य त्यागः कर्तव्यः। व्यवहारनिर्वाहस्तु 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत 'मित्यादि-वाक्याद्भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वाद्भगवदुपभुक्तशिष्टपदार्थैः कर्तव्यः। तथा सति गुणक्षोभदोषोपि न भवेदित्यर्थः॥ ७॥

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भले ही तीनों प्रतिबन्धकों के साधनों का परित्याग कर दें, तथापि गीता-भागवत आदि में सर्वत्र प्राकृत सत्व-रज-तम इत्यादि गुणों की प्रबलता कही गयी है। यदि शरीर में इन गुणों का क्षोभ हो जाय और इनके कारण मन विचलित हो जाय, तो सेवा में प्रतिबन्ध होगा ही, तब क्या किया जाय ? इसका समाधान आपश्री अग्रिमश्लोक में कहे **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि, गुणों का क्षोभ हो जाने पर भी जो मैंने साधनों का (अर्थात् प्रतिबन्ध होने के कारणों का) परित्याग करने की बात कही थी, वही उपाय है। गुणक्षोभ होने का कारण सगुणवस्तु का संग करना है। सगुणवस्तु के विषय में भगवान ने एकादशस्कंध के पचीसवें अध्याय में कहा है। वहाँ से सगुणवस्तु का स्वरूप जानकर उसका संग छोड़ देना चाहिए। और, "मन्निष्ठं(३-२५-२४)" इस वाक्य के कथनानुसार भगवत्संबंधित पदार्थ निर्गुण होता है अतः अपने दैनंदिन व्यवहार का निर्वाह भगवान के द्वारा उपभुक्त पदार्थों द्वारा करना चाहिए। ऐसा करने पर गुणक्षोभ का दोष भी नहीं होता है॥ ७॥

ननु भगवदीयाः पदार्था निर्गुणाः, तैः सम्बन्धदोषपरिहार उक्तः, स च न सम्भवति, सर्वस्यापि पदार्थस्य गुणत्रयात्मकत्वमिति-सांख्यसिद्धान्तादित्याशंक्याहुः।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

लालूभट्टविरचितटिप्पणीसमेतम्।

भगवच्छास्त्रविरुद्धत्वात् सांख्यसिद्धान्तोक्तप्रमेयकथनं कुसृष्टिः। अतस्तादृशज्ञानं **भ्रम** एव। यद्यपि सर्वपदार्थस्य सगुणत्वं, तथापि भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वमेव। 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' , 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' , 'निर्गुणं मदपाश्रय'मित्यादिवाक्येभ्य इति भावः।

सेवां पुष्टिपथप्रोक्तां कारयित्वा निजां फलम्।
ददातु प्रथमं देवो बालकृष्णो मदीश्वरः॥ १॥

इतिश्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णदीक्षितेन विरचिता सेवाफलविवृतिटिप्पणी समाप्ता॥

किंतु प्रश्न यह है कि, आपने भगवदीयों के समस्त पदार्थ निर्गुण तो बता दिये और उनसे ही समस्त व्यवहार करने से गुणक्षोभ के दोष का भी परिहार बता दिया परंतु यह संभव नहीं है क्योंकि समस्त पदार्थ सत्व-रज-तम इन तीन गुणों से युक्त होते हैं, यह सांख्य का सिद्धांत है , फिर उन्हें निर्गुण कैसे कहा जाय ? तो इसका समाधान आपश्री अग्रिम श्लोक से दे रहे हैं।

आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भगवत्-शास्त्र से विरुद्ध होने के कारण सांख्यसिद्धांत में कहा गया ज्ञान **कुसृष्टि** है। अतः ऐसा ज्ञान **भ्रम** ही है। यद्यपि समस्त पदार्थ सगुण(सत्व-रज-तम गुणों से युक्त)हैं, तथापि भगवत्संबंधी पदार्थ तो निर्गुण ही हैं। "मन्निष्ठं(श्री०भा० ११-२५-२४)", "मन्निकेतनं(श्री०भा० ११-२५-२५)", " निर्गुणं(श्री०भा० ११-२५-२९)" इत्यादि वाक्यों में यह बात स्पष्टतया बतायी गयी है।

पुष्टिपथ में कही गयी सेवा निजजनों से करवा कर
मेरे ईश्वर बालकृष्ण मुझे सेवा का प्रथमफल(अलौकिकसामर्थ्य) दें॥ १॥

यह श्रीमद्गोवर्धनधर श्रीवल्लभाचार्यवर श्रीविट्ठलेश्वरचरण के अनुचरसेवक लालूभट्ट के उपनाम वाले बालकृष्णदीक्षित द्वारा विरचित सेवाफलविवृति की टिप्पणी समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः

सेवाफलम्।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतविवरणसमेतम्।

⁂

बार्हबर्हलसन्मौलि वेणुवादविशारदम्।
दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभंगललितं महः॥ १॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यास्तत्सुतान् विट्ठलेश्वरान्।
विवृत्या सहितं सेवाफलं व्याख्यायते मया॥ २॥
गीताभागवतादावप्युक्तं पण्डितबुद्धिगम्।
पुष्टिसेवाफलं ज्ञात्वा विचारे त्वक्षमान् निजान्॥ ३॥
विबोधयिषवश्चक्रुर्ग्रन्थं सेवाफलाभिधम्।
सम्यग्विवरणोपेतं श्रीमदाचार्यपण्डिताः॥ ४॥
षड्गुणाः सप्तमो धर्मी सर्वधर्म्यधिको व्रजे।
यथा विराजते नित्यं तत्सेवायाः फलं तथा॥ ५॥
सर्वसेवाफलेभ्योत्र ज्ञायतामधिकं पुनः।
इति ज्ञापयितुं सार्धसप्तपद्यैर्निरूपितम्॥ ६॥
मस्तक पर मयूरपंख से सुशोभित , वेणुवादन में विशारद
ऐसे त्रिभंगललित-प्रभु हमारे दुःख को संपूर्णतया नष्ट करें॥ १॥
श्रीवल्लभाचार्य, उनके सुपुत्र विट्ठलेश्वर को नमन करके
सेवाफल का विवृतिसहित व्याख्यान कर रहा हूँ॥ २॥
गीताभागवत आदि में कहा पुष्टिसेवा का फल तो केवल पंडित ही जान सकते हैं।
यह जान कर आचार्यचरणों ने निजजनों को अक्षम जान कर,॥ ३॥
उन्हें बोध कराने के लिये पंडितश्रीमदाचार्यचरणों ने
सेवाफल नामक ग्रंथ की विवरणसहित रचना की॥ ४॥
छह गुण एवं सातवाँ धर्मि होता है। जैसे व्रज में विराजते प्रभु समस्त धर्मो से अधिक हैं।
वैसे उनकी सेवा का फल भी,॥ ५॥
समस्त सेवाओं से अधिक है यह जान लीजिए।
यह बताने के लिये आचार्यचरण साढ़े सात पद्यों से इस ग्रंथ का निरूपण कर रहे हैं॥ ६॥

अथ श्रीभगवतगीताश्रीभागवताणुभाष्यभागवततत्त्वप्रदीपसुबोधिन्यादिसमाकलनासमर्थैः कैश्चिदतिकृपाभाजनैः स्वीयभगवदीयैः पृष्टाः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वमार्गीयसेवाफलं निरूपयन्ति यादृशी सेवना प्रोक्तेत्यादि सार्धपदेन।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

एतस्य विवरणं तु **सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति**। अत्र **सेवायामिति** तु **यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धावित्येतस्य** विवरणम्। **फलत्रयमिति** तु **फलमुच्यत** इत्यस्य विवरणम्। **अलौकिकसामर्थ्यमित्यादि अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथ** इत्यारभ्य **अधिकारो** वेत्येतदन्तस्य च विवरणं बोध्यम्।

श्रीभगवद्गीता, श्रीभागवत, अणुभाष्य, भागवततत्वदीप, सुबोधिनी आदि समस्त ग्रंथों का आकलन न कर पाने वाले अपने किसी कृपापात्र भगवदीय के पूछने पर श्रीवल्लभाचार्यचरण स्वमार्गीय सेवाफल का निरूपण **यादृशी सेवना प्रोक्ता** इत्यादि डेढ़ श्लोक द्वारा कर रहे हैं।

इस श्लोक का विवरण आचार्यचरणों ने **सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु** इत्यादि शब्दों से किया है। **यादृशी सेवना** इत्यादि का अर्थ आपश्री ने विवरण में **सेवायाम्** शब्द से किया है। **फलमुच्यते** का विवरण **फलत्रयम्** शब्दों से किया है। **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः** से लेकर **अधिकारो वा** तक का अर्थ **अलौकिकसामर्थ्यं** इत्यादि शब्दों से किया है।

अथ व्याख्या। यादृशी ‘कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धौ तनुवित्तजे’त्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसेवया प्रेम्णि जाते आसक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्त्वरूपा फलरूपा मानसी सेवेति सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तप्रकारा सेवना सेवा मया प्रोक्ता तस्याः सिद्धौ पूर्णतयाविर्भावे सति यत्फलं भवति तदुच्यते कथ्यत इत्यर्थः।

अब हम ग्रंथ की व्याख्या कर रहे हैं। **यादृशी सेवना** का अर्थ वह सेवा है जो “कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए ,मानसी श्रेष्ठ मानी गयी है, चित्त का सेवा में प्रवण होना सेवा है, तनुवित्तजा से मानसी सिद्ध होती है (सि०मु० १)” इत्यादि वाक्यानुसार अपने तन एवं अपने वित्त से की जाने वाली सेवा है, जो भगवान में प्रेम होने पर आसक्ति के स्वरूप वाली होती है। इस आसक्ति का अर्थ चित्त का भगवान में प्रवण होना है, जो फलरूपा मानसी सेवा कही जाती है - यह सिद्धांतमुक्तावली में आपश्री ने कहा है। तो आचार्यचरण **यादृशी सेवना** से यह आज्ञा कर रहे हैं कि - इस प्रकार की जो सेवा मैंने कही है, वह सिद्ध होने पर अर्थात् जब ऐसी सेवा पूर्णतया प्रकट हो जाय तब जो फल प्राप्त होता है, वह फल कह रहा हूँ।

ननु सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु स्वतनुजस्ववित्तजसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिः कण्ठरवेण नोक्तेति कथं भवतोच्यत इति चेत् ? अत्रोच्यते। ‘यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते, बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तना’दित्युपक्रम्य ‘बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि’रित्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवामुक्त्वा ‘ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि’त्यनेन साधनरूपसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिरुक्ता, तदनन्तरमासक्तिरुक्ता, तदनन्तरं व्यसनं चोक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैर्भक्तिवर्धिन्यामिति। एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि प्रवर्तत इति न्यायं मनसिकृत्यास्मत्प्रभुभिः सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतावुक्त‘मेतेन निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवती’ति मयाप्युक्तमित्यवेहि।

किंतु आप पूछेंगे कि, सि०मु० में आचार्यचरणों ने यह तो लिखा नहीं है कि, अपने तन एवं अपने वित्त द्वारा भगवत्सेवा करने के पश्चात् भगवान में प्रेम उत्पन्न होता है अतः यहाँ मैंने किस आधार पर यह बात कही कि भगवत्सेवा द्वारा भगवान में प्रेम उत्पन्न होता है ? तो मैं इसका समाधान कह रह हूँ। स्वयं आचार्यचरणों ने भक्तिवर्धिनीग्रंथ में “जिस प्रकार से भक्ति प्रवृद्ध हो, वह उपाय कह रहा हूँ। त्याग करने से एवं श्रवणकीर्तन द्वारा बीजभाव दृढ़ होता है(१)” इस वाक्य से आरंभ करके “बीजभाव दृढ़ करने का प्रकार यह है कि, घर में रह कर अव्यावृत्त होकर पूजाश्रवण आदि द्वारा कृष्ण का भजन करना चाहिए(२)” इत्यादि वाक्यों द्वारा अपने तन एवं अपने धन द्वारा साधनरूप सेवा के विषय में बताया है। इसके पश्चात् आगे “जब ऐसे सेवा करेंगे तो भगवान में प्रेम उत्पन्न होगा और फिर आसक्ति। और आसक्ति होने के बाद जब व्यसन हो जाय, तब बीजभाव दृढ़ हो गया समझिए(३)” इत्यादि वाक्यों में आपश्री ने यह भी बताया है कि उक्त साधनसेवा करने के पश्चात् भगवान में प्रेम होता है, फिर आसक्ति होती है और फिर व्यसन भी होता है। तो इससे हम यह कहना चाह रहे हैं कि, एक स्थल पर जिस शास्त्रार्थ का निर्णय हो गया, वही शास्त्रार्थ दूसरे स्थान पर भी लागू होता है। इस बात को ध्यान में रखकर हमारे श्रीप्रभुचरणों ने जो सिद्धांतमुक्तावली की विवृति में “निस्वार्थभाव से प्रभु को सर्वस्व का निवेदन कर देने के पश्चात् भगवान में ही स्वदेह का विनियोग होने पर भगवान में प्रेम उत्पन्न होता है और जिससे मानसी सेवा सिद्ध होती है(२) यह कहा ही है अतः जान लीजिए कि उसी आधार को लेकर मैंने भी यहाँ ये बात कही कि, तनुवित्तजा के द्वारा सर्वप्रथम भगवान में प्रेम होता है फिर मानसी सेवा सिद्ध होती है।

तत्किं फलमित्याकांक्षायामिदमिदं फलमिति फलत्रयं विवक्षव आद्यं फलमाहुर्मूले **अलौकिकस्य दाने हीति**। एतद्विवरणं **त्वलौकिकसामर्थ्यमिति**। अत्र द्वितीयातत्पुरुषस्त्वसम्भव्येव, तृतीयापञ्चमीषष्ठीतत्पुरुषाणां सम्भवित्वेपि क्लिष्टार्थता सम्भवतीत्यलौकिकाय सामर्थ्यमिति चतुर्थीतत्पुरुषाश्रयणादलौकिके सामर्थ्यमलौकिकसामर्थ्यमिति सप्तमीतत्पुरुषाश्रयणाद्वा अलौकिकविषयकसामर्थ्यं यावदलौकिकसम्बन्धजनितसुखदुःखानुभवविषयकशक्ततेति यावदित्यर्थो ज्ञेयः। एवं च सति 'निःप्रत्यूहो महान्भोगः प्रथमे विशते सदे'ति मूले, तथा च 'अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति तद्विवरणे चोक्तो ह्यलौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश उपपन्नो भवेत् , तस्याप्यलौकिकपदेन संग्रहात्।

तो इस सेवा में क्या फल होता है, इसके उत्तरस्वरूप आचार्यचरण "ये ये फल होता है, इस इस प्रकार से फल होता है" इत्यादि इत्यादि ढंग से सेवा में होने वाले तीन फलों की विवेचना करने के लिये प्रथम फल **अलौकिकस्य दाने हि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन शब्दों का विवरण आपश्री ने **अलौकिकसामर्थ्य** इत्यादि शब्दों से किया है। चलिये, अब विचार करें कि अलौकिकसामर्थ्य शब्द में कौन सी समास करनी ठीक रहेगी। द्वितीयातत्पुरुषसमास तो की ही नहीं जा सकती, हाँ .. तृतीया-पंचमी-षष्ठीतत्पुरुषसमास की जा सकती है परंतु तब पूरी पंक्ति का अर्थ करना बड़ा कठिन हो जायेगा। अतः मेरे विचार से अलौकिकाय सामथ्य(अलौकिकता प्राप्त करने के लिये) यों चतुर्थीतत्पुरुषसमास करना उचित रहेगा। या फिर अलौकिके सामथ्य (अलौकिक वस्तु के विषय में सामर्थ्य प्राप्त करनी) यों करके सप्तमीतत्पुरुषसमास भी की जा सकती है। इन दोनों तरह से समास करने पर अलौकिकसामर्थ्य का अर्थ होगा - अलौकिकसंबंधी सामर्थ्य अर्थात् अलौकिकसबंध से होने वाले सुखदुःख का अनुभव कर पाने की क्षमता। अतः जब इस प्रकार से अलौकिकसामर्थ्य पद का अर्थ करेंगे, तब "निःप्रत्यूहो महान्भोगः प्रथमे विशते सदा" इस मूलपंक्ति के द्वारा एवं "अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति" इस विवरण की पंक्ति द्वारा कही यह बात कि "अलौकिकभोग प्रथमफल में प्रवेश करता है" अब उचितरूप से बैठ पायेगी। क्योंकि उस भोग को भी आपश्री ने अलौकिकभोग ही कहा है। सीधी सी बात है कि अलौकिकसामर्थ्य ही तो अलौकिकभोग करायेगी !

कर्मधारयाश्रयणे तु सामर्थ्यमात्रस्यैवालौकिकत्वात्तदतिरिक्तालौकिकभोगादेरलौकिकसामर्थ्यरूपत्वाभावादलौकिकपदेनासंग्रहादलौकिकसामर्थ्यरूपप्रथमफले प्रवेशोक्तिरसंगता स्यात्। तस्माच्चतुर्थीतत्पुरुषः सप्तमीतत्पुरुष एव वात्र साधुतरो न कर्मधारय इति बोध्यम्।

******इसके आगे टीकाकार अलौकिकसामर्थ्य शब्द में कर्मधारयसमास पर विचार कर रहे हैं। आप कहते हैं कि इसमें कर्मधारयसमास नहीं हो सकती। कर्मधारयसमास करने पर अलौकिकसामर्थ्य का अर्थ बनेगा - ऐसी सामर्थ्य जो अलौकिक है। इस अर्थ को ध्यान से देखेंगे तो पता चलेगा कि, इसमें अलौकिकता सीमित होकर केवल सामर्थ्य पद में ही रह गयी है। ऐसे में सामर्थ्य पद के अलावा भी यदि कहीं अलौकिकता बतानी हो, तो कर्मधारयसमास से नहीं बतायी जा सकेगी। उदा० के लिये जैसे आचार्यचरणों को सामर्थ्य के अतिरिक्त आगे कहे जाने वाले भोग के भी दो प्रकार करके उनमें से एक भोग को अलौकिक बताना ही है, जो कर्मधारयसमास से नहीं बताया जा सकेगा क्योंकि अलौकिकता तो बस सामर्थ्य पद में ही घट कर रह गयी। अतः जब अलौकिकभोग में ही अलौकिकता न आ पायी, तो यह भी कैसे कहा जा सकेगा कि अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्यरूप प्रथमफल में प्रवेश करता है ? जो खुद ही अलौकिक नहीं, वह अलौकिकफल में प्रवेश ही कैसे करा सकता है, यह अर्थ है।****** यदि कर्मधारय समास करेंगे तो अलौकिकता का अर्थ केवल सामर्थ्य मात्र में घटकर रह जायेगा। किंतु आचार्यचरणों को सामर्थ्य के अतिरिक्त भोग की भी अलौकिकता बतानी ही है, वह नहीं बतायी जा सकेगी। और जब भोग को ही अलौकिक बताना संभव नहीं होगा, तो ये भी कैसे कहा जा सकेगा कि - अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्यरूप प्रथमफल में प्रवेश करता है।अतः या तो चतुर्थीतत्पुरुषसमास या फिर सप्तमीतत्पुरुषसमास करना ही उचित रहेगा , कर्मधारय नहीं।

यद्वा। न लौकिकमलौकिकम् , अलौकिकं च तत्सामर्थ्यं चेति कर्मधारय एवास्तु। न च पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति वाच्यम्। अलौकिकभोगस्त्वलौकिकसुखदुःखसाक्षात्कारस्तु फलानां मध्ये प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्येऽधिकरणरूपे प्रविशति प्रविष्टो भवति, तदर्थमेवालौकिकसामर्थ्यस्य भगवता दानात्। एवं च न पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति दिक्। एवं च विवरणे मूलस्थालौकिकपदस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यपरत्वेनालौकिकसामर्थ्यपरत्वेन वा व्याख्यानात् कस्यचिदेतत्संघाते कस्यचित्त्वेतद्देहपातोत्तरं

वृन्दावनादिष्वलौकिकसंघात एव वा ह्यलौकिकविषयकसामर्थ्यरूपस्यालौकिकसामर्थ्यरूपस्य वा फलस्य दाने वितरणे स आद्यः प्राथमिकः सत्संगादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नः प्रियतमभगवत्संगमविषयको भक्तस्य मनोरथः स हि निश्चयेन सिध्येन्मनोरथविषयीभूतपदार्थप्राप्त्या पूर्णो भवेत् , तददाने तु न पूर्णो भवेदित्यर्थः। तथा च मनोरथविषयीभूतप्रियसंगमसाधकं प्राथमिकं फलमलौकिकविषयकसामर्थ्यप्राप्तिरिति बोध्यम्।

अथवा तो चलिये, कर्मधारयसमास भी कर लीजिए।- "जो लौकिक नहीं है, वह अलौकिक है और जिस सामर्थ्य में अलौकिकता है उसका नाम है - अलौकिकसामर्थ्य" - यों कर्मधारयसमास भी कर लीजिए और ऐसे अर्थ करने में पहले कहा गया दूषण भी नहीं आयेगा। वो इस प्रकार कि फिर अर्थ यों करें - अलौकिकभोग यानि अलौकिकसुखदुःख का अनुभव करना। यह अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्यरूपी प्रथमफल का आधार होता है क्योंकि अलौकिकसुखदुःख का अनुभव करने के लिये ही तो भगवान अलौकिकसामर्थ्य का दान करते हैं। इस तरह से अर्थ करेंगे तो कर्मधारयसमास में पहले कहा गया दूषण भी नहीं आ पायेगा। इसीलिये मूलग्रंथ में कहे अलौकिक पद को विवरण में आचार्यचरणों ने अलौकिकविषयों की सामर्थ्य या अलौकिकसामर्थ्य बताया है। इस तरह से यह अर्थ होगा कि - किसी जीव को इस लौकिक शरीर में ही और किसी को लौकिक देहपात होने के पश्चात् बृंदावन आदि में अलौकिकशरीर में अलौकिकविषयसंबंधी या अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल का दान होगा ; जिस दान के कारण सत्संग आदि के द्वारा प्रथमतया होने वाला प्रियतम भगवान का संग प्राप्त करने का मनोरथ निश्चित ही उत्पन्न होता है। अर्थात् मनोरथ जिन कारणों से उत्पन्न होता है, वे पदार्थ मिलने पर मनोरथ पूर्ण होता है, यदि भगवान उन पदार्थों का दान नहीं करते तो पूर्ण नहीं होता, यह अर्थ है। संक्षेप में यह समझें कि, जिन प्रियतमभगवान का संग मिलने का मनोरथ किया है उसको साधने वाला प्राथमिकफल अर्थात् अलौकिकविषयकसामर्थ्य की प्राप्ति होती है।

अल्पः सिध्येन्मनोरथ इति पाठे त्वलौकिकस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यस्यालौकिकसामर्थ्यस्य वा अदाने हि निश्चयेन विप्रयोगोद्रेके सति कदाचित् कदाचिन्मनसि जायमानत्वादल्पः स्वल्पो मनोरथः प्रियसंगमविषयकः सिध्येदित्यर्थो ज्ञेयः। चकारेणैतद्दान एवान्योपि मनोरथः सिध्येदिति व्याख्येयम्। अत्रैवं ज्ञेयम्। प्रथमतो मूलेच्छया 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपधिरसरूपसपरिकरभगवत्कृपया शुद्धपुष्टिमार्गीयं वरणम् , तदनु सत्संगादिना प्राथमिको भगवत्संगममनोरथः, तदनु शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयः,

अल्पः सिध्येन्मनोरथः यह पाठ मानें तो अर्थ यह होगा कि - यदि भगवान अलौकिकविषयसबंधी या अलौकिकसामार्थ्य का दान नहीं करते तो विप्रयोग होने के कारण अपने प्रियभगवान का संग प्राप्त करने का मनोरथ मन में कभी कभी ही आता है अतः यह मनोरथ अल्प है। च शब्द से यह मालूम पड़ता है कि, भगवान के दान करने पर ही इस अल्प के अलावा अन्य भी मनोरथ सिद्ध होते हैं। यहाँ ये समझिए कि, सर्वप्रथम तो रसरूप-सपरिकर-भगवान की जीव का वरण करने की मूल इच्छा से "यह परमात्मा जिसका वरण करते हैं, उसी को प्राप्त होते हैं(कठो० १-२-२३)" इस श्रुति के अनुसार बिना किसी कारण से भगवत्कृपा से शुद्धपुष्टिमार्गीय पद्धति से जीव का वरण होता है। इसके पश्चात् सत्संग आदि के द्वारा प्राथमिक भगवत्संगम का मनोरथ होता है। इसके पश्चात् शुद्धपुष्टिमार्गीय आचार्य का आश्रय लिया जाता है.........

तदनु भगवत्प्राप्तिजनकतिरोहिततापक्लेशानन्दाविर्भावाय शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यकृतं निवेदनम् , ततस्तदुपदिष्टोस्मिन्मार्गे गोपिकानामेव गुरुत्वमिति फलप्रकरणीयसिद्धान्ता'दथ च गोपीभावेन ये भक्ता' इत्याद्यादिपुराणवाक्याच्च मूलरूपशुद्धपुष्टिमार्गाचार्याणां व्रजभक्तानां यो भावस्तत्सजातीयभावभावनापूर्वकं स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवाकरणेन दृढतरकथाश्रवणादिना वा कस्यचिद्विनैव प्रेमोत्पत्तिं देहपाते 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति श्लोके 'सदनुग्रहो भवा'नित्युक्तत्वात् प्रेमवदाचार्यस्थभगवदनुग्रहबलेन प्राप्तालौकिकदेहे रसमार्गीयत्वात् पूर्वानुरागमारभ्य सकलप्रेमावस्थाविर्भावः।

फिर भगवत्प्राप्ति करानेवाले तापक्लेशानंद जो जीव में तिरोहित हो गये हैं, उन ताप-क्लेश-आनंद को प्रकट करने के लिये शुद्धपुष्टिमार्गीय आचार्य द्वारा भगवान को निवेदन करना होता है। इसके पश्चात् आचार्यचरणों के द्वारा उपदिष्ट किये गये इस मार्ग में सुबोधिनी के फलप्रकरण के अनुसार गोपिकाओं को ही गुरु माना गया है और पुराण के "अथ च गोपीभावेन ये भक्ता" इत्यादि वाक्यों के अनुसार भी व्रजभक्त गोपिकाएँ जो मूलरूप में शुद्धपुष्टिमार्गीय आचार्य हैं , उनके भावों के सजातीय भाव का अनुकरण करना होता है। वह ऐसे कि, अपने तन एवं अपने वित्त द्वारा साधनरूप सेवा करने से अथवा तो दृढ़तर होकर कथाश्रवण आदि से देहपात हो जाता है और किसी को तो प्रेम की उत्पत्ति हुए बिना ही देहपात हो जाता है। "हे भगवन् ! आपके भक्तजन स्वय

तो इस कष्टप्रद संसारसागर को पार कर ही जाते हैं परंतु दूसरों के लिये भी आपके चरणकमलरूपी नौका स्थापित कर देते हैं। वास्तव में सत्पुरुषों पर आपकी बड़ी कृपा है(भा० १०-२-३१)" इन वाक्यों के अनुसार प्रेमयुक्त आचार्यचरणों में रहे हुए भगवद्-अनुग्रह के प्रताप से उसे अलौकिक देह प्राप्त होती है और यह देह रसमार्गीय होने के कारण उसे पहले अनुराग से आरंभ होकर समस्त प्रेम की अवस्थाओं का आविर्भाव होता है।

कस्यचित्तु भगवदिच्छया प्रेमासक्त्यनन्तरमेव पूर्वानुरागजविरहेणैव व्यसनं विनैव देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे व्यसनाद्यवस्थाविर्भावः। कस्यचित्त्वत्रैव प्राकृतदेहे प्रेम्णि जाते तदप्राप्त्या पूर्वानुरागजविरहाविर्भावः,

किसी को तो भगवद्-इच्छा से भगवान में प्रेम-आसक्ति के बाद पूर्व में उत्पन्न हुए भगवद्विरह के कारण व्यसन हुए बिना ही देहपात होकर अलौकिकदेह प्राप्त करके व्यसन आदि अवस्थाओं का अविर्भाव होता है। ****** (पूर्वानुरागजविरह का अर्थ है - जिसे भगवान का दर्शन या भगवत्प्राप्ति होने से पहले ही भगवान में प्रेम हो जाय और उस प्रेम के कारण भगवान का विरह हो जाय) ****** । किसी को तो यहीं इसी प्राकृत देह में भगवान के प्रति प्रेम होकर आसक्ति एवं व्यसन हुए बिना ही पूर्व में उत्पन्न हुए भगवत्प्रेम से विरह का आविर्भाव हो जाता है।

ततः स्वसेव्यस्वरूपे वा स्वप्नादौ वातिभाग्येन साक्षादपि वा प्रभुदर्शने 'चक्षुःप्रीतिः स्मृता तत्रातीवादरनिरीक्षण'मिति लक्षणानुसाराद्भगवद्विषयकः परमादरपूर्वकनिरीक्षणरूपश्चक्षुरागरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः।

विरह होने के पश्चात् अपने सेव्यस्वरूप में अथवा स्वप्न आदि में अथवा तो अतिभाग्य से प्रभु के साक्षात् दर्शन होने पर "आदरपूर्वक देखना ही नेत्रों द्वारा होने वाला प्रेम है" इस लक्षण के अनुसार भगवान को परम आदर से देखने वाला चक्षुरागरूपी प्रेम की प्रथम भगवद्विषयक अवस्था का आविर्भाव होता है।

तत'श्चित्तासंगः प्रियतमे नित्यं चित्तस्य' विश्रम' इति लक्षणानुसारात् 'ततः प्रेम तथासक्ति'रित्युक्तत्वात् प्रेमोत्तरोत्पन्नासक्तिस्वरूपतत्प्रवणचेतस्त्वरूपचित्तासंगरूपद्वितीयप्रेमावस्थाविर्भावः। इयमेवावस्था सेवापदवाच्या। 'अथावस्था निरूप्यन्ते रसावस्थानसूचिकाः। बीजांकुरः पल्लवश्च वृद्धिर्विस्तर एव च। अवस्था द्वितयेन स्याच्चक्षूरागादिषु क्रमात्। चक्षूरागो मनःसंगः संकल्पो जागरस्तथा। तनुता विषयद्वेषो लज्जात्यागस्ततःपरम्। उन्मादमूर्छामरणान्येता दश दशाः स्मृता' इत्युक्तत्वाच्चक्षूरागचित्तासंगाभ्यां बीजरूपप्रथमप्रेमावस्थोक्ता।

इसके पश्चात् "चित्त का निरंतर अपने प्रियतम में लगा रहना" इस लक्षण के अनुसार और भ०व० में 'प्रभु में पहले प्रेम फिर आसक्ति होती है(३) इस वाक्यानुसार भी प्रेम के पश्चात् आसक्ति होती है, जो अपने मार्ग में -चित्त का भगवान में प्रवण होना सेवा है(सि०मु०-२)- इस वाक्य द्वारा कही गयी है ; ऐसी आसक्ति होनी चित्त का अपने प्रियतम में ही लगे रहना वाली प्रेम की द्वितीय अवस्था का अविर्भाव है। इसी अवस्था का नाम सेवा है। ****** टीकाकार इसके पश्चात् रसमार्ग की पाँच अवस्थाएँ बता रहे हैं। इनके पश्चात् वे प्रेम की दस अवस्थाएँ बता रहे हैं। टीकाकार कहते हैं, रस की इन पाँच अवस्थाओं में से एक एक अवस्थाओं में प्रेम की क्रमशः दो-दो अवस्थाएँ संनिहित हैं।****** "रस की स्थिति का सूचन कराने वाली पाँच अवस्थाएँ हैं। वे हैं बीज, अंकुर, पल्लव, वृद्धि एवं विस्तार। इन प्रत्येक अवस्थाओं में चक्षुराग वाली प्रेम की दो-दो अवस्थाएँ होती हैं। वे दस अवस्थाएँ हैं - चक्षुराग, मन का संग, संकल्प, जागरण, तनुता, विषयद्वेष, लज्जात्याग, उन्माद, मूर्छा और मृत्यु" - इस वाक्यानुसार चक्षुराग एवं चित्त का संग इन दो अवस्थाओं से प्रेम की बीजरूप प्रथम अवस्था कही गयी है।

ततः 'संकल्पस्तु मनोरथ' इति लक्षणानुसारात्कदा प्रियसंगमे एवमेवं भविष्यतीत्यादिमनोरथरूपसंकल्पस्वरूपतृतीयप्रेमावस्थाविर्भावः। एतावता किञ्चिदुल्लसितः पूर्वानुरागजन्यो विरहः। अथायमलौकिकविषयत्वादलौकिको विरहः प्रलयानलादप्यतिदुःसहो भावीति लौकिकसामर्थ्यवता शरीरेण मनसा च सोढुमशक्यो देवकृतसम्भोगो मानुषजात्या स्त्रियेवेति भगवता तापक्लेशविशिष्टालौकिकविरहरसभोगसामर्थ्यं प्रथमतो दीयते। तदनूच्छ्वासनिश्वासस्मृत्याद्यनुभावविशिष्टो 'निद्राछेदस्तु निद्राया अभावः परिकीर्तित' इति लक्षणानुसारान्निद्राछेदरूपश्चतुर्थप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां संकल्पनिद्राछेदाभ्यामंकुरावस्थोक्ता।

इसके पश्चात् "संकल्प का अर्थ है-मनोरथ करना" इस लक्षण के अनुसार "कब प्रिय का संगम होगा और कब ऐसा होगा, कब वैसा होगा" इस प्रकार से मनोरथरूप संकल्पस्वरूप प्रेम की तीसरी अवस्था का आविर्भाव होता है। इन दो अवस्थाओं के पश्चात् पूर्वानुरागजन्य विरह कुछ कुछ पनपता है। यह अलौकिक के विषय में होने वाला विरह है अतः यह विरह भी अलौकिक

ही होता है, जो प्रलय की अग्नि से भी अधिक दुःसह होता है। इसी कारण लौकिकसामर्थ्य वाले शरीर एवं मन से इस विरह को सहन कर पाना अशक्य है। ठीक उसी प्रकार जैसे देवकृतसंभोग को मनुष्य जाति की स्त्रियाँ सहन नहीं कर सकती हैं। अतः भगवान सर्वप्रथम जीव को तापक्लेश से पूर्ण अलौकिक विरहरस का भोग कर पाने का सामर्थ्य देते हैं। इसके पश्चात् साँसों का गिरना-उठना, स्मरण करना इत्यादि अनुभाव से युक्त एवं "नींद उड़ जाने का अर्थ है नींद न आना" इस लक्षण वाली प्रेम की चौथी अवस्था का आविर्भाव होता है। इन संकल्प एवं निद्राच्छेद से रसमार्ग की अंकुरावस्था कही गयी है।

तत'स्तनुतानिखिलांगानां दौर्बल्यं परिकीर्तित'मिति लक्षणानुसारात् पाण्डुत्वाद्यनुभावविशिष्टतनुतास्वरूपपञ्चमप्रेमावस्थाविर्भावः। ततो 'विषयेभ्यो निवृत्तत्वमरतिर्विषयान्तरे' इति लक्षणानुसाराचक्षुर्निमीलनासहनशीलताद्यनुभावविशिष्टविषयनिवृत्तिरूपषष्ठप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां तनुताविषयनिवृत्तिभ्यां पल्लवावस्थोक्ता।

इसके पश्चात् समस्त अंगों का दुर्बल हो जाना तनुता है" इस लक्षण के अनुसार शरीर का पीला पड़ जाना तनुता वाली प्रेम की पाँचवीं अवस्था है। इसके पश्चात् "विषयों से निवृति का अर्थ है -अपने प्रिय के अतिरिक्त किसी में रुचि न होनी" इस लक्षण के अनुसार प्रिय को निरंतर देखते रहने की ललक में पलक गिरानी कठिन हो जाय ऐसी विषयनिवृति के स्वरूप वाली प्रेम की छठी अवस्था का आविर्भाव होता है। अतः तनुता एवं विषयनिवृति से रसमार्ग की पल्लवावस्था कही गयी है।

एतावतपर्यन्तमासक्तिकार्यमेव। अत एव 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचि'रित्यनेन गृहारुच्युपलक्षिता विषयनिवृत्तिरुक्ता श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्धिन्याम्। ततो 'दैहिकान्सकलान् भावान् निजां व्रीडां च दैहिकीम्। परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्यात्तदेव हि। लौकिकं वैदिकं चापि तत्कर्ता व्यसनी मत' इति दशमस्कन्धीयभागवततत्त्वदीपसिद्धान्तसिद्धलौकिकवैदिकप्रियप्राप्तिसाधनकरणरूपव्यसनाविर्भावः। ततः पुनः प्रियप्राप्तिदुर्घटत्वज्ञानेन 'उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धपद्यव्याख्यानसुबोधिन्युक्ताप्रतीकार्यदुःखस्वरूपव्यसनान्तराविर्भावः। येन विना प्रियतमांगसंगं क्षणमात्रमपि स्थातुं न शक्नोति, तेन प्रियतमांगसंगं च प्राप्नोत्येव। अत एव 'यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही'त्यनेन तत्रैवानुपदमेवोक्तं व्यसनोत्तरमेव कृतार्थत्वमप्रतीकार्यदुःखरूपव्यसनपदवाच्यान्यव्यसनप्राप्त्या। अत एव व्रतरूपव्यसने जाते प्रियप्राप्तिरेव जाता श्रीमतीनां कुमारीणाम्, तदनन्तरं चाप्रतीकार्यदुःखरूपे व्यसने जाते एव च प्रियतमांगसंगो जात इति श्रीभागवते स्पष्टमेव।

यहाँ तक की अवस्था आसक्ति का कार्य है, इसी कारण आचार्यचरणों ने भ०व० में "भगवान में स्नेह होने से अन्यत्र प्रेम का विनाश हो जाता है एवं भगवान में आसक्ति से घर में अरुचि हो जाती है(४)" इस वाक्य द्वारा घर से होनी वाली अरुचि के द्वारा विषयनिवृति वाली बात समझायी है। इसके पश्चात् "सभी दैहिक निजभावों एवं दैहिकी लज्जा का परित्याग कर जब हरिप्राप्ति होती है , तब ही व्यसन सिद्ध होता है" इस दशमस्कंधीय भागवततत्त्वदीप की कारिका में प्रमाणित प्रियप्राप्ति के लिये साधनरूप व्यसन का आविर्भाव होता है। इसके पश्चात् जब यह पता चल जाय कि अपने प्रिय की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है तो "उपस्थितान्तके तस्मै(भा० १०-१-१८)" इस दशमस्कंधीय पद्य का व्याख्यान करने वाली सुबोधिनी में आचार्यचरणों द्वारा कहा गया न मिट सकने वाला दुःखस्वरूप व्यसन का आविर्भाव होता है। जिस व्यसन से प्रियतम-भगवान के अंगसंग बिना क्षणमात्र के लिये भी रहा नहीं जाता , अतः वह प्रियतम-भगवान का अंगसंग प्राप्त करता ही है। इसी कारण आचार्यचरणों ने भ०व० में "जब कृष्ण में व्यसन हो जाता है, तभी जीव कृतार्थ बनता है(५)" इस वाक्य द्वारा यह कहा है कि, व्यसन के पश्चात् ही जीव कृतार्थ बनता है अतः न मिट सकने वाला दुःखरूप और व्यसनपद से कहे जाने वाले अन्य व्यसन की प्राप्ति होती है। इसी कारण व्रतरूपी व्यसन(अर्थात् भगवान को पाने ले लिये व्रजगोपिकाओं ने कात्यायनी-व्रत किया, वह) हो जाने पर श्रीव्रजकुमारिकाओं को प्रभुप्राप्ति होकर ही रही और इसके पश्चात् न मिट सकने वाला दुःखरूप व्यसन होने पर ही उन्हें अपने प्रिय का अंगसंग भी प्राप्त हुआ, जो भागवत में स्पष्ट ही है।

अत्र कृष्ण इति विषयसप्तमी निमित्तसप्तमी वा, 'चर्मणि द्वीपिन'मित्यत्रेव। तथा च कृष्णविषयकं कृष्णनिमित्तं वा यदा प्रथमव्यसनोत्तरमप्रतीकार्यं तापसहितं दुःखरूपं क्लेशापरपर्यायं द्वितीयं व्यसनं स्यात्तदा 'लज्जात्यागोतिवैवश्यात् त्रपानाशोभिधीयत' इति लक्षणानुसारादाकस्मिकहसनरोदनाद्यनुभावविशिष्टत्रपानाशस्वरूपसप्तमप्रेमावस्थाविर्भावः। तद'न्वचेतनेषु प्रश्नादिरुन्मादः परिकीर्तित' इति लक्षणानुसारादाकाशालिंगनाद्यनुभावविशिष्टोन्मादरूपाष्टमप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां त्रपानाशोन्मादाभ्यां वृद्ध्यवस्थोक्ता।

भ०व० के पाँचवें श्लोक के कृष्णे शब्द में या तो विषयसप्तमी मानें या फिर "चर्मणि द्विपिनं" इस सूत्र के अनुसार निमित्तसप्तमी मानें। अतः कृष्णसंबंधी या कृष्ण के लिये जब प्रथम व्यसन के पश्चात् तापसहित, क्लेश नामक दूसरा दुःखरूप व्यसन होता है , तब "अति विवशता के कारण लज्जा त्याग देनी त्रपानाश कहलाता है" इस प्रकार के लक्षणानुसार अपने प्रेमी को याद करते-करते अचानक हँसने या रोने लग जाने वाली त्रपानाश के स्वरूप वाली सातवीं प्रेम की अवस्था का आविर्भाव होता है। इसके पश्चात् "जड़पदार्थों से अपने प्रियतम के विषय में प्रश्न करने लग जाना उन्माद अवस्था है" इस लक्षणानुसार अकेले में अपने प्रियतम का स्मरण करते हुए केवल हवा में आलिंगन करने लग जाने वाली उन्मादरूप प्रेम की आठवीं अवस्था का आविर्भाव होता है। इस सातवीं त्रपानाश एवं आठवीं उन्माद अवस्था से प्रेम की वृद्धिरूप अवस्था कही गयी है।

ततः 'प्रलयो रागदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मत' इति लक्षणानुसारान्निश्चेष्टत्वाद्यनुभावविशिष्टमूर्छापरपर्यायप्रलयरूपनवम-प्रेमावस्थाविर्भावः।ततः 'प्राणत्यागोतिदुःखेन मृतिस्तु परिकीर्तिते'तिलक्षणानुसारान्मृतिरूपदशमप्रेमावस्थाविर्भावः। आभ्यां मूर्छामृतिभ्यां विस्तरावस्थोक्ता।

इसके पश्चात् "अत्यंत प्रेम या दुःख के कारण जब इंद्रियाँ सुप्त पड़ जाती हैं, उसे प्रलय कहते हैं" इस लक्षणानुसार प्रेम की अधिकता में निश्चेष्ट पड़ जाना एवं मूर्छा नामक प्रलयरूप प्रेम की नौवीं अवस्था का आविर्भाव होता है। इसके पश्चात् "अतिदुःख से प्राणत्याग मृत्यु अवस्था है" इस लक्षणानुसार मृत्युरूप प्रेम की दसवीं अवस्था का आविर्भाव होता है। मूर्छा एवं मृत्यु से रसमार्ग की पाँचवीं अवस्था कही गयी है।

तथा चैतादृशानुभावविशिष्टव्यसनोत्तरं प्राकृतेदेहपाते सच्चिदानन्दस्वरूपालौकिकदेहलाभे च सति भगवत्स्वरूपानन्दप्राप्त्या कृतार्थः स्यादित्यर्थः। अत एवेदमप्रतीकार्यदुःखमेव प्रार्थितं निरोधलक्षणाख्ये ग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणै'र्यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले। गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचिदि'त्यादिना। अत्रेदमपि ज्ञेयम्। येषां त्वलौकिकं शरीरं तेषां तु व्यसनानन्तरं प्रभुसंगम एव, न दशमदशाप्राकट्यम् यथा रासमण्डलमण्डनानाम्। येषां तु लौकिकं शरीरम् , तेषां तु व्यसनानन्तरं दशमदशोदयो भवत्येव, यथान्तर्गृहगतानाम्।इदमेव ज्ञापयितुमन्तर्गृहगतानां लीला। अन्यथा व्रजस्थानां सर्वेषामप्यलौकिकशरीरमिति तासामप्यलौकिकशरीरवत्त्वात्तथाकृतिर्व्यर्था नीरसा च स्यादितिदिक्।

इस प्रकार के अनुभव वाली व्यसनदशा के पश्चात् प्राकृतदेह छूट जाने के बाद एवं सच्चिदनंदस्वरूप अलौकिकदेह प्राप्त होने पर भगवत्स्वरूपानन्द की प्राप्ति द्वारा कृतार्थता होती है, यह अर्थ है। इसी कारण आचार्यचरणों ने नि०ल०ग्रं में "जो दुःख यशोदाजी को, नन्द आदि को एवं जो दुःख गोपिकाओं को हुआ, वह दुःख मुझे कब होगा(१)" इस वाक्य द्वारा निरंतर बने रहनेवाले दुःख की ही प्रार्थना की है। यहाँ अब ये भी समझ लें कि, जिनको अलौकिकशरीर प्राप्त होता है, उन्हें तो व्यसन होने के पश्चात् प्रभु का संगम ही मिलता है , प्रेम की दसवीं अवस्था मृत्यु नहीं, जैसे कि रासमण्डल की गोपिकाओं को प्रभुसंगम मिला। जिनका शरीर लौकिक होता है, उन्हें तो व्यसन होने के पश्चात् दसवीं दशा मृत्यु होती ही है, जैसे अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मिली। यही बात बताने के लिये तो अन्तर्गृहगताओं के चरित्र का वर्णन भागवत में किया गया है। अन्यथा तो यदि व्रज की समस्त गोपिकाओं का शरीर अलौकिक कह दिया जाय तो अन्तर्गृहगता गोपिकाओं का शरीर भी अलौकिक मानना पड़ेगा और इनका देहपात होना तो व्यर्थ ही चला जायेगा एवं रास जैसे रसपूर्ण विषय के आरंभकाल में ही इनकी मृत्यु हो जानी तो कितना नीरस भी लगता है।

'नन्वन्ते या मतिः सा गति'रिति प्रेमवदाचार्यानुग्रहबलेनात्यसह्येन पूर्वानुरागजभगवद्विरहेण वा तत्क्षणमेव देहपाते प्रियसंगमो भविष्यत्येव। अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादा भज्येतेति किमर्थमलौकिकसामर्थ्यदानं किमर्थं वा न तत्तद्दशानुभावनमिति चेत्। अत्र वदामः। 'रसो वै स' इति श्रुतेः प्रभो रसरूपत्वाद्रसमर्यादयैव स्वस्वरूपदानमित्यलौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेति जानीहि। अपि च, तत्क्षणमेव देहपाते चक्षूरागादिक्रमेणावस्थानुभावाभावदर्शने रसमार्गीयभगवदीयानां सन्देहः स्यात्को वेद रसस्वरूपभगवत्प्राप्तिरेतस्याथवान्यस्वरूपभगवत्प्राप्तिरिति। तदर्थमेव कस्यचिदलौकिकसर्वावस्थानुभवोत्रैव कार्यते प्रभुणा। तथा सति तत्तदवस्थानुभवस्य प्रत्यक्षतो दृश्यमानत्वेन सर्वेषां रसस्वरूपप्राप्तेर्निश्चयादेतन्मार्गीया प्रवृत्तिरपि निःप्रत्यूहा भवेत् , तदर्थमत्रैवालौकिकसामर्थ्यदानं तत्तद्दशानुभावनं चेत्यलं पल्लवितेन। एवमेवालौकिकसामर्थ्यं साक्षाद्वृन्दावनादिष्वपि दीयत इत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति।

—————— एक शंका यह होती है कि, "अंत में जैसी मति वैसी गति(न्यायः)" इस नियमानुसार प्रेमवान आचार्यचरणों के कृपाबल से अथवा तो असहनीय पूर्वानुरागजन्य विरह के कारण तत्क्षण ही यदि देहपात हो जाता है , तो जीव को प्रियभगवान का संगम तो होगा ही। यदि आप ये पूछें कि स्वयं भगवान ने गीता में "जो जिस प्रकार से मेरे शरणागत होता है, उसे मैं वैसे प्राप्त होता हूँ(४-११)"इस प्रकार की प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी अतः भगवान उसे उन उन प्रेम की दशाओं का अनुभव क्यों नहीं कराते, अलौकिकसामर्थ्य का दान क्यों करते हैं ?—————— तो हम इसका समाधान कह रहे हैं। "भगवान ही रस हैं(तैति० २-७-१)" इस श्रुति के द्वारा प्रभु रसस्वरूप हैं और रसमार्ग की मर्यादानुसार ही अपने स्वरूप का दान करते हैं अतः अलौकिकसामर्थ्य का दान एवं उन-उन दशाओं का भावन भी वे रसमार्ग की मर्यादा से ही करवाते हैं, यह जान लीजिए। और, प्रेम की चक्षुराग वाली दस अवस्थाओं का अनुभव हुए बिना ही देहपात हो जाय, तो रसमार्गीयभगवदीयों को संदेह होगा कि - क्या पता रसस्वरूपभगवान की ही प्राप्ति हुई है या फिर अन्य ही किसी स्वरूप की ? इसी कारण किसी कृपापात्र को भगवान इन सभी अलौकिक अवस्थाओं का अनुभव कराते हैं। ऐसी परिस्थिति में रस-प्रेम की उन उन अवस्थाओं का अनुभव प्रत्यक्ष दिखाई देता होने के कारण सभी भगवदीयों को यह निश्चित हो जाता है कि, उन्हें रसस्वरूप की ही प्राप्ति हुई है और इससे उन्हें इस मार्ग की ओर रुझान भी होने लगता है। इसी कारण यहाँ अलौकिकसामर्थ्य का दान एवं प्रेम की दस दशाओं का भावन भी होता है। यही अलौकिकसामर्थ्य भगवान् वृंदावन आदि में भी देते हैं - यह हम आगे कहेंगे।

यद्वा, योस्मिन्मार्गे समायाति तस्य तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृतो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः। व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत् सदा। ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि'ति भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकरणे प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्युक्तत्वात्तदनन्तरं तत्र 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही'त्युक्तत्वाच्च व्यसनप्राप्तेः कृतार्थीकरणस्वभावात् प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयको भवति। तत्र व्यसनाविभावे महातापोदयात्तत्सहनं लौकिकसामर्थ्येन कर्तुमशक्यमतिदुःसहत्वादिति भगवता व्यसनाविर्भावादव्यवहितपूर्वं तत्समकालमेव वात्रालौकिकसामर्थ्यं दीयते व्यसनसहनार्थम्। एवं **चालौकिकस्य दाने हि**। **हि** निश्चयेनालौकिकस्यालौकिकसामर्थ्यस्य दाने आद्यः प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयकः सिध्येन्निष्पन्नो भवेत् , व्यसनप्राप्तिः स्यादिति यावत् , तददाने स न निष्पद्यत इत्यर्थः। तथा च शुद्धपुष्टिमार्गीयस्य प्रेमासक्तिरूपायां सेवायां सिद्धायां प्रथमफलमलौकिकसामर्थ्यप्राप्तिरिति श्रीमदाचार्यैरेतस्य प्रथमफलत्वमुक्तमिति भावः।

अथवा तो यों समझ लें कि जो इस मार्ग में आता है, उसे तो भ०व० में कहे "बीजभाव तो स्वधर्म का निर्वाह करते हुए घर में रहकर होता है। अव्यावृत्त होकर कृष्ण को पूजा-श्रवण आदि से भजना चाहिए। व्यावृत्त होने पर भी चित्त को हरि के श्रवणादि में लगाना चाहिए। इससे भगवान में प्रेम, फिर आसक्ति एवं फिर व्यसन जब होगा, तब जीव कृतार्थ बनेगा(२,३)" इस वाक्यानुसार तनुजावित्तजा सेवा करने पर प्रेम-आसक्ति एवं व्यसन आदि सिद्ध होते हैं, यह कहा गया है। और इसके बाद वहीं भ०व० में आगे "जब कृष्ण में व्यसन होता है, तभी जीव कृतार्थ बनता है(५)" इस वाक्यानुसार व्यसन प्राप्त होने पर ही कृतार्थता कही गयी है अतः उसे मन में सबसे पहले व्यसनप्राप्तिरूप मनोरथ होता है। फिर व्यसन का आविर्भाव होने पर जीव में महान ताप का उदय होता है, जिसे लौकिकसामर्थ्य द्वारा सहन कर पाना उसके लिये अति कठिन होने के कारण अशक्य होता है। अतः ऐसे में भगवान व्यसन का आविर्भाव होने के ठीक पहले या व्यसन होते ही उसी समय उसे अलौकिकसामर्थ्य देते हैं, जिससे कि वो व्यसन को सहन कर सके। इसी कारण आचार्यचरणों ने कहा कि - भगवान जब अलौकिकसामर्थ्य का दान करते हैं, तब आद्यमनोरथ अर्थात् व्यसन प्राप्त होने वाला मनोरथ सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि उसे व्यसन की प्राप्ति होती है, यदि भगवान अलौकिकसामर्थ्य का दान न करें तो नहीं होती- यह अर्थ है। इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि, शुद्धपुष्टिमार्गीय प्रेमासक्तिरूपसेवा के सिद्ध हो जाने पर प्रथमफल-अलौकिकसामर्थ्य की प्राप्ति होती है अतः श्रीमदाचार्यचरणों ने इसे प्रथमफल कहा है- यह भाव है।

अथैतादृशविप्रयोगजनितदेहपातोत्तरं तु बाह्याभ्यन्तरभेदेनेदानीं तु देहस्य लौकिकत्वात्स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धेनान्तःकरणस्यैवालौकिकत्वाच्चान्तरेव च भावि परमकाष्ठापन्नं फलत्रयेपि मुख्यफलरूपं द्वितीयं फलमाहुः फलं वेति। अत्र विवरणे फलपदस्य सायुज्यत्वेन व्याख्यानात् द्वितीयं फलं सायुज्यरूपं वा भवेत्। अत्र वाशब्दो विकल्पार्थः। यद्यतिकृपाविशिष्टमूलाचार्यरूप-श्रीमद्व्रजभक्तेंगितविशिष्टा प्रभोस्तादृङ्मूलेच्छा स्यात्। अत्र सायुज्यं शुद्धपुष्टिमार्गीयमेव विवक्षितम् , न त्वन्यत्। शुद्धपुष्टिमार्गीय-सेवाफलस्यैव निरूपणात्।

अब ऐसे विप्रयोग के कारण हुए देहपात के पश्चात् तो बाह्याभ्यंतर दोनों में अलौकिकता प्रविष्ट हो जाती है परंतु इस समय जब देह लौकिक है तब स्थायिभावस्वरूप भगवान के संबंध से केवल अन्तःकरण ही अलौकिक बन पाता है, देह नहीं। इसलिये अन्तर में ही होने वाले सर्वोत्तम तीन फलों में से मुख्यफलरूप द्वितीयफल फलं वा इत्यादि शब्दों से आचार्यचरण कह रहे हैं। इसके विवरण में आचार्यचरणों ने इस फल शब्द का अर्थ सायुज्य किया है अतः द्वितीयफल सायुज्य होता है, यह समझिए। यहाँ वा शब्द विकल्प के अर्थ में है। जब पुष्टिमार्ग के मूल गुरु श्रीमद्व्रजभक्त की कृपा द्वारा प्रभु को किसी को सायुज्य देने की इच्छा होती है, तब उसे सायुज्यफल मिलता है। यहाँ सायुज्य का अर्थ शुद्धपुष्टिमार्गीय सायुज्य ही लेना चाहिए , अन्य कोई दूसरा सायुज्य नहीं क्योंकि चर्चा भी तो शुद्धपुष्टिमार्गीय सेवाफल की ही चल रही है।

ननु सायुज्यमेकविधमेव शास्त्रान्तरेषु श्रूयते, न त्वन्यप्रकारकमतो न त्वन्यदिति निषेधो नोपपद्यत इति चेत्। अत्र वदामः। द्विविधं तावत्सायुज्यं स्थूलतया। तत्रैकमभेदसम्बन्धघटितम् , द्वितीयं तु भेदसम्बन्धघटितम्। तत्राद्यं 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवती'त्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्धम् , साधारणानुग्रहात् केवलमर्यादारूपमेकविधमेव।

अब, शास्त्रों में तो एक ही प्रकार के सायुज्य का वर्णन आता है, दूसरे किसी प्रकार का नहीं ; और यह कह कर यदि आप मेरे कहे सायुज्य का निषेध करना चाह रहे हैं , तो मैं इसका समाधान कहता हूँ। मोटे तौर पर सायुज्य दो प्रकार का होता है। एक सायुज्य में ब्रह्म से कोई भेद नहीं रहता और दूसरे सायुज्य में भेद रहता है अर्थात् जीव एवं भगवान दोनों अलग-अलग रहते हैं। इनमें से पहला सायुज्य "ब्रह्म को जान लेने वाला ब्रह्म ही होता है" इत्यादि श्रुतिप्रमाण से सिद्ध है, जो भगवान के साधारण अनुग्रह से प्राप्त होता है और केवल मर्यादाजीवों के लिये ही है। यह सायुज्य एक ही तरह का है।

द्वितीयं तु त्रिविधम्। तत्रैकं 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्यादिगीतावाक्यसिद्धम्। ब्रह्मभावोत्तरसामयिकोत्तमाकस्मिककृपाजनित-परमभक्तिलाभजन्यभगवद्दानोत्तरसामयिक-भगवत्प्रवेशरूपगृहादिप्रवेशवत्। प्रवेशस्य भेद एव सम्भवाद्भेदघटितत्वं ज्ञेयम्।

दूसरे प्रकार के सायुज्य के तीन प्रकार हैं। ****** टीकाकार इसके आगे दूसरे प्रकार के सायुज्य के तीन प्रकार बता रहे हैं। वे बता रहे हैं कि इनमें पहला वाला सायुज्य भगवान की उत्तमकृपा से प्राप्त होता है, दूसरा वाला सायुज्य भगवान की उत्तमतरकृपा से प्राप्त होता है एवं तीसरा वाला सायुज्य भगवान की उत्तमतमकृपा से प्राप्त होता है। ***** इनमें से पहला प्रकार "ब्रह्म से ऐक्य पा जाने वाला पुरुष न शोक करता है न किसी की आकांक्षा रखता है(भ०गी० १८-५४)" इस गीतावाक्य के अनुसार ब्रह्मभाव प्राप्त होने के समय भगवान की अचानक हुई(अर्थात् जीव को भगवद्-कृपा की कल्पना भी न हो और भगवान कृपा कर दें) उत्तमकृपा से परमभक्ति का लाभ होता है। परमभक्ति प्राप्त होने के कारण भगवान जब जीव को दान करें, तब जीव का भगवान में प्रवेश होता है, ठीक वैसे ही जैसे कोई बाहर से घर में भीतर प्रवेश करता है। प्रवेश तो उसी का होगा जो बाहर है अतः यह सायुज्य भगवान और जीव में भेद दिखाने वाला सायुज्य है। इस प्रकार के सायुज्य का अर्थ यह है कि, इस सायुज्य में जीव भले ही भगवान में प्रवेश करता है परंतु वह भिन्नरूप से ही रहता है। जैसे घर में पूरा का पूरा प्रवेश कर लेने के पश्चात् भी व्यक्ति घर के भीतर रहता हुआ भी घर से भिन्न ही रहता है। वह स्वयं घररूप या घर नहीं बन जाता। ठीक इसी प्रकार इस वाले सायुज्य में जीव भगवान में प्रविष्ट होकर भी भगवद्रूप नहीं बन जाता अपितु भगवान से भिन्न ही रहता है, यह भाव है।

द्वितीयं तु 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यादिश्रुतिसिद्धम्। ब्रह्मभावोत्तरसामयिकाकस्मिकोत्तमतरकृपाजनितभक्तिलाभजन्यभगवत्प्रवेश-रूपसायुज्योत्तरं तत्सहभावविशिष्टसर्वकामभोगरूपम्। भोगोत्तरं स्वस्मिन्प्रवेशश्च मर्यादासंवलितत्वात्।

जहाँ तक दूसरे वाले सायुज्य की बात है तो, यह सायुज्य का प्रकार "ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है(तैति० २-१-१)" इस श्रुति द्वारा प्रमाणित है। इस वाले सायुज्य का अर्थ यह है कि ब्रह्मभाव प्राप्त होने के समय भगवान की अचानक हुई उत्तमतर कृपा से परमभक्ति का लाभ होने के पश्चात् भगवान में प्रवेश कर जाने वाला सायुज्य मिलता है, जिसके द्वारा जीव भगवान के संग रह कर समस्त कार्यों का भोग करता है एवं भोग करने के पश्चात् फिर वापस भगवान में प्रवेश भी करता है क्योंकि यह सायुज्य मर्यादामिश्रित है।

तृतीयं तु 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्येन 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्येन चात्युत्तमतमकृपया ब्रह्मभावज्ञानवैराग्यादिनिरपेक्षप्रेमासक्तिव्यसनरूपकेवलभावजनितभगवत्सहभावविशिष्टसार्वकालिकसर्वकामभोगरूपं च। तत्र गीतोक्तप्रवेशरूपसायुज्ये पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रमेव फलम् , विशेषकृपाऽभावात्।

तीसरा प्रकार "गोपियाँ, गाएँ , व्रज के पशुपक्षी इत्यादि सभी नादान थे परंतु केवल भाव के द्वारा इन्होंने भगवत्प्राप्ति कर ली(भा ११-१२-८)" एवं "जो मेरे चिंतन में रहता है एवं मेरी भक्ति करता है, उसे ज्ञान एवं वैराग्य की आवश्यकता नहीं रहती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति से ही हो जाता है(भा० ११-२०-३१)" इस वाक्यानुसार जब भगवान जीव पर अत्युत्तमतमकृपा करते हैं, तब वह ब्रह्मभाव-ज्ञान-वैराग्य इत्यादि की अपेक्षा न रखते हुए प्रेम-आसक्ति-व्यसनरूप भाव के कारण भगवान के संग रहता है और सदा-सर्वदा समस्त कामभोग करता है। ऊपर कहे गीता के "ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा" वाले वाक्यानुसार जो भगवान में प्रवेश होने वाला सायुज्य है, उसमें तो केवल पुरुषोत्तम में प्रवेश ही फल है क्योंकि ऐसे जीव पर प्रभु ने कोई विशेष कृपा तो की नहीं होती है जिससे कि वह भगवान के संग रमण कर सके।

न चाक्षरज्ञानमार्गसायुज्यात् को विशेष इति वाच्यम्। अक्षरज्ञानमार्गेत्वभेदेन गणितानन्दाक्षरसायुज्यम्। पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे तु भेदेनागणितानन्दपुरुषोत्तमसायुज्यम् , भेदेनानुभूयमानमिति विशेषस्य जागरूकत्वात्। अत एवाचार्याश्चतुर्थस्कन्धनिबन्धे 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात्तत' इत्युक्तवन्तः। किञ्चाक्षरस्य धर्मरूपत्वाद्धर्मसायुज्यम्। पुरुषोत्तमस्य तु धर्मित्वादेतत्सायुज्यस्य धर्मिसायुज्यरूपत्वाच्चास्याधिक्यस्यैव विशेषरूपत्वाच्च। ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगरूपसायुज्ये तु मर्यादारूपब्रह्मभावोत्तरं सर्वकामभोगस्य मर्यादापुष्टिरूपत्वात् प्रमाणानुरोधिपुरुषोत्तमेन सहोत्सर्गतो मर्यादापुष्टिरूपमहिषीसजातीयसर्वकामभोग एव। न तु शुद्धपुष्टिमार्गीयो व्रजभक्तसजातीयसर्वकामभोगः।

अब आप यह शंका न करें कि अक्षरज्ञानमार्ग में कहे सायुज्य की तुलना में इस सायुज्य की कौन सी विशेषता सिद्ध हुई ? नहीं, यह शंका उचित नहीं क्योंकि अक्षरज्ञानमार्ग में कहे सायुज्य में तो जीव एवं भगवान का आपस में भेद ही नहीं रहता अर्थात् वे दोनों तो एकाकार हो जाते हैं एवं यह सायुज्य भी गणितानन्द-अक्षरब्रह्म में होता है। पुरुषोत्तमज्ञानमार्ग में सायुज्य होने पर तो जीव एवं भगवान में भेद(अर्थात् जीव भगवान से भिन्न रहता हुआ भगवान के संग समस्त कामोपभोग करता है) रहता है और अगणितानन्द-पुरुषोत्तम से सायुज्य होता है ; और भगवत्सुख का आनंद भगवान से एकाकार होकर तो लिया नहीं जा सकता अतः यहाँ जीव एवं परमात्मा दोनों अलग-अलग रहते हुए जीव भगवत्सुख का अनुभव करता है यह विशेषता है। इसी कारण आचार्यचरणों ने चतुर्थस्कंध निबंध में लिखा - "सायुज्य में रस की अधिकता है क्योंकि इसमें जीव ब्रह्म में एकाकार न होकर भेद रखते हुए समस्त इंद्रियों से भगवत्सुख भोगता है(भा०प्र० ४-१५५)"। और यह भी है कि, अक्षरब्रह्म धर्मरूप है अतः अक्षरब्रह्म से होनेवाला सायुज्य धर्म में होने वाला सायुज्य कहलायेगा एवं पुरुषोत्तम तो धर्मिस्वरूप हैं अतः पुरुषोत्तम में होने वाला सायुज्य धर्मिसायुज्य कहलायेगा और धर्मसायुज्य की तुलना में धर्मिसायुज्य की अधिक विशेषता तो है ही। ***** **ब्रह्मभाव प्राप्त होने का अर्थ है- जीव का ब्रह्मस्वरूप हो जाना या ब्रह्म के समान आनंदमय हो जाना** ***** । अब दूसरा वाला सायुज्य ब्रह्मभाव प्राप्त होने के पश्चात् समस्त कामभोग करने वाला सायुज्य है, उसमें पहले तो जीव को मर्यादा में कहा ब्रह्मभाव प्राप्त होता है एवं तत्पश्चात् भगवान के संग समस्त कामभोग प्राप्त होता है, जो मर्यादापुष्टिरूप है। किंतु प्रमाण से नहीं अपितु प्रमेय से प्राप्त होने वाले पुरुषोत्तम के संग मर्यादापुष्टिरूप कामभोग ही होगा, जो कि द्वारका की रानियों को मिला। यह कामभोग वह नहीं है जो शुद्धपुष्टिमार्गीय व्रजभक्तों को मिला।

न च 'ब्रह्मविदाप्नोती'त्यत्र ब्रह्मभावोत्तरं सर्वकामभोग एव श्रूयते, न तु परमभक्तिलाभ इति ब्रह्मभावोत्तरसामयिकभक्तिलाभोत्तरं सर्वकामभोगः कथं भवतोच्यत इति वाच्यम्। 'सह ब्रह्मणे'त्यत्राप्रधानतृतीयानिर्देशात्। तत्राप्रधानत्वं तु 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे'त्यादिप्रमाणैर्भक्तविषय एव भगवतो, नान्यविषय इति मध्ये परमभक्तिर्भवतीति तथोक्तत्वात्।

आप यहाँ यह शंका मत करिये कि "ब्रह्मविदाप्नोति(तैति० २-१-१)" इस श्रुति में ब्रह्मभाव प्राप्त होने के पश्चात् जीव को सर्वकामभोग मिलना ही बताया गया है, यह नहीं बताया गया कि उसे परमभक्ति भी प्राप्त होती है, फिर भी मैं परमभक्ति प्राप्त होने की बात कैसे कर रहा हूँ ? आपकी यह शंका उचित नहीं क्योंकि इस श्रुति में "ब्रह्म के संग जीव भोग करता है" इस वाक्य में प्रधानता या मुख्यता जीव की है, ब्रह्म की नहीं क्योंकि इस श्रुति में जीव की विशिष्टता बताते हुए यह कहा गया है कि - जीव ब्रह्म के संग भोग करता है। और तो और, जीव एवं भगवान में प्रधानता जीव की होती है भगवान की नहीं एवं भगवान जीव के आगे विवश हो जाते हैं। इसी श्रुति के आगे "सह ब्रह्मणा" पद आया है, जिसमें ब्रह्म शब्द में तृतीयाविभक्ति लगी हुई है ; और "सह" शब्द के संग लगी हुई तृतीयाविभक्ति अप्रधान अर्थ में होती है अतः इस श्रुति में ब्रह्म या भगवान को अप्रधान एवं जीव को प्रधान बताया

गया है। भक्ति का प्रश्न आते ही भगवान अप्रधान एवं जीव प्रधान हो जाता है। यह बात तो स्वयं भागवत में भगवान के "मैं भक्त के पराधीन हूँ, स्वतंत्र नहीं हूँ(९-४-६३)" इत्यादि वाक्यों द्वारा यह प्रमाणित होता है, कि भक्त के विषय में ही भगवान अप्रधान रहते हैं अन्यथा तो सर्वत्र भगवान की ही प्रधानता होती है। अतः भक्त की बात आते ही भगवान की प्रधानता कम हो जाती है और भक्त की बढ़ जाती है। अन्य सभी जगह तो भगवान की प्रधानता है परंतु भक्त के आगे नहीं इसीलिये मैं कह रहा हूँ कि ब्रह्मभाव प्राप्त होन (अर्थात् जीव का ब्रह्मस्वरूप हो जाना, आनंदमय हो जाना) एवं ब्रह्म के संग समस्त कामभोग करने के बीच में ही जीव को परमभक्ति प्राप्त होती है। इसी भक्ति के कारण ही तो सायुज्य पाने वाला भक्त भगवान के संग भोग करता है और यों भगवान की प्रधानता कम हुई एवं भक्त की प्रधानता बढ़ गयी।

ननु श्रुतिबलेन ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगेपि विनैव भक्तिं परब्रह्मणोप्रधानत्वमंगीक्रियतामिति चेत् ? न। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये'दिति वाक्यादितिहासपुराणादिषु कुत्रापि भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे ब्रह्मणोप्रधानत्वस्याश्रूयमाणत्वात्।

अब शंका यह होती है कि ऊपर कहे गये ब्रह्मभाव प्राप्त होने एवं जीव का ब्रह्म के संग समस्त कामभोग करने वाली बात में तो वैसे ही परब्रह्म की अप्रधानता सिद्ध हो रही है, फिर यह मानना क्यों आवश्यक है कि परमभक्ति प्राप्त होने के कारण ही जीव की प्रधानता बड़ी है एवं ब्रह्म की प्रधानता घटी है ? नहीं , ये शंका उचित नहीं है क्योंकि " इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् " इस वाक्यानुसार इतिहास-पुराण इत्यादि में कहीं भी भक्तिमार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं भी ये सुना नहीं गया है कि ब्रह्म अप्रधान हो गया हो या जीव के आगे स्वयं भगवान भी विवश हो गये हों।

अपरञ्च, यदि ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगो विनैव भक्तिं स्यात्तदा त्वदुक्तं घटेतापि, न तु तथा। यतस्तादृशसर्वकामभोगस्य पुरुषोत्तमज्ञानजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्यसाध्यत्वात्। तत्र पुरुषोत्तमज्ञानं च भक्तिसाध्यम्। `ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे`त्यारभ्य `विशते तदनन्तर`मित्यन्तेन प्रघट्टकेन भगवता पुष्टिमर्यादामार्गे एवमेव सिद्धान्तितत्वात्। अन्यथा सर्वेषामेव ब्रह्मभावापन्नानां सर्वकामभोगः प्रसज्जेत, नियामकाभावात्। अतो ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगस्य भक्तिं विना जायमानत्वाभावादप्रधानत्वं परब्रह्मणो भक्तिकृतमेव, न तु भक्तिं विना कुत्रापीति मदुक्तमेव साधीय इति दिक्। अत एवास्वातन्त्र्यभिया `मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग`मिति भगवतो भक्तियोगदानाभावः श्रूयते यस्य कस्यचिदिति दिक्।

और, यदि बिना भक्ति के ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाता एवं ब्रह्म के संग समस्त भोग किये जा सकते, तब तो आपकी शंका करनी उचित भी थी परंतु भक्ति के बिना यह सभी कुछ संभव ही नहीं है। क्योंकि ब्रह्म के संग समस्त भोग करना पुरुषोत्तम के सायुज्य बिना नहीं हो सकता ; पुरुषोत्तम का सायुज्य पुरुषोत्तम का ज्ञान हुए बिना नहीं मिल सकता एवं पुरुषोत्तम का ज्ञान हो जाना भक्ति के बिना संभव नहीं है अतः परमभक्ति के बिना न ब्रह्मभाव प्राप्त होता है और न ब्रह्म के संग भोग। "ब्रह्मभूत(भ०गी० १८-५४)" इस श्रुति से आरंभ करके "विशते(भ०गी० १८-५५)" इस वाक्य तक भगवान ने पुष्टिमर्यादामार्ग में यही सिद्धांत निर्धारित किया है। यदि ऐसा न हो, तो ब्रह्मभाव प्राप्त करने वाले सभी को ही ब्रह्म के संग भोग करना मिल जाय क्योंकि तब कोई रोक-टोक तो रहेगी नहीं। इसलिये ब्रह्मभाव प्राप्त करने के पश्चात् जीव का ब्रह्म के संग समस्त कामभोग करना भक्ति बिना संभव नहीं है और भोग के समय जीव की तुलना में भगवान की अप्रधानता भक्ति के कारण ही है , भक्ति बिना नहीं अतः मैंने जो अर्थ किया है वह ठीक ही है। खुद भगवान को भक्त के आगे विवश हो जाने का भय है इसी कारण वे "भगवान मुक्ति तो दे सकते हैं परंतु भक्ति सरलता से नहीं देते(भ०गी ५-६-१८)" इस वाक्यानुसार हर किसी को भक्तियोग सहज में नहीं देते, यह समझ लें।

तृतीये सायुज्ये तु वेदमर्यादासंवलनाभावात् प्रमाणातीतस्वरूपेण प्रमाणातीतभक्तानां प्रमाणातीतसर्वकामभोगः। एवञ्च चतुर्विधसायुज्यस्यापि प्रमाणसिद्धत्वेन प्रकृते सायुज्यपदेन भेदघटितसायुज्येषु तृतीयमेव सायुज्यं विवक्षितम्। इदमेव च शुद्धपुष्टिमार्गीयं सायुज्यमिति। अत्र 'प्राणेन सायुज्यं सलोकतामाप्नोती'त्यादिश्रुतिप्रयोगाद्युजिर् योग इति धातो'र्बहुलं छन्दसी'ति बाहुलकाद्भावे क्विपा युक् शब्दसिद्धिः, ततः सहशब्देन समासः, ततो वोपसर्जनस्येति सहशब्दस्य सादेशः, ततो भावे ष्यञ्प्रत्ययश्च। यद्वा। सह युनक्तीति सयुक् क्विप् चेतिसूत्रेण कर्तरि क्विप् , सयुजो भावः सायुज्यं सहभाव इति ज्ञेयम्।

अब तीसरे प्रकार के सायुज्य (उत्तमतमकृपा वाले) में वेदमर्यादा का कोई बंधन नहीं है अतः प्रमाणातीतस्वरूप द्वारा प्रमाणातीत भक्त समस्त कामभोग करते हैं। इस प्रकार ऊपर कहे चार प्रकार के सायुज्य (अभेद सायुज्य+भेद सायुज्यके तीन प्रकार) भी प्रमाणसिद्ध हैं अतः भेदघटित सायुज्य के प्रकारों में से आचार्यचरण इस ग्रंथ में तीसरा प्रकार ही कह रहे हैं, यह समझना चाहिए।

यही शुद्धपुष्टिमार्गीय सायुज्य है। "प्राण के द्वारा सायुज्य अर्थात् भगवान के समान लोक प्राप्त करता है" इस श्रुति में आये प्रयोग के अनुसार "युजिर योगे" धातु से "बहुलं छन्दसि(सि०कौ०)" इस सूत्र द्वारा बहुलता के भाव में "क्विप्" प्रत्यय होकर "युक्" शब्द की सिद्धि होती है। "युक्" शब्द का "सह" शब्द के संग समास करते हैं तो "वोपसर्जनस्य" सूत्र के द्वारा "सह" शब्द को "स" आदेश हो जाता है। इसके पश्चात् भाव में "ष्यञ्" प्रत्यय करके सायुज्य शब्द बनता हि। अथवा 'संग में जुड़ने को सयुक् कहते हैं ; सयुक् शब्द में "क्विप् च" सूत्र द्वारा कर्ता में "क्विप्" प्रत्यय कर देने से (सयुजो भावः सायुज्यं) सायुज्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ है – संग में रहना।

अत्रेदं तत्त्वम्। कदाचिदतिकृपायां पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रलक्षणसायुज्यवतो ब्रह्मभावजनितप्रवेशोत्तरं सर्वकामभोगरूपसायुज्ययोग्यतावतश्चापि शुद्धपुष्टिफलप्राप्तिः केषाञ्चिद्भवति, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिति न्यायात् , न तु सर्वेषाम्। अन्यथा मार्गभेदकरणवैयर्थ्यापात इत्यवधातव्यम्। नन्वेतादृशशुद्धपुष्टिफलप्राप्तिश्चेत्केषाञ्चिद्भवति तर्हि तत्सायुज्यं किमर्थं दत्तमिति चेत ? स्वस्य स्वतन्त्रेच्छत्वादि ज्ञापयितुमिति गृहाणेति सर्वं चतुरस्रम्।

इसमें तत्व की बात यह है कि, कभी किसी पर अति कृपा हो जाय तो पुरुषोत्तम में केवल प्रवेश होने वाला सायुज्य एवं प्रवेश के पश्चात् ब्रह्मभाव एवं कामभोग भी करनेवाला सायुज्य इन दोनों प्रकारों के सायुज्य प्राप्त करने वालों में से किसी-किसी को ही शुद्धपुष्टिमार्गीयफल की प्राप्ति होती है। क्योंकि ब्रह्मसूत्र में कहे "मुक्त जीव को ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है ,जीवात्मा को नहीं (ब्र०सू० १-३-२)" इस सूत्र के अनुसार सभी को शुद्धपुष्टिमार्गीयफल की प्राप्ति नहीं होती। यदि सभी को ही शुद्धपुष्टिमार्गीयफल प्राप्त होने लग जाय तो फिर पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा यों मार्गों के अलग-अलग भेद करने ही व्यर्थ हो जायेंगे, यह ध्यान रखिए। किंतु एक शंका यह होती है कि, शुद्धपुष्टिफल की प्राप्ति यदि किसी विरले को ही होती है, तो फिर भगवान उसे अपना सायुज्य भी क्यों देते हैं ? तो इसके प्रत्युत्तर में यह समझिए कि यह सभी कुछ भगवान की स्वतंत्र इच्छा पर ही निर्भर करता है अतः मैंने जो कहा वह सभी कुछ नियमित है।

अथ यस्मिन् जीवे यादृशी कृपा तस्मिन्तादृशफलदानौपयिकभावप्राकट्यपूर्वकसेवया तादृग्भगवद्रूपं फलमिति सिद्धान्तः, तथा च यस्मिन् ब्रजभक्तरलेंगितविशिष्टा भगवत्कृपा देहपातोत्तरक्षण एव साक्षादंगसंगविषयिणी तस्य तु पूर्वोक्तप्रणाल्यैतद्देहे तत्क्षण एव मनसि स्वप्नादौ वैतद्देहपातोत्तरं तु वृन्दावनादौ चाविलम्बेन साक्षादंगसंग एव भवति। यस्मिंस्तु देहपातोत्तरक्षण एव न साक्षादंगसंगविषयिणी कृपा, किन्तु विलम्बेन, तस्यापि प्रेमोत्पत्यभाव एव वा प्रेमासक्त्यनन्तरमेव भगवदिच्छया वा देहपाते प्राप्तालौकिकदेहे प्रेमाद्यवस्थाविर्भावेन व्यसनाद्यवस्थाविर्भावेन वा विलम्बेन च साक्षादंगसंग एव भवति। यस्मिंस्तु दास्यसखित्वाद्यधिकारविषयिणी कृपा तस्य तु तादृग्भावपूर्वकसेवया पूर्वोक्तप्रणाल्यैतद्देहपातोत्तरं वृन्दावनादौ दास्यसखित्वाद्यधिकारविशिष्टालौकिकदेहप्राप्तिरूपं तृतीयं फलं भवतीत्याहुः अधिकारो वेति। सायुज्यरूपफलदानेना-धिकारविशिष्टदेहप्राप्तिर्वा भवतीत्यर्थः।

जिस जीव पर जैसी कृपा होती है, उसे भगवान वैसे ही फलदान में उपयोगी भाव को प्रकट करके सेवा द्वारा वैसा भगवद्-रूप फल देते हैं, यह सिद्धांत है। और, जिस पर व्रजभक्त गोपिकाओं की कृपा के कारण भगवान की कृपा हुई है, उसे तो देहपात होने के तुरंत बाद साक्षात् भगवान का अंगसंग प्राप्त होता है। उसे तो जैसे मैंने पहले कहा, उस प्रकार इस देह में तत्क्षण ही अथवा तो मन में अथवा तो स्वप्न में अथवा तो इस देह का पात होने के पश्चात् वृंदावन इत्यादि स्थलों पर शीघ्र ही भगवान का अंगसंग प्राप्त होता है। और जिस पर देहपात होने के तुरंत बाद भगवान का अंगसंग प्राप्त होने वाली कृपा नहीं होती है किंतु विलंब से होती है, उसके लिये ये समझिए कि उसमें भगवान के प्रति प्रेम उदय न होने के कारण विलंब हुआ है। अतः उसे प्रेम-आसक्ति के पश्चात् ही अथवा तो भगवद्-इच्छा से देहपात होने पर ही अलौकिकदेह प्राप्त होती है। अलौकिकदेह प्राप्त होने के पश्चात् प्रेम-आदि की अवस्थाएँ होने पर अथवा तो व्यसन आदि अवस्थाएँ होने के पश्चात् ही विलंब से साक्षात् भगवान का अंगसंग प्राप्त होता है। जिस जीव पर भगवान ने अपना दास या सखा समझकर कृपा की है, उसे तो दासधर्मपूर्वक भगवत्सेवा के द्वारा जैसी प्रणाली मैंने बतायी, वैसी प्रणाली द्वारा देहपात के पश्चात् वृंदावन आदि स्थलों पर दास्य या सख्य के विशिष्ट अधिकार वाली अलौकिकदेह की प्राप्ति होने वाला तीसरा फल मिलेगा, जिसके लिये आचार्यचरण इस ग्रंथ में **अधिकारो वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अथवा तो ये समझें कि, उसे सायुज्यरूपी फलदान द्वारा एक विशिष्ट अधिकार वाली देह की प्राप्ति होती है- यह अर्थ है।

सेवाफलम्।

अत्र **सेवौपयिकदेहो** वा वैकुण्ठादिष्विति विवरणोक्तवैकुण्ठपदेन 'गोकुलं वनवैकुण्ठ'मिति कृष्णोपनिषदुक्तेः प्रपञ्चातीतभगवन्निवासस्थानं व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं बृहद्वनं नन्दीश्वरं चोच्यते। आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्गोवर्धनादि च। तत्र सायुज्यरूपफलादानेऽधिकारः **सेवौपयिकदेहरूपो वाथवा भवतीत्यर्थः**। वैकुण्ठान्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवल्लोकत्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवल्लोकत्वाद्वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम् , आदिपदेन वृन्दावनादिकं चाभिप्रेतमिति बोध्यम्। अत्रालौकिकसामर्थ्यं यथावान्तरफलरूपम् , मुख्यफलं तु मुख्यसायुज्यमेव, एवमेवाधिकारिदेहप्राप्तिरूपं तृतीयं फलमप्यवान्तरफलरूपमेव, मुख्यं फलं त्वधिकारिदेहद्वारैवात्रापि मुख्यसायुज्यमेव। स्वदत्ततादृगधिकारिदेहकृत 'त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनं च ब्रह्मयज्ञोस्त्विव'त्यादिरूप-प्रियतमसेवासन्तुष्टश्रीमद्व्रजभक्तरत्नानुग्रहेणैवेति बुध्यस्व। अत **एवालौकिकस्य दाने हीत्यत्राधिकारो** वेत्यत्र च फलपदाप्रयोगः **सायुज्य** एव च फलपदप्रयोगश्च। अत्रातिरहस्यत्वाच्छ्रीमदाचार्यरत्नैरलौकिकसामर्थ्यसायुज्यवैकुण्ठादिपदानि परोक्षवादत्वेनैव प्रयुक्तानीति ज्ञेयम्।

यहाँ **सेवौपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिषु** इत्यादि शब्दों का विवरण करने में आचार्यचरणों का **वैकुण्ठ** पद से तात्पर्य प्रपंच से परे, भगवान के निवासस्थान व्यापिवैकुण्ठ के अंतर्गत आया बृहद्वन एवं नंदगाम है क्योंकि कृष्णोपनिषत् में वैकुण्ठ के लिये "गोकुल वनरूपी वैकुण्ठ है" यह वाक्य कहा गया है। **आदि** पद से आपश्री का तात्पर्य श्रीवृंदावन, श्रीगोवर्धन आदि स्थल हैं। भगवान यदि सायुज्यफल का दान नहीं करते तो ऐसी परिस्थिति में जीव को इन स्थलों पर भगवत्सेवा में उपयोगी देह प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता है। किंतु अन्य दूसरे वैकुण्ठ शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूप भगवल्लोक नहीं हैं एवं गोकुल ही शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूप भगवल्लोक है अतः **वैकुण्ठ** पद का अर्थ श्रीगोकुल है एवं **आदि** पद का तात्पर्य वृंदावन आदि समझना चाहिए। यहाँ अलौकिकसामर्थ्य जैसे अवान्तरफल है और मुख्यफल तो सायुज्य ही है, ठीक इसी प्रकार तीसरा फल अधिकारिदेह की प्राप्ति होनी भी अवान्तरफल ही है। मुख्यफल तो अधिकारिदेह की प्राप्ति द्वारा मुख्यफल-सायुज्य मिलना ही है। और मुख्यसायुज्यफल की प्राप्ति तो "त्वत्पृष्टप्रिय" इस कथनानुसार भगवान द्वारा दी गयी अधिकारिदेह द्वारा की गयी सेवा से जब प्रियतम भगवान प्रसन्न होते हैं एवं भगवान की प्रसन्नता देखकर व्रजभक्त प्रसन्न होते हैं, तब व्रजभक्तों की कृपा से प्राप्त होने वाले फल को सायुज्य कहते हैं। इसी कारण **अलौकिकस्य हि दाने हि** से लेकर **अधिकारो वा** तक के शब्दों में आचार्यचरणों ने न अलौकिकदान को फल कहा न अधिकार को; अपितु सायुज्य के लिये ही फल पद का प्रयोग किया है। उपर्युक्त सभी बातें अति रहस्यमयी होने के कारण आपश्री ने अलौकिकसामर्थ्य-सायुज्य-वैकुण्ठ आदि पद अपने विवरण में परोक्षरीति से सांकेतिक शब्दों द्वारा गुप्तरूप से कहे हैं क्योंकि ऊपर कहे विश्लेषणों के अनुसार इन शब्दों से कही जाने वाली वस्तु अति रहस्यमयी है।

ननु यत्र परशुरामशचीपतिविरिञ्चिवदलौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारा दृष्टास्तत्र न सर्वदा दृष्टा इति सामर्थ्यभोगत्वाधिकारत्वसामान्यादेतेषामपि नाशः स्यादिति न परमफलत्वमेतेषामित्याशंक्याहुः **न कालोत्र नियामक** इति। अत्रालौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारेषु सर्वोत्तमप्रभुप्रीत्याधायकत्वात् काल आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविको वा **नियामको न** भवती, भगवन्नियम्यत्वादित्यर्थः। दृश्यते लोकेपि प्रभुदत्तसामर्थ्ये भोगेधिकारे वाधिकारिणो नियामकत्वाभावः। अत एवोक्तं सगुणस्यैव कालाधीनत्वम् , न गुणातीतस्येति 'मन्निष्टं निर्गुणं स्मृत'मित्यादिना प्रभुणैकादशे। तस्मान्नैषां कालाधीनत्वमिति त्रयाणां फलत्वं निःप्रत्यूहमित्यास्तां तावत्।

किंतु मन में एक प्रश्न यह होता है कि जैसे परशुराम, इंद्र, ब्रह्मा इत्यादि में अलौकिकसामर्थ्य, सुख का भोग करना इत्यादि बातें देखी तो गयी हैं परंतु ये सभी सुख उन्हें सर्वदा मिलते रहे हों ऐसा नहीं हुआ किंतु कालांतर में सामर्थ्यभोग नष्ट भी हो गये। अतः वही सामर्थ्य वही भोग की बात यदि यहाँ भी हो रही है, तो क्या इनका भी कालांतर में नाश हो जायेगा ? इस शंका का समाधान करते हुए आपश्री **न कालोत्र नियामकः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, यहाँ कही जाने वाली अलौकिकसामर्थ एवं भोग इत्यादि सर्वोत्तमप्रभु में प्रीति कराने वाले पदार्थ हैं अतः काल चाहे आधिदैविक हो, आध्यात्मिक या आधिदैविक ; इन फलों पर नियंत्रण नहीं कर सकता क्योंकि स्वयं काल भी भगवान के नियंत्रण में ही रहता है। यह बात तो लोक में भी देखी जा सकती है कि जिसको प्रभु ने अलौकिकसामर्थ्य, भोग या अधिकार दिये हों, उस पर कोई भी शासन नहीं कर सकता फिर परलोक में काल आदि क्या बिगाड़ कर सकते हैं ? सगुणवस्तु ही काल के अधीन होती है, गुणातीत नहीं अतः स्वयं भगवान ने एकादशस्कंध "मेरे स्वरूप का वास्तविक ज्ञान निर्गुणज्ञान है(भा० ११-२५-२४)" यह कहा है। अतः ये सभी काल के अधीन नही

हैं और अलौकिकसामर्थ्य, सायुज्य, अधिकार इन तीनों को फल कहने में कोई भी संदेह नहीं है, सो आपने पर्याप्त तर्क-कुतर्क कर लिये हैं अतः अब बस कीजिये।

यद्वा, **अलौकिकस्या**लौकिकविषयसामर्थ्यस्य **दाने हि** निश्चयेन जातो य **आद्यः** शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयात्पूर्वमेवैतन्मार्गीय-सत्संगादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नो **मनोरथः सिध्येत्** सिद्धो भवेदित्यर्थ। स आद्यो मनोरथः क इत्याकांक्षायामाहुः **फलं वा ह्यधिकारो वेति**। फलरूपो वाधिकाररूपो वा। नात्र सन्देह इति भावः। अत्र फलविषयकोधिकारविषयको मनोरथोपि फलवदधिकारवदेव सुखजनक इति ज्ञापयितुं रूपकेण निरूपणमिति दिक्।

अथवा, **अलौकिकस्य दाने हि** इत्यादि पंक्ति का अर्थ यों करें - जब भगवान अलौकिक अर्थात् अलौकिकसंबंधी सामर्थ्य का दान करते हैं, तब **आद्यः** अर्थात् शुद्धपुष्टिमार्गीय आचार्य का आश्रय लेने से पहले ही पुष्टिमार्गीय सत्संग इत्यादि के द्वारा प्रथमतया उत्पन्न होने वाला मनोरथ सिद्ध होता है। वह मनोरथ कौन सा है, तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - "निःसंदेह वह मनोरथ या तो फलरूप है या अधिकाररूप"। इस अर्थ में कोई संदेह मत करिये, यह भाव है। फलविषयक मनोरथ करने एवं अधिकारविषयक मनोरथ करने में भी जीव को वही सुख मिलता है, जो फल एवं अधिकार प्राप्त होने पर मिलता है अतः उस मनोरथ को भी आपश्री ने फलरूप एवं अधिकाररूप से ही निरूपित किया है।

तथा च व्रजभक्तभावसजातीयभावैः शुद्धपुष्टिमार्गे भजनं कर्तव्यमिति सिद्धान्तः सम्पन्नः। तत्र व्रजभक्तेषु 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम' इति वाक्यादनन्यपूर्वाः कुमार्यो भगवति पतिभावयुक्ताः। अन्तर्गृहगतारूपा अन्यपूर्वास्तु 'जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम्। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्वामनपुराणादथ च 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगता, मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोबलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगाच्छतसहस्रश' इति दशमस्कन्धीयैकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्येभ्यो भगवत्युपाधिरूपजारभावयुक्ताः। अप्रतिबन्धेन प्रभुसमीपं गता अन्यपूर्वास्तु सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकनिरुपधिप्रियत्वभावयुक्ताश्च भगवति। तत्र परकीयायामेव रसस्य परमा काष्ठेति रसशास्त्रसिद्धान्तादनन्यपूर्वाणां नन्दाधीनानां भगवति पतिभावयुक्तानां कुमारीणामथ च निरुपधिप्रियत्वभावयुक्तानां नित्यसिद्धानां जारभावयुक्तानां च श्रुतिरूपाणां चान्यपूर्वाणां परकीयात्वात् परकीयात्वधर्मविशिष्टत्वेनैव परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः।

अतः सिद्धांत यह स्थापित हुआ कि शुद्धपुष्टिमार्ग में व्रजभक्तों जैसे भावों द्वारा भगवान का भजन करना चाहिए। इन व्रजभक्तों में "कुमारिकाओं ने एक महीने तक पूजा की कि नन्दसुत श्यामसुंदर ही मेरे पति हों(भा० १०-२२-४)" इस वाक्यानुसार कुमारिकाओं का भगवान में पतिभाव है। और अन्तर्गृहगता अन्यपूर्वा गोपिकाओं को "हे परीक्षित्! इन गोपिकाओं को श्रीकृष्ण के प्रति जारभाव भी था(भा० १०-२९-११)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवान में स्वार्थवश एक प्रेमी का भाव था। ऐसी अन्यपूर्वा गोपिकाओं के जब समस्त प्रतिबन्ध दूर हुए एवं वे प्रभु के समीप पहुँचीं, तब उनके मन में भगवान के प्रति सर्वभाव से शरणागति करके भगवान में बिना किसी स्वार्थ के अपने प्रिय का भाव हुआ। अब रसशास्त्र का सिद्धांत तो "रस तो परकीया में ही होता है" यह है अतः इस सिद्धांतानुसार *******(वैसे तो सामान्यरूप से लोकप्रचलित बात यही है कि अनन्यपूर्वा गोपिकाएँ परकीया नहीं हैं परंतु टीकाकार आगे भी इन्हें अपनी दृष्टि से परकीया सिद्ध कर रहे हैं)****** अतः नन्दरायजी के अधीन रहती होने के कारण अनन्यपूर्वा गोपिकाएँ जिन्हें भगवान में पतिभाव था, वे परकीया हैं ; साथ ही साथ भगवान में निस्वार्थरूप से प्रियतम का भाव रखने वाली नित्यसिद्धा गोपिकाएँ भी परकीया हैं ; साथ ही साथ भगवान में जारभाव रखने वाली एवं श्रुतिरूपा अन्यपूर्वा गोपिकाएँ भी परकीया हैं। इनके परकीया होने के कारण ही ऊपर कहे रसशास्त्र के सिद्धांतानुसार इन्हें भगवत्प्राप्ति हुई। अतः परकीया होने के करण ही इन्हें परमकाष्ठापन्नरसरूप भगवत्प्राप्ति हुई।

न तु कुमारीणां स्वीयात्वेनान्यपूर्वाणां तु परकीयात्वेनेति भेदः। तथा सति विवाहितानामेव स्वीयात्वात् श्रीभागवते कुमारिभिर्भगवतो विवाह उक्तो भवेत्। अन्यपुराणादिषु मूलमाधवमाहात्म्ये रुक्मणीविवाहात्पूर्वं कुमारीणां भगवता समं विवाहः श्रुतो यद्यपि, तथापि स कल्पान्तरीयांशावताररूपश्रीकृष्णविषयकः। तत्कल्पीयश्रीकृष्णस्वरूपस्यांशत्वात् तस्यापि स्वरूपस्य पूर्णत्वेनैव व्यासचित्तप्रसादो जातः स्यात्। तस्मात्सारस्वतादिकल्पान्यकल्पीयावतारा अंशावतारा एवेति जानीहि। निरूपितं चैतत्सविस्तरं मत्कृतबहिर्मुखमुखमर्दनाख्ये ग्रन्थ इति तत्रैवावलोकनीयम्।

आप कुमारिकाओं को(अनन्यपूर्वाओं को) स्वकीया एवं अन्यपूर्वाओं को परकीया न समझें क्योंकि वास्तविकता यह है कि ये दोनों ही परकीया हैं। क्योंकि जिससे विवाह होता है वही स्वीया होती है अतः यदि कुमारिकाओं को स्वीया मान लेंगे तो यह कहना पड़ेगा कि इन कुमारिकाओं का भगवान से विवाह हुआ था परंतु भागवत में इन कुमारिकाओं का भगवान से विवाह होना कहीं नहीं कहा गया है। वैसे मूलमाधव इत्यादि अन्य पुराणों में रुक्मणिविवाह से पहले भगवान से कुमारिकाओं का विवाह होना बताया गया है परंतु वह अन्य कल्प के अंशावतार-श्रीकृष्ण की कथा है, सारस्वतकल्प के शुद्धपुष्टिपुरुषोत्तम पूर्णश्रीकृष्ण की नहीं। और हमारे पुष्टिमार्ग में तो सारस्वतकल्प के पूर्णश्रीकृष्ण ही मान्य हैं, अन्य कल्प के अंशावतार नहीं। यदि अन्य कल्प के अंशावतार श्रीकृष्ण को ही सारस्वतकल्प के श्रीकृष्ण मान लिया जाय, तो व्यासजी को भी अंशावतार श्रीकृष्ण की ही कथा से मन में प्रसन्नता हो गयी होती, परंतु नहीं हुई। इसलिये जान लीजिए कि सारस्वतकल्प के अतिरिक्त अन्य कल्पों के अवतार श्रीकृष्ण के अंशावतार ही हैं। यह सभी कुछ मैंने "बहिर्मुखमुखमर्दन" नामक ग्रंथ में विस्तार से बताया है अतः वहीं देख लें।

ननु यदि भगवति पतिभाव एव कुमारीणां तदा महिषीप्राप्यप्रमाणानुरोधिभगवत्स्वरूपप्राप्तिः स्यान्न तु लोकवेदातीतप्रमाणाननुरोधिस्वरूपप्राप्तिः स्यादथ च तदनुरोधेनाश्रितोपि विवाहः कल्पनीयः स्यादिति चेत्। अत्र ब्रूमः। 'कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।' 'भूयान्नन्दसुतः पति'रितिमन्त्रयोर्नन्दसुत एव पतित्वप्रार्थना भावना च। स श्रीमान्नन्दसुतस्तु व्रजे 'एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सबलोवस'दिति तृतीयस्कन्धीयश्रीमदुद्धववाक्यादेकादशवर्षपर्यन्तमेव स्थितः। तदुत्तरं तु मथुरायामेव गतः।

यह ध्यान से समझ लीजिए कि कुमारिकाओं ने श्रीकृष्ण का भजन यदि पतिभाव से किया था, तो यह लोक में प्रसिद्ध लौकिक पतिपत्नी वाला भाव नहीं था अपितु पति का एक अर्थ रक्षक भी होता है अतः उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने स्वामी, अपने रक्षक के रूप में मान कर उनका भजन किया था। यह तो सोचिये कि यदि कुमारिकाओं को भगवान में लौकिकपति का भाव होता तो उनको भी द्वारकालीला में कहीं रुक्मणि से विवाह करने वाले श्रीकृष्ण के स्वरूप की प्राप्ति हुई होती, लोकवेदातीत प्रमेयस्वरूपश्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं। यदि कुमारिकाओं को पतिरूपश्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई होती, तो भी एक घड़ी यह कल्पना की जा सकती थी, कि कुमारिकाओं का श्रीकृष्ण से विवाह हुआ था परंतु वास्तविकता यह है कि, आप जिस लौकिकपति का अर्थ समझ रहे हैं, उस लौकिकपति के रूप में कुमारिकाओं ने भगवान में पतिभाव नहीं रखा था। मेरी इस बात को सिद्ध करने के लिये मेरे पास प्रमाण भी हैं। श्रीमद्भागवत के "कुमारिकाओं ने कात्यायनी देवी की पूजा की कि नन्दसुत श्रीकृष्ण ही हमारे पति हों(भा० १०-२२-४,५)" इन श्लोकों में बताया गया है कि गोपिकाओं ने इन मंत्रों द्वारा भगवान से पतिभाव की प्रार्थना एवं भावना तो की है परंतु नन्दसुत भगवान तो "कंस के भय से वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण को नन्दबावा के पास व्रज में पहुँचा दिया था, जहाँ वे बलरामजी के साथ ग्यारह वर्ष तक छिप कर रहे(भा ३-२-२६)" इस उद्धववाक्यानुसार ग्यारह वर्ष तक ही व्रज में रहे हैं और ग्यारह वर्ष के पश्चात् सीधे मथुरा ही पधार गये।

यज्ञोपवीतं च वैश्यानां द्वादशे वर्षे, यज्ञोपवीतं विना च न विवाहः। स विवाहोपि तज्जातीयानामासुरपैशाचगान्धर्वभेदेन त्रिविधः। तत्रापि वैश्यस्यासुरो मुख्यः। तत्र द्रव्यादानादासुरः, छलेन कन्याहरणात्पैशाचः, गान्धर्वस्त्वन्योन्यानुरागेण 'त्वं मे भार्या त्वं मे पति'रितिसमयरूपः। एवं चात्र यज्ञोपवीतकालाभावेन प्रभोर्यज्ञोपवीताभावादेकादशवर्षाभ्यन्तर एव च कुमारीणां भगवत्सम्बन्धाच्च कोपि विवाहो नात्र वक्तुं शक्यः। तथा च विवाहजनितपतित्वाभावान्न महिषीप्राप्यस्वरूपप्राप्तिर्न वा विवाहकल्पनेति बुध्यस्व।

भगवान वैश्यकुल से हैं और वैश्यों का यज्ञोपवीत संस्कार तो बारह वर्ष में होता है और यज्ञोपवीत संस्कार के बिना विवाह हो नहीं सकता। वैश्यों में विवाह भी तीन प्रकार से होता है - आसुरविवाह, पैशाचविवाह, एवं गांधर्वविवाह। इन तीनों में भी वैश्यों में आसुरविवाह मुख्य गिना जाता है। जिस विवाह में धन का लेन-देन हो, वह आसुरविवाह होता है। छलपूर्वक कन्या का हरण करके विवाह कर लें, तो वह पैशाचिक विवाह है। एवं गांधर्वविवाह वह है जिसमें युवक-युवति प्रेमपूर्वक आपस में "तुम मेरी पत्नी और मैं तुम्हारा पति" इस प्रकार से कह कर आपस में विवाह कर लें। भगवान जब तक व्रज में विराजे हैं, तब तक तो उनका यज्ञोपवीत का समय भी नहीं हुआ था अतः उनका यज्ञोपवितसंस्कार भी नहीं हुआ और इसी समय कुमारिकाओं का भी भगवान के संग संबंध हुआ परंतु इस समय तक उनका भगवान के संग ऊपर कहे तीनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार का विवाह हुआ, यह

कहा नहीं जा सकता। अतः भगवान उनसे विवाह करके उन्हें उस ढंग से पतिरूप से प्राप्त न हुए, जिस ढंग से वे रुक्मणि आदि पटरानियों को प्राप्त हुए। और कुमारिकाओं का भगवान से विवाह होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाभंग इति वाच्यम्। भगवत्सकाशात् प्रमाणातीतफलप्राप्त्या तासां पतित्वप्रार्थनैव जाता, न तु विवाहजनितपतित्वप्रार्थनेत्युन्नयनात्। अन्यथा 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम' इत्यत्र विवाहोल्लेखोपि कृतः स्यात्। तस्मादन्याधीनतानिवारणार्थं निःशंकतया सर्वदा मिलनार्थं च 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जन'मित्युक्तलक्षणपतित्वमेव प्रार्थितं ताभिर्न तु विवाहजनितपतित्वमिति। अत एव प्रमाणातीतायां रासलीलायामेव तासामाकारणम्। यतश्च न विवाहितपतिभावना प्रभावत एव च न तासामन्यपूर्वाभिः सह लीलायामीर्ष्यादिकं जातम्। विवाहितपतित्वे सति त्वीर्ष्यादिकं कासाञ्चिदपि सर्वदावश्यमुद्भवेदेव, सत्यभामादिवत्।

आप ये प्रश्न भी नहीं उठा सकते कि, यदि कुमारिकाओं ने भगवान से पतिभाव की प्रार्थना की थी और भगवान उन्हें पतिरूप से प्राप्त न हुए तो स्वयं भगवान की गीता में कही "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, उसे मैं उसी भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" यह प्रतिज्ञा भंग हो गयी। आपकी यह शंका उचित नहीं है क्योंकि उन्होंने भगवान को अपना पति तो अवश्य बनाना चाहा था परंतु पति का एक अर्थ रक्षक या स्वामी भी होता है अतः उन्होंने भगवान को अपना रक्षक या स्वामी बनाने की प्रार्थना की थी। यदि ऐसा न होता तो "नन्दगोपसुतं(भा० १०-२२-४)" इस वाक्य के अंतर्गत उन कुमारिकाओं का भगवान के संग विवाह होने का उल्लेख भी आया होता परंतु नहीं आता। अतः ये समझ लें कि अपनी पराधीनता से छुटकारा पाने के लिये एवं भगवान से निर्बाधरूप से सदा मिलते रहने के लिये ही एवं "पति तो वही है जो खुद भी निडर हो एवं दूसरे भयभीतों की रक्षा कर सके(भा ५-१८-२०)" इस वाक्य में कहे गये भाव के अर्थ में ही उन्होंने भगवान से पतिभाव की प्रार्थना की थी, न कि विवाह वाले पति की। अतएव प्रमाणातीत रासलीला में प्रभु ने इन्हीं कुमारिकाओं को बुलाया। चूँकि इन कुमारिकाओं को भागवान के प्रति विवाहितपति की भावना नहीं थी, इसी कारण उन्हें रासलीला में अन्यपूर्वाओं के प्रति ईर्ष्या आदि की भावना जाग्रत नहीं हुई। इनमें से किसी को भी भगवान के प्रति विवाहित पति की भावना होती, तो उनमें से किसी को तो ईर्ष्या अवश्य होती ही, जैसे कि सत्यभामा को हुई।

न च 'तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्, यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुंक्तेऽच्युताधर'मित्यत्रेर्ष्या तासामपि श्रूयत एवेति वाच्यम्। नेयमीर्ष्या सहभोगेपि त्वेकैव भुंक्ते इत्यस्मिन्नंशे ईर्ष्या। तथा च समानशीलव्यसनरूपा सखी भूत्वा प्रियविप्रयोगजनितात्यसह्यास्मद्विप्रयोगजनितं दुःखं ज्ञात्वापि यदस्मान् विहाय भुंक्ते तत् क्षोभं जनयतीति सखीत्वप्रयुक्ततत्स्नेहजनितेर्ष्या, न तु सपत्निभावजनितेति निर्णयात्। अत एव 'ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखी'मित्यग्रे तस्यास्तासां च सखीभाव उक्तः। अत एवाग्रे तत्सहभावेन रासलीला, अन्यथा तया सहान्याभिः सह वा रासलीलायाममर्यादरसो न स्यात्। तस्मादस्मदुक्ताभिप्राय एवात्र।

इसमें आप यह शंका नहीं कर सकते कि, "अरी सखी ! यह जो सखी हमारे सर्वस्व श्रीकृष्ण को एकांत में ले जाकर अकेले ही उनकी अधरसुधा का पान कर रही है , यह हमारे हृदय में बड़ा क्षोभ उत्पन्न कर रही है(भा १०-३०-३०)" इस वाक्यानुसार ईर्ष्या तो कुमारिकाओं में भी थी और यदि कुमारिकाओं का भगवान से विवाह नहीं हुआ तो उनमें ईर्ष्या कैसे पनप गयी ? नहीं, आपकी यह शंका उचित नहीं है क्योंकि ये ईर्ष्या वो वाली ईर्ष्या नहीं है जो आप समझ रहे हैं। ये गोपिकाएँ तो उस गोपिका से यह कह रही हैं कि, उसे दूसरी सभी गोपिकाओं के संग भगवत्सुख लेना चाहिए किंतु वह अकेली ही भगवत्सुख ले रही है। इस अर्थ में उन्हें ईर्ष्या हो रही है, उन्हें व्यक्तिगतरूप से उससे कोई ईर्ष्या नहीं है। उनका भाव यह है कि - तुम तो हमारे जैसे ही व्यसनदशा से पीड़ित हो और प्रियतम भगवान के विप्रयोग का असहनीय दुःख भी जानती ही हो तथापि हमें छोड़कर खुद ही भगवत्स्वरूप का सुख ले रही हो, तुम्हारी यह बात हमारे मन में बहुत क्षोभ पैदा कर रही है। अतः अपनी सखी के प्रति स्नेह के कारण उन्हें ईर्ष्या हो रही है और यह ईर्ष्या उसे अपनी सौतन समझने वाली ईर्ष्या नहीं है। इसी कारण उपर्युक्त श्लोक के आगे ही "गोपियाँ उस सखी को ढूँढते हुए आगे पहुँची जो उन्हें अचेत मिली। उन्होंने उसे जगाया और तब उसने उन सभी को भगवान के संग का वृतांत सुनाया(भा १०-३०-४१)" इस श्लोक में भगवान के संग अंतर्धान होने वाली गोपी(राधा सहचरी) एवं अन्य दूसरी गोपिकाएँ इन दोनों को ही आपस में सखी कह दिया गया है। इसी कारण आगे उन सभी के संग में ही रासलीला हुई। यदि उनमें आपस में ईर्ष्या जैसा भाव होता तो उस गोपी के संग अन्य दूसरी गोपिकाओं को परस्पर रासलीला में वैसा शाश्वत आनंद न आ पाता जैसा कि आया। इस कारण मैं जो कह रहा हूँ, वह ठीक ही है।

विवाहितपतिना सपत्नीसहभावकृतलीलायां तु बहिरीर्ष्यादिभावादर्शनेप्यन्तरीर्ष्यासंवलनं तिष्ठत्येव लोके राजमहिषीणाम्। अत एव वासरदाननियमोपि तत्र, अत्र तु सर्वदा सर्वसंवलितत्वेनैव लीलाकरणादिति महदेव वैलक्षण्यमित्यास्तां तावत्प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया। एवं चैतादृशपतिभावेनानन्यपूर्वाणां कुमारीणां जारभावेनान्तर्गृहगतानां निरुपधिप्रियत्वभावेन च रासमण्डलमण्डनानां च परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः, तथा च 'गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यादिपुराणवाक्यात् तादृशभावसजातीयभावेनैवाधुनिकानामपि तादृशभगवत्प्राप्तिरिति सिद्धम्।

लोक में भी यह बात देखी गयी है कि रानियाँ अपने विवाहित पति को अपनी सौतनों के संग रमण करता देख भले ही बाहर से अपनी ईर्ष्या न दिखाएँ तथापि अंदर से तो उन्हें अपनी सौतनों के प्रति ईर्ष्या होती ही है। इसी कारण राजा उन सभी को एक-एक दिन बाँट देता है। परंतु रासलीला में तो प्रभु समस्त गोपिकाओं के संग रमण कर रहे हैं और फिर भी किसी गोपिका के मन में दूसरी गोपिका के प्रति ईर्ष्या पैदा न होनी वास्तव में बड़ी विलक्षण बात है अतः इस विषय में और अधिक तर्क-वितर्क रहने ही दो। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि ऊपर कहे ऐसे पतिभाव के द्वारा अनन्यपूर्वाओं को, जारभाव के द्वारा अन्तर्गृहगताओं को एवं निस्वार्थरूप से भगवान में प्रेमभाव के द्वारा रासमंडल की गोपिकाओं को परमकाष्ठापन्न रसरूप भगवत्प्राप्ति हुई। और, इसी प्रकार "अथ गोपीभावेन ये भक्ता" इस पुराणवाक्यानुसार इन गोपिकाओं जैसा भाव रखने से आधुनिक जीवों को भी ऐसे रसरूप भगवान की प्राप्ति होती है, यह सिद्ध हुआ।

तत्रायं रसोपरिच्छिन्न इत्यपरिच्छिन्नस्वरूपसर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यः। तत्र जारभावो न सर्वभावप्रपत्तिरूपः कामैकमात्रपूरकत्वेनैव तस्योद्भवात् , परिच्छिन्नस्वरूपत्वात्। अत एव तेन भावेनास्य रसस्य न प्राप्तिरिति तासां प्रतिबन्धोपि जातः। तस्य देहस्य च सगुणभावाश्रयत्वेन सगुणत्वादेव तत्त्यागानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्त्या निर्गुणतादृग्रसस्वरूपप्रियप्राप्तिस्तासामजनि, अन्यथा तद्भावस्य सर्वभावप्रपत्तिरूपत्वेन निर्गुणत्वे तच्छरीरस्य च निर्गुणत्वे तेनैव शरीरेण प्रियप्राप्तिः स्याद्रासमण्डलमण्डनानामिव। अत्राधिकपूर्वपक्षसमाधानानि तु फलप्रकरणीयसुबोधिन्यामवलोकनीयानि।

यह भगवद्-रस अपार है अतः सर्वव्यापि भगवान में सर्वभाव से शरणागति करने पर ही प्राप्त होता है। किंतु ऊपर कहे गोपिकाओं के समस्त भावों में जारभाव(लौकिक प्रेमी का भाव)में समस्त भावों सहित शरणागति का भाव नहीं होता क्योंकि जारभाव तो केवल कामभाव की पूर्ति के लिये ही उत्पन्न होता है अतः यह सीमित भी है। इसी कारण जारभाव के द्वारा भगवद्-रस की प्राप्ति नहीं होती और इसी कारग जारभाव वाली गोपिकाओं को भगवत्मिलन में प्रतिबंध भी हुआ। जारभाव वाली गोपिकाओं की देह सगुण थी अतः सगुणदेह का त्याग करने के पश्चात् ही उन्होंने सर्वभाव से प्रभु की शरणागति की और तब उन्हें अपने प्रिय निर्गुण भगवत्स्वरूप की प्राप्ति हुई। यदि उनमें सर्वभावपूर्वक भगवान के शरणागत होने का भाव होता तो वे निर्गुण होतीं एवं उनका शरीर भी निर्गुण हो गया होता और उसी निर्गुण शरीर से उन्हें भी रासमंडल की गोपिकाओं की भाँति अपने प्रियतम भगवान की प्राप्ति हो गयी होती। अब इस विषय में और अधिक प्रश्न हों और समाधान की अपेक्षा हो तो फलप्रकरण की सुबोधिनी में देख लें, आपको समाधान मिल जायेंगे।

तथाचातिप्रतिकूलद्वेषादिभावेनापि चेत् प्रभुर्योगीन्द्रप्राप्यां मुक्तिं ददाति तदातिप्रेमसंवलितजारभावेन कथं न गुणातीतरसरूपस्वरूपं दद्यात्। परन्त्वेतद्देहपातानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव दास्यति। एतादृशस्वरूपस्य सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यत्वात्। एवं च सति यद्येतदनन्तरमपि सर्वभावप्रपत्तिरेव भाविनी, तर्हि भगवति सर्वभावप्रपत्तिरेव कार्या, न तु जारभावः। 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्ये'ति न्यायात्। यदि कुत्रापि सर्वोपमर्देन जारभाव एवोदेति तदा भगवदिच्छैव तथा, परन्तु सर्वभावप्रपत्तिमुत्पाद्यैव तत्रापि फलं दास्यतीति ज्ञेयम्। न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति प्रतिज्ञाविरोध इति वाच्यम्। सर्वभावप्रपत्तिलभ्यप्रभुरूपप्राप्तौ जारभावजन्यकामपूर्तिरूपफलस्याप्यन्तर्भूतत्वात् प्रतिज्ञाविरोधाभावात् , तस्माज्जारभावेन भगवद्भजनं न कर्तव्यमेव।

अब यदि जीव प्रभु के प्रति विपरीत द्वेष आदि भाव रखता हो और उसे भी प्रभु वो मुक्ति दे देते हों, जो वे योगी महापुरुषों को देते हैं तो फिर बताइये भगवान में जारभाव से ही सही परंतु प्रेम करनेवाली गोपिकाओं को अपना गुणातीत रसस्वरूप क्यों नहीं देंगे ? किंतु बात केवल इतनी सी है कि इस सगुणदेह का पात होने के पश्चात् जीव में अपने लिये सर्वभावशरणागति उत्पन्न करवा कर ही देते हैं क्योंकि भगवान के गुणातीत रसस्वरूप की प्राप्ति तो केवल सर्वभावशरणागतिपूर्वक ही हो सकती है। अतः यदि देहपात के पश्चात् भी सर्वभावशरणागति से ही बात बननी है, तो फिर जीव को चाहिए कि वह अन्य सभी कुछ छोड़ कर भगवान

के प्रति सर्वभावशरणागति ही करे, जारभाव नहीं। कीचड़ में पैर रखने के पश्चात् धोने से तो अच्छा यही है कि कीचड़ में पैर रखा ही न जाय। और यदि कहीं समस्त भावों का प्रयत्न कर लेने के पश्चात् भी मन में जारभाव ही उत्पन्न होता दिखाई देता हो, तो फिर ये समझिए कि स्वयं भगवान की इच्छा ही ऐसी है। परंतु ये ध्यान में रखिए कि, भगवान फल तो सर्वभावशरणागति करवा कर ही देते हैं। अब ये मत समझिए कि जीव ने तो भगवान को जारभाव से चाहा और भगवान ने उसे जारभाव न देकर सर्वभावशरणागति दे दी तो खुद भगवान की ही "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, उसे मैं उसी भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" यह प्रतिज्ञा भंग हो गयी ; नहीं ऐसा नहीं है क्योंकि यदि भगवान जीव को सर्वभावपूर्वक शरणागति दे रहे हैं तो सर्वभाव में ही जारभाव भी तो समाहित हो ही गया कि नहीं ? इसलिये प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई। अतः जारभाव से भगवद्भजन नहीं करना चाहिए अपितु सर्वभावपूर्वक शरणागति ही सीधे प्रभुप्राप्ति करवा सकती है।

अत एव सर्वभावप्रपत्तिसहितानां रासमण्डलमण्डनानामपि कामपूर्तिरूपफलमपि दत्तं प्रभुणा, अन्यथा तन्न दत्तं स्यात् , ततो ज्ञायते सर्वभावप्रपत्तिलभ्ये फले तदप्यन्तर्भूतमिति। न च पतिभावेपि न सर्वभावप्रपत्तिः, पतित्वभावस्यापि परिच्छिन्नत्वादिति शंकनीयम्। पतिव्रतानां पत्यौ भगवत्ताज्ञानपूर्वकभजनस्य विहितत्वात् सर्वत्र सर्वदा सर्वसमयेषु च मम पतिरेव गतिरिति सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात्। एवं च सति यत्र विवाहिते लौकिकेपीयं रीतिस्तत्रालौकिके साक्षाद्भगवति पतिभावे सर्वभावप्रपत्तिरिति किं वक्तव्यमिति।

और इसी कारण सर्वभावपूर्वक शरणागति करने वाली रासमंडल की गोपिकाओं को भगवान ने उनकी कामपूर्ति का फल भी दिया ; शरणागति न होती तो न देते। अतः मालूम पड़ता है कि सर्वभावशरणागति से प्राप्त होने वाले फल में जारभाव से प्राप्त होने वाला फल भी अन्तर्निहित है। आप ये शंका मत करिये कि, फिर तो भगवान में रक्षकवाला पतिभाव रखने से भी सर्वभावशरणागति सिद्ध नहीं होगी क्योंकि रक्षक वाले पतिभाव में भी तो केवल रक्षा करने का ही भाव आया, सर्वभाव तो आया नहीं अतः पतिभाव भी तो सीमित ही सिद्ध हुआ न ? नहीं, आपकी ये शंका युक्त नहीं है क्योंकि पतिव्रता स्त्रियाँ पति को भगवान मानकर उनकी पूजा करती हैं। वे सदा सर्वदा यही कामना करती हैं कि "मेरा पति ही मेरी गति है"। तो आप ही बताइये, इसमें सर्वभावशरणागति का भाव आया कि नहीं ? अतः यदि लौकिक विवाह में भी पति को परमेश्वर, अपना रक्षक मानकर सर्वभावशरणागति की ही रीति हो, तो फिर अलौकिक साक्षात् भगवान में पतिभाव रखने से सर्वभावशरणागति का भाव तो आ ही जाता है अतः अब इसमें और अधिक क्या कहें।

न च तर्हि महिषीणां कुतो न सर्वभावप्रपत्तिजनितं फलं जातमिति वाच्यम्। विवाहरूपसंस्कारस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वादिति दिक्।

अब आप ये कहेंगे कि यदि यही बात है तो फिर भगवान की पटरानियों को भी तो भगवान में पतिभाव ही था, फिर उन्हें सर्वभावशरणागति से प्राप्त होने वाले परमकाष्ठापन्न भगवान के रसस्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं हो गयी ? तो इसके प्रत्युत्तर में यह समझिए कि इन पटरानियों का भगवान से विवाह हुआ है, जो सर्वभावशरणागति में प्रतिबंधक बन गया।

तथा चान्यपूर्वकुमार्यभिप्रेतकुमारीसजातीयपतिभावेनान्यपूर्वव्रजसीमन्तिनीनिष्ठनिरुपधिप्रियत्वभावेन वा भजनं कर्तव्यमिति निष्कर्षः। तत्रेदं भजनं श्रीमद्व्रजभक्तभजनोपेक्षया स्वातन्त्र्येण न कर्तव्यम् , यत एतादृग्भावेन भजने 'मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्। जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणी'त्यादि पुराणेऽर्जुनं प्रति भगवता स्वसपर्यां गोपिका एव जानन्तीत्युक्तत्वाद्व्रजभक्ता एव गुरुवः। तथा च तत्समकक्षतया स्वातन्त्र्येण भजने गुरुहेलनरूपापराधः प्रसज्येत। तथा च भगवान् फलं न दद्या'दाचार्यं मां विजानीया'दिति वाक्यात्। किञ्च, 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहश्रंखला संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुने'त्यादिफलप्रकरणीयप्रभुवाक्यादयं प्रभुरेतदधीन एव सर्वदा क्रीतजनवन्न त्वन्याधीनः. अतोपि न तदुपेक्षया भजने फलप्राप्तिः।

अतः या तो अन्यपूर्वा कुमारिकाओं ने जिस प्रकार भगवान में रक्षक या स्वामी का भाव रखा था वैसे अथवा तो भगवान को निस्वार्थभाव से प्रेम करनेवाली अन्यपूर्वाओं ने जिस प्रकार भगवान में रक्षक या स्वामी का भाव रखा था वैसे ही ढंग से भगवान का भजन करना चाहिए, यह निष्कर्ष है। इनके अनुसार भजन करने में यह भी ध्यान रखें कि इनकी उपेक्षा करके स्वतंत्ररूप से खुद ही भजन नहीं करना है अपितु इन गोपिकाओं की कृपा से भगवद्भजन कर रहे हैं - ऐसा अनुसंधान रखकर भजन करना है। क्योंकि स्वयं भगवान ने पुराण में अर्जुन से " मेरे विषय में सभी कुछ केवल गोपिकाएँ ही जानती हैं, अन्य कोई नहीं जानता" यह कहा है। अतः यदि गोपिकाओं से बराबरी रखते हुए स्वतंत्ररूप से भजन करेंगे, तो पुष्टिमार्ग की गुरु कही जाने वाली गोपिकाओं की

बराबरी करने का अपराध आपतित होगा। और चूँकि पुष्टिमार्ग की मूल आचार्य तो गोपिकाएँ ही हैं और भगवान स्वयं "आचार्य को मेरा ही स्वरूप जानना चाहिए(भा० ११-१७-२७)" यों कह रहे हैं अतः आचार्य-गोपिकाओं की अवहेलना भगवान की अवहेलना होने के कारण भगवान भी फल नहीं देंगे। और तो और, श्रीभागवत के "गोपी ने श्रीकृष्ण से कहा - हे प्यारे ! अब मुझसे और चला नहीं जाता, मुझे अपने कंधे पर चढ़ा लो। तब भगवान ने उसे कंधे पर चढ़ा लिया(भा० १०-३०-३८)" इस फलप्रकरण के भगवद्वाक्य के अनुसार प्रभु एक बिके हुए मनुष्य की भाँति सर्वदा इन गोपिकाओं के ही अधीन हैं, अन्य किसी के नहीं। इसलिये भी यदि गोपिकाओं की उपेक्षा करेंगे तो भजन में फलप्राप्ति नहीं होगी।

न च 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः। नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा। ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे। मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथे'त्यादिनाम्बरीषादिभक्ताधीनत्वमपि श्रूयते, न त्वम्बरीषादेरेतत्स्वरूपप्राप्तिरिति वाच्यम्। 'भक्तिभेदो बहुविधो मार्गैर्भामिनी भाव्यते। स्वभावगुणभेदेन पुंसां भावो विभिद्यत' इतिवाक्याद्भक्तिमार्गोनैकविधः, तेषु च भक्तिभेदेष्वेतासां भक्तिरत्युत्तमा, परमकाष्ठापन्नस्वरूपलाभात्। अत ए'वैताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः, वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य। अत्रैता गोपवध्वः परमतिशयेन तनुभृत इत्यनेनान्ये भक्ता अतिशयेन तनुभृतो न भवन्तीत्युच्यते।

यदि मैं भगवान को गोपिकाओं के अधीन कह रहा हूँ तो फिर आप ये पूछेंगे कि, श्रीभागवत में "हे दुर्वासाजी ! मैं अपने भक्त के आगे विवश हूँ(भा० ९-४-६३)" इस वाक्यानुसार भगवान तो राजा अंबरीश जैसे भक्तों के अधीन हैं, तो फिर खुद राजा अंबरीश को भगवान के परमकाष्ठापन्न रसस्वरूप शुद्धपुष्टिमार्गीयस्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं हुई, जैसे कि गोपिकाओं को हुई ? नहीं , आपकी शंका उचित नहीं है। राजा अंबरीश की तुलना गोपिकाओं से हो ही नहीं सकती। भक्तिमार्ग तो "साधकों के भावानुसार भक्तियोग के भेद तो अनेक प्रकार के हैं क्योंकि स्वभाव एवं गुणों के भेद से मनुष्यों के भाव में भी विभिन्नता आ जाती है(श्री०भा० ३-२९-७)" इस वाक्यानुसार अनेक प्रकार के हैं और उनमें से इन गोपिकाओं को जो भक्ति प्राप्त हुई है वह भक्ति तो अति उत्तम है क्योंकि गोपिकाओं को भगवान के परमकाष्ठापन्न रसस्वरूप की प्राप्ति हुई है। इसी कारण श्रीभागवत के " इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान श्रीकृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित हो गयीं हैं। प्रेम की यह ऊँची से ऊँची स्थिति संसार के भय से डरे हुए मुमुक्षुजनों के लिये ही नहीं अपितु बड़े-बड़े मुनियों, मुक्तपुरुषों तथा हम भक्तजनों के लिये भी अभी वाञ्छनीय ही है। जिन्हें भगवान की लीला-कथा का रंग लग गया है उन्हें कुलीनता की, द्विजातिसमुचित संस्कार की और बड़े-बड़े यज्ञ-यागों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है ? अथवा, यदि भगवान की कथा का रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं जागी तो अनेक महाकल्पों तक ब्रह्मारूप प्राप्त हो जाय तो भी व्यर्थ है(भा० १०-४७-५८)" इस वाक्य में कहा गया है कि ये गोपवधुएँ ही अलौकिक देहधारी हैं एवं अन्य कोई भी भक्त इनकी तुलना में ऐसा अलौकिक नहीं है।

नन्वत्र किं कारणमित्याकांक्षायामाहुः गोविन्द एवेति। गोविन्द एव निरूढभावाः , न त्वन्यस्मिन्। निरूढः वक्तुमशक्यो भावो यासां ताः। यथा निरूढशब्दे व्युत्पत्तिर्न कर्तव्या तादृगर्थाभावात्तथैतासां भावेपीति भावः। गोगोकुलेन्द्रवाचकेन गोविन्दपदेन च धर्मिमात्रपरता तासां निरूपिता। नन्वन्यभावभक्ता अपि महिष्यादयो धर्मिपरा एवेत्याशंकायामाह निखिलात्मनीति। निखिलानामन्येषां धर्मिणां धर्माणामप्यात्मा मूलरूपधर्मीत्यर्थः। तादृशत्वं श्रीयशोदानन्दने श्रीकृष्ण एव, 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मना'मिति वाक्यात्। तथा चान्ये धर्मिपरा अपि न निखिलात्मस्वरूपश्रीकृष्णरूपधर्मिपरा इति भावः।

इनकी देह अलौकिक क्यों है, इसका कारण इसी श्लोक में "गोविंदे" पद से बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि गोपिकाएँ केवल गोविंद में ही निरूढ़भाव रखती हैं, अन्य किसी में नहीं। निरूढ़ का अर्थ होता है - जिसे शब्दों में व्यक्त न किया जा सके। जैसे निरूढ़ शब्द की व्याकरणानुसार व्युत्पत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही ऐसे भाव से युक्त गोपिकाओं का भाव भी ऐसा गूढ़ है कि जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। और इसी श्लोक में भगवान के लिये "गोविंद" पद का प्रयोग है, जिसका अर्थ है = गो-गोकुलेन्द्र अर्थात् गौ-इंद्रियों एवं गोकुल के स्वामी। इससे पता चलता है कि इन गोपिकाओं की आसक्ति केवल धर्मिस्वरूप श्रीकृष्ण में थी। अब आप यह प्रश्न करेंगे कि भगवान की पटरानी या अन्य भाव से भजने वाले भक्तों को भी तो धर्मिस्वरूप में ही आसक्ति थी, तो फिर गोपिकाओं की ही इतनी महत्ता क्यों ? आपको इस प्रश्न का समाधान इस श्लोक में कहे "निखिलात्मनि" शब्द से मिल

जायेगा। अन्य समस्त धर्मि एवं धर्मों के भी जो आत्मा हैं, उसे कहते हैं "निखिलात्मन्" ; जिसे कहेंगे मूलरूप धर्मि। और मूलरूप धर्मिस्वरूप निखिलात्मा तो केवल यशोदानन्दन श्रीकृष्ण ही हैं। क्योंकि यही बात "इन कृष्ण को ही तुम सब आत्माओं का आत्मा समझो। ये माया के कारण देहधारी के समान जान पड़ते हैं(श्री०भा० १०-१४-५५)" इस वाक्य से कही गयी है। अतः गोपिकाओं के अतिरिक्त अन्य भक्त धर्मिपर होंगे परन्तु वे निखिलात्मस्वरूप श्रीकृष्णरूप धर्मिपर नहीं हैं।

नन्वेवं किमित्ययं भावः स्तूयते, भिन्नरुचिर्हि लोक इति न्यायाद्यस्य यद्रोचते स तमेव भावं तमेव स्वरूपं च सर्वोत्कृष्टं जानातीति चेत्तत्राह वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनय इति। पूर्वं संसारभयेन मुनयः मननशीला भूत्वा प्राप्तज्ञाना निवृत्ताविद्याः शुकादयोपि यद्यस्मात्कारणात् वाञ्छन्ति यं भावम्। तथा च येन निःशेषाविद्याभाववन्तस्त एवान्यप्रकारकं भावमन्यप्रकारकं भगवत्स्वरूपं च सर्वोत्कृष्टत्वेन परमकाष्ठापन्नं जानन्तीति भावः। किञ्च, वयमपि वैश्यापेक्षयोत्कृष्टाः क्षत्रियाः लौकिका अपि वाञ्छामः। यतोनुभावदर्शनं विना नोत्कृष्टं मन्यते कोपि कमपि। तस्माद्यत्र लौकिकालौकिकानां वाञ्छास्वभावस्तत्स्वरूपमेव तदासक्ताश्च सर्वोपरि विराजमाना इति किं वाच्यमेतत्भावस्यैतत्स्वरूपस्य तन्निष्ठनामानां सर्वाधिकत्व इति निगर्वः। अतः कारणादनन्ताः कथा यस्यासावनन्तकथः श्रीकृष्णस्तस्मिन् यो रसोद्बोधाभाववान् तस्य ब्रह्मजन्मभिः सहस्रमुखचतुर्मुखादिजन्मभिः किम् ? न किमपीत्यर्थः।

अब प्रश्न यह होता है कि, धर्मिस्वरूप का ही इतना आग्रह क्यों ? भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचि होती है अतः जिसे जो भाव रुचिकर लगे, वो उसी भाव को सर्वोत्कृष्ट मानता है इसलिये प्रश्न यह उठता है कि भई केवल धर्मिस्वरूप का ही इतना आग्रह क्यों रखा जा रहा है ? यदि आपको यह प्रश्न होता हो तो इस श्लोक के "वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनय" इत्यादि पदों से इसका समाधान मिल जाता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि - संसारभय के कारण पहले मुनि मननशील हुए और उन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। ब्रह्मज्ञान से उनकी अविद्या नष्ट हो गयी। फिर ऐसे शुक-आदि मुनि कि जिनकी अविद्या नष्ट हो गयी है, जिस भाव को चाहते हैं उसी भाव को हम चाहती हैं। क्योंकि ऐसे शुक-आदि मुनि भी धर्मिस्वरूप श्रीकृष्ण के स्वरूप को सर्वोत्कृष्ट होने के कारण परमकाष्ठापन्न रूप से जानते हैं अतः हम भी उसी धर्मिस्वरूप श्रीकृष्ण के स्वरूप को चाहते हैं। और हम(उद्धव-आदि)भी क्षत्रिय हैं, लौकिक हैं एवं वैश्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं तथापि वैश्यजातीय व्रजगोपियों वाले भाव की आकांक्षा करते हैं क्योंकि व्रजगोपियों का भाव धर्मिस्वरूप में होने के कारण श्रेष्ठ है। क्योंकि नियम तो यह है कि, प्रभाव दिखाये बिना तो कोई किसी को उत्कृष्ट नहीं मानता। अतः जब लौकिक-अलौकिक सभी जिन व्रजभक्तों के भाव की कामना रख रहे हैं और व्रजभक्तों का धर्मिस्वरूप श्रीकृष्ण एवं धर्मिस्वरूप में उनकी आसक्ति ही सर्वोपरि है, फिर इन व्रजभक्तों के भाव, इनके द्वारा माने गये धर्मिस्वरूप श्रीकृष्ण एवं ऐसे श्रीकृष्ण में निष्ठा रखने वाले व्रजभक्तों की सर्वाधिकता में क्या शंका रह जाती है ? इस कारण अनंतकथाश्रीकृष्ण में जिसे रसोद्बोध होने की प्रतीति नहीं हो रही है, उसे ब्रह्मारूप से अर्थात् हजारों मुखवाले या चतुर्मुखीजन्म मिलने से भी क्या लाभ ? कुछ भी नहीं।

यद्वा , जन्मभिः पुनःपुनर्जन्मभिरनन्तकथारसस्य तस्य किं ब्रह्म अक्षरस्वरूपम् ? न किमपि। तेषां मनसि ब्रह्मस्वरूपमप्रयोजकं भासत इत्यर्थः। तथा चानन्तकथारसनिष्ठत्वे जन्मैव वरम् , न तु मुक्तिरिति। तथा चैतन्मार्ग एतासामेव गुरुत्वेनान्यस्वरूपस्यान्याधीनत्वेप्येतासां भावस्य सर्वोत्तमत्वात् परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्स्वरूपमेतदधीनमेवेत्यपि विचार्यासामेवातिदैन्येन दास्यकरणे तत्स्वरूपप्राप्तिस्तदनुग्रहेण, न तु स्वातन्त्र्येणेति ज्ञेयम्। अपरं च 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्। या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्', 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रय'मित्यादिना व्रजभक्ताः स्वजनस्यार्यपथस्य च परमकाष्ठापन्नस्य त्यागेन मुकुन्दस्य मोक्षदातुरपि पदवीं येन मार्गेण भगवान् गच्छति तं मार्गमेव तच्चरणरेणुसंवलितं भेजुर्न तु मुक्तिम्।

अथवा तो जिसे वारंवार जन्म लेकर भी अनंतकथाश्रीकृष्ण में ही रस आ रहा है, उसके लिये ब्रह्म का अक्षरस्वरूप भी क्या मायने रखता है ? कुछ भी नहीं। उनके मन में अक्षरब्रह्म के स्वरूप का कोई भी प्रयोजन नहीं है। अतः यदि ऐसे श्रीकृष्ण में निष्ठ हो जाएँ तो जन्म लेते रहना ही श्रेष्ठ है, मुक्ति मिलनी नहीं। इस प्रकार इस पुष्टिमार्ग में इन गोपिकाओं को ही गुरु माना गया है अतः श्रीकृष्ण के अन्य स्वरूप भले ही किसी अन्य भक्तों के अधीन होंगे परंतु गोपिकाओं का भाव सर्वोत्तम होने के कारण परमकाष्ठापन्न रसरूप भगवत्स्वरूप तो इन गोपिकाओं के ही अधीन है। यह सभी कुछ विचार करके अतिदैन्य से जो इनका ही दास्य कर रहा है, उन्हें गोपिकाओं के अनुग्रह से ऐसे रसस्वरूप भगवान की प्राप्ति होती है, स्वतंत्रतया भक्ति करने से नहीं। और,

दूसरी बात यह है कि "उद्धवजी गोपियों को नमस्कार करते हुए यों कहने लगे - मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृंदावन में कोई झाड़ी, लता या औषधि या जड़ी-बूटी बन जाऊँ तो मुझे इन गोपिकाओं की चरणरज निरंतर मिलती रहेगी। धन्य हैं ये गोपियाँ जिन्होंने अपने सगे-संबंधियों, लोकवेद की प्राचीन मर्यादा का भी परित्याग करके भगवान की तन्मयता को प्राप्त कर लिया है, जिसे श्रुतियाँ भी प्राप्त नहीं कर सकीं(भा० १०-४७-६१)", "उद्धवजी ने कहा - व्रजांगनाओं की चरणरज को मैं वारंवार प्रणाम करता हूँ(भा १०-४७-६३)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार तो व्रजभक्तों ने सर्वश्रेष्ठ स्वजन एवं आर्यपथ का त्याग करके मोक्ष देने वाले मुकुंद-श्रीकृष्ण जिस मार्ग से पधारते हैं, उस मार्ग में आयी उनके चरणरेणु का ही आश्रय लिया, मुक्ति का नहीं।

तथा च मुक्त्यपेक्षयापि भगवच्चरणरेणुरेव सर्वोत्कृष्ट इति सिद्धम्। एवं चैतादृक् चरणरेणोरेतादृशानुभावज्ञापने व्रजसीमन्तिन्य एव गुरव इत्येतासामनुवृत्त्यैव भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति श्रीव्रजभक्तचरणरेणुसम्बन्धि गुल्मलतौषधिजन्मापि प्रार्थितमतिदीनतया श्रीमदुद्धवैर्वन्दनं च तच्चरणरेणोरेव च कृतमन्यथा गुर्ववज्ञाकृतघ्नताजनितापराधेन न भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति दिक्। तस्मादेतासां गुरुत्वादेतदधीनत्वाच्च तच्चरणरेणुदास्येनैवैतादृशभगवत्प्राप्तिर्नान्यथेति निःप्रत्यूहम्।

अतः मुक्ति की अपेक्षा भगवान की चरणरेणु ही सर्वोत्कर्ष है, यह सिद्ध हुआ। भगवान की चरणरेणु का ऐसा प्रताप व्रजसीमन्तिनियों ने ही बताया है अतः वे ही इस मार्ग की गुरु हैं और इनका अनुकरण करेंगे, तब ही भगवच्चरणरेणु की प्राप्ति होगी। इसी कारण श्रीमद्-उद्धवजी ने भी अतिदीनतया श्रीव्रजभक्तों के चरणरेणु की वंदना की है एवं उनकी चरणरेणु से संबंधित गुल्मलता औषधि के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना भी की। यदि वे इन गोपिकाओं का अनुसरण न करते तो गुरु-आज्ञा का उल्लंघन करने जैसी कृतघ्नता के अपराध के कारण उन्हें भगवच्चरणरेणु की प्राप्ति न हुई होती। इस कारण पुष्टिमार्ग की गुरु यही गोपिकाएँ हैं और रसस्वरूपश्रीकृष्ण इनके अधीन हैं अतः इनके चरणरेणु का दास्य करने से ही ऐसे रसस्वरूप भगवान की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।

स्यादेतत्। अयं सर्वोपि यत्नो रसरूपप्रभुस्वरूपफलप्राप्त्यर्थमेव। 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती'ति श्रुत्या रसरूपभगवत्प्राप्तेरेव परमफलत्वात्। सा च प्राप्ति'स्तेनैव सर्वभावेन परमानन्दमश्नुते' इति नादबिन्दूपनिषच्छ्रुत्या 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतेश्च सर्वभावप्रपत्तिलभ्यसर्वकामभोगरूपा। स च पूर्णसर्वकामभोगोपि तेषां व्रजसीमन्तिनीसदृशभावेनैव, नान्यभक्तभावसजातीयभावेन। एतदतिरिक्तस्थले प्रभुरंशेनैव, न तु पूर्णस्वरूपेणेति। तथा च तत्कामनया भजने क्रियमाणे व्रजसीमन्तिनीदास्यकरणेपि मनसि तत्समताभावनासत्त्वात् कापट्यसिद्धौ तासां गुरुरूपत्वेन सकपटभजने फलसिद्धेरभावस्तत्समकक्षता च स्यादिति चेत्, अत्र ब्रूमः।

चलो ठीक है, ऊपर कहा सभी कुछ यत्न-प्रयत्न रसरूप प्रभुस्वरूप फलप्राप्ति के लिये ही है क्योंकि "भगवान ही रस हैं। इन रसमय भगवान को पाकर ही जीव आनंदयुक्त होता है(तैति० २-७-१)" "तेनैव सर्वभावेन परमानन्दमश्नुते","परब्रह्म को जान लेने वाला जीव ब्रह्म के संग समस्त अलौकिकभोग करता है (तै०उ० २-१)" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ऐसे रसस्वरूपभगवत्स्वरूप की प्राप्ति होने का अर्थ है - सर्वभावशरणागति द्वारा प्रभु के संग समस्त कामभोग करना। और यह पूर्णसर्वकामभोग भी व्रजसीमन्तिनियों के जैसा भाव करने के कारण ही प्राप्त होता है, अन्य दूसरे भक्तों के जैसा भाव करने से नहीं। व्रजमंडल के अतिरिक्त स्थलों पर प्रभु अंशरूप से ही विराजते हैं, पूर्णस्वरूप से नहीं। परंतु गोपिकाओं जैसी कामना रखते हुए भगवान का भजन करने में यह है कि, भले ही गोपिकाओं का दास्य स्वीकारा हो तथापि मन में उनकी बराबरी करने का भाव तो आ ही जाता है। बराबरी का भाव आया तो फिर उन्हें गुरु के रूप से मानना कपट हो गया और यदि कपटपूर्वक भगवद्भजन करेंगे तो फल मिलेगा नहीं एवं उनसे बराबरी करने का दोष और माथे चढ़ा। यदि ऐसी शंका होती हो, तो हम इसका समाधान कर रहे हैं।

परमकाष्ठापन्नरसरूपो भगवान् हि लोकेतिरहस्यतमां पुष्टिलीलां यत् प्रकटितवान् तत्किमर्थमिति पृच्छामः। न च 'आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ। पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले। जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम्। मयि सम्प्राप्य सर्वोपि कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्वामनपुराणोक्तेः श्रुतीनामनुग्रहार्थमिति वाच्यम्। अनुग्रहस्य श्रुतिनिमित्तप्रदर्शितप्रकृत्यतीतलोकेपि कर्तुं शक्यत्वात्।

सर्वप्रथम तो मैं यह पूछता हूँ कि परमकाष्ठापन्न रसरूप भगवान ने अतिरहस्यमयी पुष्टिलीला को इस लोक में आखिरकार क्यों प्रकट किया ये बताइये ? आप इस प्रश्न के उत्तर में यह नहीं कह सकते कि " आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते " इत्यादि बृहद्वामनपुराण

के श्लोकों के अनुसार वेद की श्रुतियों पर अनुग्रह करने के लिये प्रभु ने पुष्टिलीला प्रकट की है क्योंकि यदि आप ये कहेंगे तो मैं इसके प्रत्युत्तर में यह कहूँगा कि यदि प्रभु को श्रुतियों पर ही अनुग्रह करना था तो, श्रुतियों की प्रार्थना के अनुसार जब भगवान ने उन्हें प्रकृति से परे अपना लोक दिखाया था, तो उस लोक में भी कर सकते थे। इसके लिये उन्हें व्रज में प्रकट होकर अनुग्रह करने की क्या आवश्यकता थी ?

न च 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना समुद्भूताश्च गोकुले। हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादि'ति। 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्। कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश। गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्राक्रीडन्त केशव'मित्यादि पद्मपुराणोत्तरखण्डमहाकौमारिवाराहपुराणादिवचनसिद्धदण्डकारण्यवास्तव्यमहर्षीणामनुग्रहार्थमित्यपि वाच्यम्। दण्डकारण्यस्थमहर्षीणामपि तत्रैव स्त्रीदेहं सम्पाद्य रामरूपेणैव न रमणं कृतम् , किन्तु तद्देहपातानन्तरं स्त्रीदेहं सम्पाद्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिवृन्दावन एव श्रीकृष्णरूपेणैव रमणं कृतम्। एवं च तद्देहपातानन्तरमलौकिकदेहं सम्पाद्य श्रुतिप्रदर्शितवृन्दावन एव कुतो नानुग्रहं कृतवानिति प्रश्ने तवोत्तराभावात् ,

और यदि आप ये कहें कि "पुरा महर्षय सर्वे", "अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा" इत्यादि पद्मपुराण के उत्तरखंड एवं महाकौमारिवाराहपुराण के वचनों के अनुसार दंडकारण्यवन के महर्षियों पर अनुग्रह करने के लिये प्रभु ने पुष्टिलीला की है, तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि दंडकारण्य के महर्षियों को भी वहीं स्त्रीदेह देकर राम के रूप में प्रभु ने रमण नहीं किया, किंतु उन ऋषियों की देहपात होने के पश्चात् उन्हें स्त्रीदेह देकर ब्रह्माण्ड के अंतर्गत आए वृंदावन में ही श्रीकृष्णरूप से रमण किया। प्रभु को ऋषियों पर अनुग्रह ही करना था, तो दंडकारण्यवन में ही कर देते ! इसके अलावा मैंने जो ऊपर प्रश्न किया था कि, यदि प्रभु को श्रुतियों पर ही अनुग्रह करना था तो उसी वृंदावन में क्यों नहीं कर दिया जो वृंदावन प्रभु ने उन्हें दिखाया था, तो आपके पास इसका भी उत्तर नहीं मिलेगा।

न च स्वतन्त्रेच्छो भगवानिति वाच्यम्। 'अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेदि'ति फलप्रकरणीयवाक्याद्भक्तानुग्रहार्थमेवैतादृशलीलाविशिष्टप्रभुप्राकट्यात्। प्रपञ्चे निःप्रयोजनकप्राकट्यस्याश्रुतत्वाच्च।

और यदि आप यह कह कर बचना चाहते हैं कि, यह तो प्रभु की अपनी स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करता है कि, वे किस पर और कहाँ अनुग्रह करें तो आपका यह तीर भी नहीं चल पायेगा। क्योंकि फलप्रकरण के "भगवान जीवों पर कृपा करने के लिये ही अपने को मनुष्यरूप में प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं कि जीव भगवत्परायण हो जाएँ(श्री०भा० १०-३३-३७)" इस वाक्य द्वारा सिद्ध होता है कि, भक्त पर अनुग्रह करने के लिये ही भगवान भक्त की ही इच्छानुसार ऐसे लीलाविशिष्ट स्वरूप से प्रकट होते हैं। भगवान भूतल पर प्रकट होंगे तो किसी न किसी प्रयोजन से ही होंगे एवं यहाँ रासमंडल में प्रभु का प्रयोजन भक्तानुसारी लीला करने का है, अपने खुद के अनुसार नहीं।

न चानुग्रहं विना नैतादृशफलप्राप्तिरित्यनुग्रहेण प्रापञ्चिकजीवानामप्येतद्देहपातोत्तरं तादृशफलदानं तत्रैव स्थित्वा कुतो न करोतीति वाच्यम्। भगवान् हि रसरूपस्वरूपं प्रापञ्चिकजीवानामपि केषाञ्चिद्दातुं विचारितवान् स्वमुख्यभक्तेच्छापूर्वकस्वेच्छया। तत्र रसरूपभगवत्प्राप्तिस्तु रसरूपभावेनैव योग्या, नान्यादृशभावेन, "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति वाक्यात्। तत्र रसरूपभावस्वरूपं साधनं वेदादिषु कुत्रापि नोक्तमतः प्रपञ्चे वृन्दावनं रसरूपस्वस्वरूपं रसरूपं परिकरं च तत्प्राप्त्यनुगुणं रसरूपं साधनं च प्रकटं कृत्वा तादृशसाधनेन तादृशस्वरूपप्राप्तिं महर्ष्यादीनां कृतवान् प्रभुः, तदनन्तरं तादृशसाधनस्याविर्भावादतिभाग्यवतां जीवानां तदनुष्ठाने तत्स्वरूपप्राप्तेर्निःप्रत्यूहत्वमिति तथाकरणाभावात्।

किसी को एक शंका यह होती है कि भगवन के अनुग्रह के बिना तो ऊपर कहे फल प्राप्त नहीं हो सकते अतः यदि भगवान को अनुग्रह ही करना है तो भूतल के जीवों को भी देहपात करवा कर सीधे अपने प्रपंचातीत लोक में से या अपने निजधाम में बैठे-बैठे ही फलदान क्यों नहीं कर देते, इसके लिये उन्हें स्वयं भूतल पर प्रकट होने की क्या आवश्यकता है ? नहीं, आपकी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान प्रापंचिक जीवों में से कुछ एक को ही अपने रसस्वरूप का दान करने का विचार करते हैं और जब उनके किसी मुख्यभक्त को ऐसे स्वरूप की इच्छा होती है, तब वे अपने रसस्वरूप का दान करने का भी मन बना लेते हैं। और रसस्वरूप भगवत्प्राप्ति तो रसरूपभाव के द्वारा होनी ही उचित है, अन्य किसी भाव से नहीं क्योंकि गीता में भगवान आज्ञा करते हैं - "जो मुझे जिस भाव से भजता है, उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४- ११)"। अब भगवान क

रसरूपभावस्वरूप को प्राप्त करने का साधन वेद आदि प्राचीन शास्त्रों में कहीं भी कहा तो गया नहीं है अतः भगवान ने भूतल पर वृंदावन को, रसस्वरूप को, रसरूप परिकर को एवं इनके अनुरूप रसरूप साधन को प्रकट करके रसरूपसाधन द्वारा अपने रसरूपस्वरूप की प्राप्ति दंडकारण्य के महर्षियों को करवायी। इसके पश्चात् जब रसरूपसाधन प्रकट हो गया तो अति भाग्यवान जीवों ने जब यह साधन किया तो उन्हें भी भगवान के रसरूपस्वरूप की प्राप्ति बिना किसी विघ्न के हो गयी। इसी कारण भगवान ने वहीं अपने धाम से सीधे-सीधे इन पर अनुग्रह नहीं किया।

न च रसरूपभावमत्रादत्वानुग्रहेणैव कुतो न तादृक्फलदानमिति वाच्यम् , स्वतन्त्रेच्छेन भगवतैव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मित्युक्तत्वात् तादृक्प्रतिपत्तिं विना तादृशानुग्रहाभावात् तादृशफलदानाभावात् प्रपत्तेरपि तत्रैव दानेत्र प्राकट्यवैयर्थ्यमिति पूर्वमेवोक्तम्।

आप यह संदेह मत करिए कि भगवान अपने रसरूपभाव का दान न देकर केवल अपने अनुग्रह के द्वारा ही रसरूपफलदान क्यों नहीं कर देते ? ऐसा संदेह न रखें क्योंकि यह तो भगवान की अपनी इच्छा की बात है कि किसी को कैसे, क्यों और कैसा फलदान करें। और यह भी तो है कि "जो मुझे जिस भाव से भजता है, उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४- ११)" इस भगवद्वाक्य के अनुसार जब तक जीव रसरूपभावयुक्त शरणागति न करे, तब तक भगवान भी रसरूपभावदान करने का अनुग्रह नहीं करते। और भगवान अनुग्रह नहीं करेंगे तो उनके रसरूपस्वरूप का दान भी नहीं करेंगे ; और यदि भगवान जीव को अपनी शरणागति भी सीधे-सीधे अपने निजधाम में बिराजे हुए ही दे दें, तो उनका भूतल पर प्रकट होना ही व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा, जो बात मैंने पहले भी कही थी।

न च 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति मुण्डकोपनिषद्वाक्याद् विनापि साधनं भगवत्प्राप्तिरिति वाच्यम्। एतद्वाक्यानुपदोक्त 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात् ,एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामे"ति वाक्य "एतैरुपायैर्यतत' इत्युक्तेः पूर्ववाक्येन मर्यादीयसाधनमात्रनिषेध एव, न तु एतैर्मन्मनसि स्थितैरुपायैर्व्रजभक्तसजातीयभावादिभिः यः कश्चन यतते तस्य भगवद्वशीकारकसर्वात्मभावरूपबललाभादेष आत्मा ब्रह्मरूपं हृदये प्रकटं धाम विशते प्रविष्टो भवतीत्यर्थान्न मर्यादातीतसाधननिषेध इति त्वदुक्तेरनवकाशात्। अन्यथा फलत्वव्याहतिः। यत्किञ्चित्साधनसाध्यस्यैव फलत्वात्। तस्मादतिभाग्यवत्तराणां जीवानामेतादृशसाधनेनैवैतादृशफलप्राप्त्यर्थमेतादृशोवतार इति।

और, "यह परमात्मा साधनों से प्राप्त नहीं होता(३-२-३)" मुण्डकोपनिषद् के इस वाक्य की दुहाई देकर भी यह मत कहिए कि साधन किये बिना ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है क्योंकि इसी वाक्य के आगे यह भी लिखा हुआ है कि "यह परमात्मा बलहीन मनुष्य को प्राप्त नहीं होता(३-२-४)"। इस श्रुति में कहे "इन उपायों के लिये जो प्रयत्न करता है" इस वाक्य से पूर्व के वाक्य में कहे मर्यादामार्गीय साधनों का निषेध बताया गया है ; मैंने इस टीका में जो व्रजभक्तों जैसे भाव जाग्रत करने का प्रयत्न करने की बात कही है, उन उपायों का निषेध नहीं है यह समझ लीजिए। मेरे कहे उपाय करने का जो जीव प्रयत्न करता है, उसे इस मुण्डकोपनिषद् के दूसरे वाक्यानुसार भगवान को वशीभूत कर देने वाला सर्वात्मभावरूप बल प्राप्त होता है और जिसके कारण यह ब्रह्मरूप परमात्मा जीव के हृदयरूपी धाम में प्रविष्ट होता है अतः उपर्युक्त वाक्यों में मर्यादामार्गीय साधनों का ही निषेध बताया गया है, इस मार्ग के साधनों का नहीं इसलिये यहाँ आपकी युक्ति नहीं चल सकती। यदि प्रयत्न ही नहीं करेंगे तो फलप्राप्ति होगी ही नहीं क्योंकि थोड़ा-बहुत साधन करने के द्वारा ही फलप्राप्ति होती है। इसलिये अतिभाग्यवान जीवों द्वारा इस मार्गानुसार साधन करने पर ही ऐसे रसरूप भगवान की प्राप्ति कराने के लिये भगवान का रसरूप अवतार हुआ है।

एवं च व्रजभक्तसमानभावेनाभजने तत्फलप्राप्तेः कस्याप्यभावादेतादृशमार्गप्राकट्यवैयर्थ्यापातः स्यात्। अत एव 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम्। हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय' इति बृहद्वामनपुराणे। 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा सुहृदो दैवमिष्ट'मित्यादिना श्रीभागवते चोक्तम्। अन्यथैतादृग्वाक्यं व्यर्थं स्यात्। तस्माद्व्रजभक्तसजातीयभावेनैव भजनं कर्तव्यम्। परन्तु व्रजभक्तदास्यपूर्वकमेव, न तु स्वातन्त्र्येण, व्रजभक्तानामेतन्मार्गगुरुत्वात्प्रभोस्तदधीनत्वाच्चेति निष्कर्ष इति सर्वं समञ्जसम्।

और यह भी समझ लीजिए कि व्रजभक्तों जैसे भाव द्वारा भगवान का भजन न करने पर भी यदि रसरूप भगवान की प्राप्ति हो जांय, तब तो भगवान के रसरूपस्वरूप की प्राप्ति सभी सामान्य जीवों को भी हो जाय और भगवान का पुष्टिमार्ग को प्रकट करना ही व्यर्थ हो जाय। इसी कारण वामनपुराण में "स्त्री या पुरुष" एवं "भगवान कहते हैं - जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र,

मित्र, गुरु, सुहृद् हूँ , वे मेरे वैकुण्ठ में दिव्यभोग करते हैं एवं उन्हें मेरा कालचक्र भी नहीं ग्रस सकता(भा० ३-२५-३८)" इत्यादि वाक्यों से भागवत में भी यही बात कही गयी है कि अनन्यभाव से भजन करें तो प्रभुप्राप्ति होती है। अन्यथा तो ये सभी वाक्य भी व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे। इस कारण व्रजभक्तों जैसे भाव के अनुरूप ही भगवद्भजन करना चाहिए। परंतु इतना अवश्य स्मरण रखें कि व्रजभक्तों/गोपिकाओं के दास बनकर ही भजन करें, स्वच्छंद होकर नहीं। क्योंकि व्रजभक्त गोपिकाएँ इस मार्ग की गुरु हैं एवं भगवान इनके अधीन भी हैं।

न च प्रभोर्व्रजभक्ताधीनत्वेन तद्दास्यकरणेपि यदि ताः प्रतिबन्धं कुर्युः प्रभोः स्वस्वरूपदाने स्त्रीस्वभावसिद्धप्रचुरेर्ष्यया तदा कथमेतादृशफलप्राप्तिरिति वाच्यम्। रसरूपप्रभोरेव फलत्वात् रसस्य च विभावानुभावव्यभिचारिसमूहरूपत्वात् तत्र विभावत्वेन व्रजभक्तानां रसरूपप्रभुत्वात् तेषामप्यनुमत्यैवैतादृग्मार्गप्राकट्यस्य जातत्वेन तत्कृतेर्ष्या प्रतिबन्धाभावात्।

अब आप यह संदेह मत करिए कि यदि प्रभु इन व्रजगोपिकाओं के अधीन हैं तो इस कारण भले ही व्रजभक्तों के दास बन कर भी प्रभुभजन करें तो भी स्त्रीसुलभ ईर्ष्या के कारण अन्य किसी जीव को प्रभुप्राप्ति होती देखकर खुद गोपिकाएँ ही उसके भजन में प्रतिबंध कर बैठेंगी और उसे फलप्राप्ति नहीं होने देंगी ! नहीं, ऐसी शंका मत करिए। ***** आगे का वाक्य समझने से पूर्व साहित्य में बतायी गयी रसनिष्पत्ति के विषय में समझना आवश्यक होगा। कोई भी प्रकार का रस कैसे प्रकट होता है, यह बात भरतमुनि ने "विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभावसंयोगात् रसनिष्पत्तिः" इस वाक्य द्वारा कही है। रस प्रकट होने के मुख्यरूप से तीन अंग हैं - विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव। रस जिसका आश्रय करके प्रकट हो, उसे विभाव कहा जाता है। विभाव का अर्थ होता है - आधार। जैसे यदि श्रृंगाररस प्रकट होना है तो नायक के लिये विभाव या आधार है नायिका एवं नायिका के लिये आधार है नायक। विभाव के दो भेद हैं - आलंबनविभाव और उद्दीपनविभाव। आलंबनविभाव नायक या नायिका हैं, जिस पर आलंबित होकर रस प्रकट होता है। उद्दीपनविभाव वह है, जिसके द्वारा उत्पन्न हुई रति वृद्धि को प्राप्त होती है अर्थात् बढ़ती है। तात्पर्य यह कि रति को बढ़ाने में सहायक सामग्रियाँ उद्दीपनविभाव कही जाती हैं, जैसे चंद्रमा का उदय होना, नदी का किनारा या शीतल पवन ; ये सभी वस्तुएँ श्रृंगाररस का उद्दीपन कराती हैं।

अनुभाव: आलंबनविभावरूपी नायक या नायिका की चेष्टाओं को "अनुभाव" कहते हैं। यदि रौद्ररस के उदाहरण से समझना हो तो परशुरामजी का फरसा चलाना, क्रोध करना, नेत्र लाल करना इत्यादि अनुभाव कहलायेगा।

व्यभिचारिभाव: नायक या नायिका के भीतर रहने वाले वे अस्थायी भाव जो कुछ समय के लिये प्रकट होते हैं फिर लुप्त हो जाते हैं, फिर प्रकट होते हैं- व्यभिचारिभाव कहे जाते हैं । ये भाव सदा बने नहीं रहते अतः इन्हें व्यभिचारिभाव कहते हैं। इन्हीं को संचारीभाव भी कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर प्रेमिका द्वारा ईर्ष्या करनी, रूठना इत्यादि।

ये तीनों प्रकार के भाव जब मिल जाते हैं, तब रस प्रकट होता है। उपर्युक्त व्याख्या को ध्यान में रखकर आगे का वाक्य पढें।***** क्योंकि स्वयं रसरूप प्रभु ही फल हैं और रस तो विभाव-अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव के मिल जाने पर ही प्रकट होता है अतः इस मार्ग में विभावरूप से व्रजभक्त हैं एवं रसरूप स्वयं प्रभु हैं और व्रजगोपिकाओं की ही इच्छा से तो यह पुष्टिमार्ग प्रकट हुआ है अतः न ही गोपिकाओं को ईर्ष्या होनेवाली है और न ही वे प्रतिबंध ही करेंगी।

किञ्च, यत्रैव लौकिको नायकोनेकनायकानामेककालावच्छेदेन रसदानं कर्तुं न शक्नोति तत्रैवेर्ष्यापि सम्भवति। अत्र तु प्रभोरलौकिकत्वात् 'कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः। रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोपि लीलये'त्यत्रैवानन्तरूपत्वेन सर्वेषां रसदानकरणसमर्थत्वात् क्वेर्ष्यावकाशः, यतः सर्वत्रैव सर्वानुभववेद्य एव प्रभुः सर्वदा विराजते।

और ईर्ष्या तो वहाँ होती है, जहाँ कोई लौकिक नायक हो और अनेक नायिकाओं को एक साथ रसदान न कर पाता हो। किंतु प्रभु तो अलौकिक हैं अतः " भगवान आत्माराम हैं। उन्होंने जितनी गोपियाँ थीं उतने रूप धारण किये एवं उनके संग विहार किया(भा० १०-३३-२०)" इस वाक्यानुसार अनेक रूप धारण करके एक ही समय में समस्त गोपिकाओं को रसदान करने में समर्थ हैं अतः कौन सी गोपिका अतृप्त रहने वाली है कि जिसे ईर्ष्या होने की संभावना है, यह बताइए ? क्योंकि प्रभु तो सर्वत्र सभी को एक संग अनुभूत होते हुए बिराजते हैं।

ननु प्रभू रसरूपस्तदन्तर्गताश्च व्रजभक्ता विभावत्वेनास्मदादिप्रपत्तिश्च व्रजभक्तदास्यविशिष्टभगवद्विषयकसर्वात्मभावेन। एवं च भगवद्रूपरसानुभवे सिद्धे तत्समये क्वेतासां दास्यं स्थास्यति। न च तदुत्तरमेतासां दास्यं मास्त्विति शंकनीयम्। 'ये यथा मां

प्रपद्यन्ते' इति मर्यादाभंगापत्तेरिति चेन्न, अलौकिकरसभोगानुकूलसामर्थ्यस्य प्राप्त्या रसरूपभगवद्भोगस्य व्रजभक्तदास्यभोगस्य चैककालावच्छेदेनैव सम्भवेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाया अभंगात्।

अब यहाँ किसी को शंका यह होती है कि, प्रभु तो रसरूप हैं और उनके अंतर्गत विभावरूप से व्रजभक्त भी रसरूप हैं और हम जीव विशिष्टतया व्रजभक्तों के दास बन कर भगवान की सर्वात्मभाव से शरणागति करते हैं। अब मान लीजिए कि भगवन ने हमें अपने रसरूप स्वरूप का अनुभव कराना शुरु कर दिया तो, उस समय भगवद्-रस का भोग करते समय व्रजभक्तों के प्रति हमारा दास्यभाव कैसे टिक पायेगा ? अर्थात् भगवद्-रस का भोग करने का भाव रहेगा तो व्रजभक्तों के प्रति दास्यभाव कैसे रह पायेगा ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, मैं उसे उसी भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" इस वाक्य में कही भगवान की प्रतिज्ञा टूट गयी क्योंकि प्रारंभिक अवस्था में तो व्रजभक्तों के प्रति दास्यभाव रहा और रसदान के समय दास्यभाव न रहकर भोक्ताभाव आ गया। नहीं, आपकी यह शंका अनुचित है क्योंकि जब जीव अलौकिकरस का भोग करने के अनुकूल सामर्थ्य प्राप्त करता है, तब उसके हृदय में भगवद्-रस का भोग करने का भाव एवं व्रजभक्तों के प्रति दास्यभाव ये दोनों भाव एकसंग बने रहते हैं अतः " जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" इस वाक्य में कही भगवान की प्रतिज्ञा भी भंग नहीं हुई।

न 'चाचार्यं मां विजानीयादि'त्यनेनाचार्यस्य भगवत्त्वेन तद्दास्यपूर्वकमेव जीवैर्भगवद्दास्यं क्रियते साधनदशायाम्, फलदशायां तु भगवद्दास्यमेव तिष्ठति, न त्वाचार्यदास्यम्, तत्र क्वेयं मर्यादा, तथात्रापि भविष्यतीति वाच्यम्। सर्वेषां भगवद्रूपाणां नित्यत्वेनाचार्यरूपस्य भगवद्रसानुगुणभगवल्लीलान्तर्गतत्वात् स्वरूपस्य चालौकिकसामर्थ्येन तद्दास्यकरणस्यापि सम्भवात्। एवमेव सर्वभावप्रपत्त्या भजनमिति प्रभुदत्तालौकिकविषयकसामर्थ्येन सर्वविधलीलास्वप्येतस्य भजनकर्तुः सान्निध्यं सिद्धम्। किं बहुनांशावतारादिलीलायामप्यंशेनैव च भक्तोपि तत्तल्लीलानुभवं करोतीति न कस्यामपि लीलायामेतादृशभक्तासहभावो भगवतः।

आप यह शंका भी मत करिए कि भगवान ने तो "आचार्य के रूप में मैं ही हूँ(भा० ११-१७-२७)" यह कहा है अतः आचार्य तो भगवत्स्वरूप होते हैं और साधनदशा में तो जीव को आचार्य का दास्य करना है एवं तत्पश्चात् फलदशा में तो केवल भगवान का ही दास्य रहता है आचार्य का नहीं, फिर भगवान की ऊपर कही प्रतिज्ञा कहाँ निभ पायी ? ऐसी शंका मत करिए क्योंकि भगवान के सभी स्वरूप नित्य हैं अतः जब आचार्य भी भगवद्-स्वरूप हैं तो भगवान का आचार्यस्वरूप भी नित्य हुआ क्योंकि आचार्यस्वरूप भगवद्-रसरूप है एवं भगवल्लीला के ही अंतर्गत आता है इसलिये आचार्यस्वरूप में भी अलौकिकसामर्थ्य होती है अतः आचार्य का दास्य करना भी भगवान का दास्य करना ही माना जायेगा। यही सर्वभावपूर्वक शरणागति लेकर भजन करना है अतः सर्वभावपूर्वक शरणागति लेकर भजन करने से प्रभु द्वारा दी गयी अलौकिक सामर्थ्य द्वारा भगवान की समस्त लीलाओं में भजन करने वाले जीव की सन्निधि बनी रहती है। और क्या कहें ! भगवान यदि अपने अंशावतार से कोई लीला करते हैं तो भक्त भी अंशरूप से भगवान की उन-उन लीलाओं का अनुभव करता है। भगवान की कोई भी लीला भक्त के बिना नहीं हो सकती।

न चैवं श्रीनारायणादिभक्तस्यापि श्रीनारायणे सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् सर्वत्र तत्सहभावप्राप्तौ पुरुषोत्तमसहभावोपि स्यादिति वाच्यम्। 'ये यथा मा'मितिपद्ये मामिति पदेन पुरुषोत्तमत्वेनांगुल्या स्वस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमुक्तत्वादेतस्याः प्रतिज्ञायाः पूर्णपुरुषोत्तममात्रसम्बन्धित्वात्, अन्यथा दण्डकारण्यस्थर्षीणामपि तेनैव स्वरूपेण रसदानं कृतं स्यात् कोसलेन्द्रकुमारेण। किञ्चैतस्याः प्रतिज्ञायाः सर्वभगवत्स्वरूपसम्बन्धित्वे पूर्णत्वांशत्वादिविभागोपि न स्यात्।

अब इसमें आप ये शंका मत करिए कि, ठीक है यदि ऐसा ही है तो फिर श्रीनारायण का भक्त यदि सर्वभावप्रपत्तिपूर्वक श्रीनारायण का भजन करे, तो उसी श्रीनारायणस्वरूप में उसे पुष्टिपुरुषोत्तम भी अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगे अतः विशेषरूप से पुष्टिपुरुषोत्तम का भजन करने की आवश्यकता नहीं है। नहीं, आपका ऐसा सोचना ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान ने "जो मुझे जिस भाव से भजता है, उसे मैं उसी भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" इस वाक्य में स्वयं उँगलीनिर्देश करके अपने आप को पुरुषोत्तमरूप से इंगित किया है अतः भगवान की यह प्रतिज्ञा केवल पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूप की प्राप्ति के विषय में है, दूसरे किसी स्वरूप के विषय में नहीं। यदि ऐसा न होता तो प्रभु दंडकारण्यस्थित ऋषियों को भी श्रीराम के स्वरूप से ही रसदान कर देते, उन्हें विशेषरूप से पुष्टिपुरुषोत्तम का अवतार लेने की क्या आवश्यकता थी, यह समझिए। और यह भी समझिए कि भगवान की "ये यथा" वाली प्रतिज्ञा भगवान के समस्त स्वरूपों से संबंधित मान ली जाय, तो फिर भगवान के पूर्णावतार एवं अंशावतार का विभाग करना ही निरर्थक हो जायेगा।

न चेष्टापत्तिः, तदान्यस्वरूपाणामंशरूपश्रीकृष्णस्वरूपाणामपि श्रीमता व्यासेनोक्तत्वेन चित्ताप्रसादो न स्यादिति सर्वमनवद्यम्। एवञ्चैकभक्तसम्बन्धिन्या अपि लीलाया न परिच्छेदस्तर्हि सर्वभक्तसम्बन्धिन्या लीलायाः परिच्छेदः केन कर्तुं शक्येतेति किं वाङ्मनसागोचरमाहात्म्येषु प्रभुतत्परिकरतद्भक्तेषु विचारचातुर्येण। किञ्च ' त्रैलोक्ये भगवद्भक्ताः के त्वां जानन्ति मर्माणि। केषु वा त्वं सदायत्तः केषु प्रेम तवातुलमि'ति श्रीमदर्जुनेन पृष्टो भगवानुवाच ' न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव। न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम। भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले। किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकप्रियतमो मम। न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप। न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम्। न तपोभिर्न वेदैश्च नाचारैर्न विद्यया। वशोस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिकाः। मन्माहात्म्यं मच्चर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्। जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्माणि। निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते। ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्। मम भक्तास्तु ये पार्थ न मे भक्तास्तु ते मताः। मम भक्तस्य ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता' इत्यादिपुराणप्रघट्टकान्मद्भक्तपूजाभ्यधिकेति श्रीभगवताद्व्रजभक्तानां भक्तशिरोभूषणत्वात् प्रभोरतिप्रियत्वाच्चापि एतासां दास्यं कर्तव्यम्। एवञ्च सति एतद्दास्यकरणे प्रभोरत्यानन्दाविर्भावेन तासामत्यानन्दाविर्भावान्मनसि सन्तोषेण तदनुग्रहात् तत्पूर्वोक्तं फलं भगवान् ददातीत्यपि तद्दास्यकरणम्। तथा चैतासां गुरुत्वात् प्रभोरेतदधीनत्वाद्भक्तशिरोभूषणत्वादतिप्रियत्वाच्च सर्वथैतद्दास्यकरणपूर्वकमेव प्रभुदास्यकरणमिति सिद्धम्।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि पूर्णावतार एवं अंशावतार का विभाग रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि ये विभाग न होता तो श्रीकृष्ण के अन्य अंशावतारों की कथा कहने के पश्चात् भी श्रीव्यासजी के चित्त में अप्रसन्नता क्यों बनी रही ? उन्हें संतोष तो श्रीकृष्ण के पूर्णावतार की कथा कहने पर ही हुआ है अतः मैं जो कह रहा हूँ, वह ठीक ही है। इसलिये समझिए कि, जहाँ भगवान की एक भक्त से संबंधित लीला भी नष्ट नहीं हो सकती, वहाँ उनकी समस्त भक्तों से संबंधित लीला को कौन नष्ट कर सकता है ? अतः वाणी-मन से भी जिन प्रभु एवं उनके परिकर के माहात्म्य को जान पाना संभव नहीं है, उनके विषय में ऐसे तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ ? और, यह भी जान लीजिए कि जब अर्जुन ने भगवान से " इन तीनों लोकों में आपके मर्म को कौन जानता है?" यह पूछा तो प्रत्युत्तर में भगवान के " मुझे ब्रह्मा, रुद्र, लक्ष्मी आदि भी उतने प्रिय नहीं जितनी कि गोपिकाएँ। जिस प्रकार से मुझे गोपिकाएँ जानती हैं, वैसे तो मुनि-योगी,रुद्र आदि देवता भी नहीं जानते। मैं केवल प्रेम से वश में होता हूँ एवं इसका प्रमाण स्वयं गोपिकाएँ हैं।" इस पुराणवाक्य की फक्किका और श्रीभागवत में कहे "भगवान ने कहा -मुझे तुम्हारे जैसे भक्त जितने प्रिय हैं , वैसे तो मेरे पुत्र, ब्रह्मा, आत्मा, शंकर, बलरामजी, लक्ष्मीजी भी नहीं हैं(भा० ११-१४-१५)" इस वाक्यानुसार भी व्रजभक्त ही श्रेष्ठ हैं एवं प्रभु के अतिप्रिय भी होने के कारण इन गोपिकाओं का ही दास्य करना चाहिए। इन गोपिकाओं का दास्य करने पर प्रभु को अति आनंद होगा और प्रभु को अति आनंद होने से गोपिकाओं के मन में भी अति आनंद होगा और अपने मन में संतुष्ट होकर वे जीव पर अनुग्रह करेंगी एवं उनके अनुग्रह से भगवान जीव को फलदान करेंगे ; इसलिये भी गोपिकाओं का दास्य करना आवश्यक है। गोपिकाएँ तो इस मार्ग की गुरु हैं एवं प्रभु गोपिकाओं के अधीन हैं ; गोपिकाएँ श्रेष्ठभक्त हैं एवं प्रभु को अत्यंत प्रिय भी हैं अतः पूर्णरूप से गोपिकाओं का दास्य करते हुए प्रभु का दास्य करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ।

अथ श्रीमत्स्वामिन्यादीनां सर्वासां समतयैव दास्यं कर्तव्यमथवा न्यूनाधिकभावेनेति पृच्छसि चेत्। अत्रोच्यते। 'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभे'ति पद्मपुराणवचनात्। अथ च त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या तत्र वृन्दावनं पुनः। तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा ममे'त्यादिपुराणवचनात्। सर्वश्रेष्ठा गान्धर्व्युवाचे'ति गोपालतापिन्युपनिषच्छ्रुतेश्च गान्धर्व्यपरनामिकायां श्रीस्वामिन्यामेव सर्वापेक्षया भगवतो ममतातिशयात् तत्रैव निजदास्यं मुख्यतया स्थापयित्वाऽन्यासु व्रजसीमन्तिनीषु 'मोहितां दुःखितां सखीमि'त्यादिना सखीत्वोक्तेः सख्याश्च समानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां स्वामिनीसमानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां श्रीमत्स्वामिन्या अतिप्रियतमानां दास्यमपि स्वामिन्यनुग्रहाकांक्षया स्वामिनीदास्यांगत्वेन स्वामिनीवदेव कर्तव्यम्। तासां समानशीलसखीत्वात्तद्दास्यकरणे श्रीस्वामिन्यत्यन्तमनुगृह्णाति। स्वामिन्यनुग्रहे च ता अनुगृह्णन्ति। तदनुग्रहे च व्रजराजकिशोरानुग्रह इति न कदापि कुत्रापि केनाप्यंशेन फलविच्छेदः।

अब कोई यदि ये पूछे कि, स्वामिनी इत्यादि समस्त गोपिकाओं का समान भाव से दास्य करें या फिर किसी का कम और किसी का अधिक ? तो मैं इसका समाधान किये देता हूँ। वैसे तो "यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा" इस पद्मपुराणवाक्य

के अनुसार एवं "त्रिलोक में पृथ्वी धन्य है एवं पृथ्वी पर वृन्दावन धन्य है। वृन्दावन में गोपिकाएँ एवं गोपिकाओं में भी राधा।" एवं "सर्वश्रेष्ठा" इस इस गोपालतापनीय उपनिषदानुसार गांधर्वी के उपनाम से जानी जाती श्रीस्वामिनीजी में भगवान को अन्य गोपिकाओं की अपेक्षा अधिक ममता तो है अतः स्वामिनीजी में ही मुख्यरूप से दास्य स्थापित करना चाहिए। किंतु अन्य व्रजगोपिकाएँ भी "गोपियाँ भगवान को ढूँढ रही थीं और थोड़ी दूर पर उन्होंने देखा कि उनकी सखी प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग से दुःखी होकर अचेत हो गयी है। जब उन्होंने उसे उठाया तो उसने श्रीकृष्ण से मिले प्यार एवं सम्मान के विषय में बताया(श्री०भा० १०-३०-४१)" इस वाक्यानुसार उनकी सखी हैं एवं सखियाँ तो एक जैसे स्वभाव की ही होती हैं अतः वे सभी स्वामिनीजी को अत्यंत प्रिय हैं इसलिये श्रीस्वामिनीजी का दास्य प्राप्त करने की इच्छा रखते हुए अन्य गोपिकाओं का दास्य करना भी श्रीस्वामिनीजी का ही दास्य करने का अंगभूत है अतः स्वामिनीजी की ही भाँति अन्य गोपिकाओं का भी दास्य करना चाहिए। अन्य गोपिकाएँ भी स्वामिनीजी जैसी ही हैं अतः इनका दास्य करने पर श्रीस्वामिनीजी भी जीव पर अत्यंत अनुग्रह करेंगी। और यदि श्रीस्वामिनीजी अनुग्रह करेंगी तो अन्य गोपिकाएँ भी जीव पर अनुग्रह करेंगी और यदि ये अनुग्रह करेंगी तो व्रजराजकिशोर-श्रीकृष्ण को तो अनुग्रह करना ही है। अतः किसी भी ढंग से, कहीं भी, किसी के भी द्वारा फलप्राप्ति में बाधा आने वाली नहीं है।

अत एव कैश्चिद्भगवदीयैः सिद्धान्तितं श्रीमच्चन्द्रावल्यादिषु स्वामिनीप्रतिपक्षात्वमपि न सम्भवति, सखित्वोक्तिविरोधात्। अत एव "यदैव श्रीराधे मिलति रहसि त्वां मधुपतिस्तदैवाकार्याहं निजचरणदास्येतिगदिता। मुदा चन्द्रावल्ये"ति पद्ये अस्मत्प्रभुभिः सखीत्वमेव स्फुटीकृतम् , न तु प्रतिपक्षात्वम्। अत एवास्मत्सर्वस्वायिताः प्रभुचरणाः श्रीमत्स्वामिन्यष्टकतद्द्वादशकषट्पद्यादौ तद्दास्यमेव सविस्तरं प्रार्थयन्तो "यावन्ति पदपद्मानी"त्यादिनाऽन्यासामपि दास्यं प्रार्थितवन्तः। अन्यथा श्रीस्वामिन्या इवान्यासामपि पृथक्तया दास्यं प्रार्थयेयुर्न तु तद्दास्यप्रार्थनाप्रसंगे। सर्वासामपि समप्राधान्यात्। तस्मादन्यासां दास्यमंगत्वेनैवेत्यस्मदुक्त एव पन्थाः।

इसी कारण किसी भगवदीय ने ऐसा सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि श्रीचंद्रावली आदि एवं श्रीस्वामिनीजी में परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि ऐसा करने से उन्हें आपस में सखी कहना विरोधास्पद हो जायेगा। इसी कारण हमारे प्रभुचरणों ने "यदैव श्रीराधे(श्रीस्वामिनीस्तोत्रम्-१)" इस वाक्य में श्रीराधाजी एवं चंद्रावलीजी में परस्पर सखीभाव ही बताया है, विरोधाभास नहीं। और इसीलिये हमारे सर्वस्व श्रीप्रभुचरणों ने श्रीस्वामिनी-अष्टक में विस्तार से श्रीस्वामिनीजी का ही दास्यभाव प्राप्त होने की प्रार्थना करते हुए "यावन्ति पदपद्मानि(श्रीस्वामिनीस्तोत्रम्-११)" इत्यादि पदों में अन्य गोपिकाओं का भी दास्यभाव प्राप्त होने की प्रार्थना की है। यदि प्रभुचरण श्रीस्वामिनीजी एवं अन्य गोपिकाओं को भिन्न-भिन्न मानते होते तो स्वामिनीजी का दास्यभाव प्राप्त करने की प्रार्थना के संग-संग अन्य गोपिकाओं का भी दास्यभाव प्राप्त करने की प्रार्थना एक साथ न करके कहीं और भिन्न भिन्न रूप से करते ! चूँकि सभी गोपिकाएँ एक समान ही हैं अतः मेरे कहे अनुसार श्रीस्वामिनीजी का दास्य करने के अंगरूप में अन्य गोपिकाओं का दास्य करना ठीक ही है।

ननु एवं चेत् सर्वास्वपि सखीत्वं तदा रसान्तर्गतामानखण्डिताकलहान्तरितादिलीला नोपद्येतेति चेत् , अत्र वदामः। हृदयादिस्थिताभरणमणिगणप्रतिबिम्बितदृष्टनिजरूपे प्रतिनायिकाभ्रमात् संकेतस्थलानागमनाद्वा मानोदयात्। एवमेव बन्धविशेषाकस्मिकललाटसंक्रान्तस्वचरणतललाक्षारसे सुरतसमयसमुद्भूतनिजदन्तनखक्षतादिषु च कदाचिदतिविस्मरेण रासस्थनिखिलव्रजभक्तातिरिक्तपरकीयाकृतत्वभ्रान्त्या मानखण्डिताकलहान्तरितादिलीलानां सम्भवात्।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि यदि सभी गोपिकाएँ एक दूसरे की सखी ही हैं तो रसान्तर्गत उनमें एक दूसरे के प्रति मानलीला, खंडितालीला, कलह इत्यादि लीलाएँ होनी तो फिर संभव ही नहीं हैं ? क्योंकि मान इत्यादि लीलाएँ तो तभी संभव हो सकती हैं जब इनमें आपस में एकदूसरे के प्रति ईर्ष्या आदि का भाव हो। तो, अब आप इस शंका का समाधान सुन लीजिए। गोपिकाओं को रास के अंतर्गत मान तो अवश्य होता है परंतु तब होता है, जब वे अपने ही हृदय में धारण किये गये मणि के हार में अपने ही प्रतिबिंब को देखकर उसे भ्रमवश कोई दूसरी नायिका समझ बैठती है और मान कर बैठती है। अथवा तो जब नायिका(गोपिका)प्रभु को संकेत द्वारा मिलन का कोई स्थान इंगित करे और प्रभु वहाँ न पधारें, तब उसे मान होता है। इसी प्रकार कोई गोपिका प्रभु के संग किसी विशेष सुरतबंध में होती है, तब उसके अपने चरण में लगी हुई अपनी ही महावर का रंग प्रभु के मस्तक पर लग जाता है और बाद में वह ये भूल जाती है कि यह रंग तो खुद उसकी अपनी महावर का ही है और उसे भ्रमवश वह किसी और गोपिका के महावर का रंग समझ बैठती है और रूठ जाती है। इसी प्रकार सुरतसमय में खुद उसके द्वारा बनाय

गये दंत-नख के चिन्हों को बाद में देखकर वह अतिविस्मरण के कारण यह समझ बैठती है कि रासस्थल में समस्त व्रजगोपिकाओं के अतिरिक्त ये सभी चिन्ह किसी परकीया के हैं और वह मान, खंडिता एवं कलह इत्यादि कर बैठती है।

न च लाक्षारसदन्तनखक्षतादिषु स्वयूथकृतत्वभ्रान्तिरेव कुतो न जायत इति वाच्यम्। तथा भ्रान्ततायामपि तासु परस्परं दृढतरसखीत्वजनितातिप्रेम्णा ईर्ष्यानुदयेन तथालीलासम्भवात्। किञ्च "योगमायामुपाश्रित" इत्यनेन रसलीलायां योगमायामाश्रितो भगवान्। एवञ्च योगमाया यथा यथा येषां येषां पदार्थानामुपयोगो रसलीलायाम् , तथा तथा करोतीति परकीयासम्भोगादिदर्शनजमानादिरसानुभवार्थं परकीयासम्भोगादि प्रदर्श्य मानादिरसानुभवं कारयतीत्यनेनापि प्रकारेण मानादिलीलानां सम्भवाच्च। यदि चात्यन्तमाग्रहो भवतां यच्चन्द्रावल्यादिसम्भोगदर्शनेन मानादिरेतास्वेव च प्रतिपक्षात्वं तदा तत्सर्वं कल्पान्तरीयांशरूपकृष्णावतारीयरसलीलायामेव, न सारस्वतकल्पीयपूर्णावतारसम्बन्धिरसलीलायामिति बुद्ध्यताम्। यदि सारस्वतकल्पे भगवदुक्तप्रकारः स्यात्तदा श्रीभागवते स्फुटमुपलभ्येत। उपलभ्यते तु सखीत्वमेव परस्परं फलप्रकरण इति सर्वं चतुरस्रमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया।

इसमें आप ऐसी शंका मत करिए कि, उन्हें महावर के रंग एवं दंत-नख आदि चिन्ह उनके अपने यूथ की गोपिकाओं के ही हैं, ऐसी भ्रांति क्यों नहीं होती ? वह इसलिये क्योंकि उनका परस्पर सखीभाव इतना दृढ़ है कि आपस में अतिप्रेम होने के कारण उन्हें एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या होती ही नहीं अतः उसे प्रभु के श्रीअंग पर उसके अपने द्वारा बनाये गये चिन्ह किसी अन्य यूथ की गोपिकाओं के लगते हैं एवं तब इस परिस्थिति में मान-खंडिता इत्यादि लीलाएँ संपन्न होती हैं। और यह भी है कि "भगवान ने योगमाया के सहारे गोपिकाओं के संग रासक्रीड़ा करने का संकल्प लिया(भा० १०-२९-१)" इस वाक्यानुसार भगवान ने रासलीला में योगमाया का सहारा लिया है अतः रासलीला में जैसे-जैसे, जिन-जिन पदार्थों का उपयोग है, वैसा-वैसा कार्य योगमाया कर देती है अतः परकीया से संभोग होता दिखा कर योगमाया उन्हें मान इत्यादि रस का अनुभव करा देती है। सो, इस प्रकार भी रासलीला में परस्पर गोपिकाओं में सखीभाव होने पर भी मान-खंडिता-कलह इत्यादि लीलाएँ संभव हो जाती हैं। और यदि आपको हठपूर्वक यही आग्रह रखना है कि नहीं ! चंद्रावली आदि सखियों के संग प्रभु को प्रेम करते हुए देखकर गोपिकाओं को विरोध होता ही है, तो मैं यह कहूँगा कि फिर ऐसी विरोधाभास या ईर्ष्या वाली लीलाएँ अन्य कल्प की एवं प्रभु के अंशावतार संबंधी लीलाएँ हैं, सारस्वतकल्प की प्रभु के पूर्णावतारसंबंधी नहीं, यह समझ लीजिए। आपने जो ईर्ष्या, कलह आदि की बात कही, वो यदि सारस्वतकल्प के पुष्टिपुरुषोत्तमश्रीकृष्ण की लीलाएँ होतीं तो भागवत में स्पष्टरूप से इसका कहीं तो उल्लेख अवश्य किया गया होता। किंतु फलप्रकरण में तो केवल यही उल्लेख आता है कि उन गोपिकाओं में परस्पर सखीभाव ही था अतः हमारा कहा मार्ग ही ठीक है, सो आप व्यर्थ में शंका-कुशंका क्यों कर रहे हैं ?

अत्रेदं ज्ञेयम्। अत्र फलत्रये फलद्वयमेतद्देहेपि भवति परन्तु मनस्येव रसरूपभगवत्सम्बन्धेन मनसोलौकिकत्वाभावात्। सेवौपयिकदेहरूपतृतीयं फलं त्वेतद्देहपातोत्तर एव भवति सर्वथा। सर्वत्र लौकिकदेहपातोत्तर एवालौकिकदेहसम्बन्धसम्भवादिति दिक्॥ १॥

यहाँ यह जानना चाहिए कि, इस ग्रंथ में कहे तीन फलों में से दो फल(अलौकिक सामर्थ्य एवं सायुज्य) तो इसी देह में भी प्राप्त हो सकते हैं परंतु मन में प्राप्त होते हैं। क्योंकि फलप्राप्त होने पर मन ही रसरूप भगवान से संबंधित हो जाता है अतः मन में फिर लौकिकता नहीं रहती। परंतु, सेवोपयिकदेहरूप तीसराफल तो सर्वथा इस देह का पात होने के पश्चात् ही होता है। लौकिकदेह के पूरी तरह नष्ट हो जाने के पश्चात् ही अलौकिकदेह से संबंध संभव हो सकता है॥ १॥

अथ प्रकृतमनुसरामः। ननु बाधके सति कार्यानुदयाद्बाधकाभावस्य सर्वत्र कारणतेत्यत्र यद्बाधकं तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायाम् , तद् व्यक्तव्यम् , यदभावं सम्पाद्य मानससेवारूपं तत्कार्यं सम्पाद्यतामित्याकांक्षायां तनुजवित्तजरूपसाधनसेवाबाधकमाहुः उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तुबाधकम्॥ २॥

एतस्य विवरणं तु सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्। उद्वेगो वा प्रतिबन्धो वा भोगो वा। त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यन्तम्। तत्र तनुजवित्तजरूपसाधनसेवायां येन क्रियमाणेन उद्वेगप्रतिबन्धभोगा भवन्ति तस्य परित्यागः कर्तव्यः। तत्परित्यागे तत्साध्योद्वेगाद्यनुदयात्तनुजवित्तजरूपसाधनसेवासम्पत्तौ सत्यां मानससेवासिद्धिर्भवतीति भावः। तत्रोद्वेगः शोकदुःखादिजनितो भवति, तेषु शोकादिषु जातेषु "चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजे"दिति नवरत्नोक्तेर्भगवल्लीला

यथा सर्वा तथेयमप्येका भगवल्लीला भगवतः सुखाधायिकेति ज्ञात्वा शोकादित्यागः कर्तव्यो, न तु शोकादिदूरीकरणार्थं यत्नः कर्तव्य इति।

चलिये, अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें। जब तक कोई न कोई बाधक है, तब तक कोई भी कार्य नहीं बन सकता। कार्य सिद्ध करने में मूलकारण तो बाधक दूर हो जाने ही हैं अतः तनुवित्तजारूप साधनसेवा में जो बाधक हों, उनकी चर्चा करनी आवश्यक है ताकि हम उन्हें दूर करके मानसीसेवा सिद्ध कर सकें। इसलिये आचार्यचरण आगे की पंक्ति में तनुजवित्तजरूप साधनसेवा में आने वाले बाधकों के विषय में **उद्वेगः प्रतिबन्धो** वा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस पंक्ति के विषय में आचार्यचरणों ने अपने विवरण में **सेवायां ..... कर्तव्यः** यहाँ तक की पंक्ति में स्पष्टीकरण किया है। इस पंक्ति में आपश्री आज्ञा करते हैं कि तनुजवित्तजरूप साधनसेवा में जिन कारणों/साधनों से उद्वेगप्रतिबन्ध इत्यादि होते हैं, उन कारणों का परित्याग करना चाहिए। जब मूलकारण को ही हटा देंगे, तो इन कारणों से होने वाले उद्वेग आदि बाधक उत्पन्न होंगे ही नहीं एवं तनुजवित्तजरूप साधनसेवा सिद्ध होकर मानसीसेवा की सिद्धि हो जायेगी, यह भाव है। उद्वेग मन में होने वाले शोक-दुःख इत्यादि के कारण होता है अतः शोक होने पर नवरत्न में बताये गये "भगवान चित्त में उद्वेग करवाएँ तो भी उनकी लीला मानकर चिंता न करें(८)" इस वाक्य को ध्यान में रखते हुए यह विचार करना चाहिए कि, जैसे सभी कुछ भगवान की लीला है, इसी प्रकार हमें जो शोक हो रहा है वह भी भगवान की ही लीला है और भगवान को सुख दे रही है - यह जान कर शोक का त्याग करना चाहिए, शोक दूर करने का यत्न-प्रयत्न न करें।

अन्यथा यद्यपि भविष्यति तदेव यत्प्रभुणा विचारितमस्त्यतः तस्य स्वरूपेण विघटनं तु न कर्तुं शक्यम्, तथापि प्रभुसुखाधायकलीलापदार्थविघटनेच्छायामपि स्वामिद्रोहो भवेदतः प्रभ्विच्छां ज्ञात्वा तादृशशोकदुःखादिकेषु त्यक्तेषु सत्सूद्वेगकारणाभावादुद्वेगाभावस्य जायमानत्वादुद्वेगसाधनपरित्यागः कर्तव्यः। यद्वा, बलिष्ठम्लेच्छबलिष्ठवेदबाह्यजनितोपद्रवेणसाधनरूपसेवायामुद्वेगो भवति तदभावार्थं तत्सान्निध्यरूपसाधनपरित्यागः कर्तव्य इत्येतदर्थं साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तम्॥ २॥

चूँकि होगा वही जो प्रभु ने चाहा है अतः यदि हम उन्हें सुख देने वाली लीला को दूर करने का प्रयास करेंगे तो अपने स्वामी से द्रोह करना हो जायेगा अतः प्रभु-इच्छा जानकर शोक-दुःख आदि का त्याग करेंगे, तो उद्वेग होने के ये मूलकारण ही नष्ट हो जायेंगे और उद्वेग होगा ही नहीं। इसीलिये आपश्री उद्वेग के कारणों को दूर करने की बात कह रहे हैं। अथवा, तो आपश्री जो साधन/मूलकारण का परित्याग करने की बात कह रहे हैं, उसका अर्थ यह है कि बलशाली म्लेच्छों के द्वारा या फिर किसी वेदनिंदक के उपद्रव के कारण तनुजवित्तजसेवा में उद्वेग होता है, अतः उसे दूर करने के लिये ऐसे लोगों के सन्निकट रहनेरूपी उद्वेग होने का जो मूलकारण/साधन है, उस साधन का परित्याग करें अर्थात् इनके निकट न रहें, यह अर्थ है॥ २॥

तत्रोद्वेगकारणानामनन्तत्वात्तज्जन्योद्वेगानामप्यनन्तत्वात् परिगणना कर्तुमशक्येति सर्वविधमप्युद्वेगमुद्वेगत्वेनैकविधमेव निरूप्य द्वितीयं प्रतिबन्धरूपं तनुजवित्तजसेवायां बाधकमाहुः अकर्तव्यमिति।

अकर्तव्यं भगवत सर्वथा चेद्गतिर्न हि।
यथा वा तत्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ३॥

एतस्य विवरणं तु प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्च, तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः। भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तदान्यसेवापि व्यर्था। तदासुरोयं जीव इति निर्धारः। तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेक इत्यन्तम्। अत्र भगवतः सर्वथा चेदकर्तव्यं भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति यावत्, तदा गतिः तदभावसम्पादकसाधनं किमपि नास्तीति मूलार्थः। अत्र उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकमित्यनेन पूर्वं सेवायां बाधकत्रयं यदुक्तं तत्तु तत्त्रयाभावसम्पादनार्थमेव। अत एव त्रयाणां साधने त्यक्ते तदभावः सम्पद्यत इति त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति विवृतौ स्फुटीकृतम्।

वैसे उद्वेग होने के कारण तो अनंत हैं इसलिये अनेकों प्रकार के उद्वेग हो सकते हैं, जिनकी परिगणना करनी अशक्य है अतः सभी प्रकार के उद्वेगों को आचार्यचरणों ने केवल एक उद्वेग नाम से यहाँ निरूपित कर दिया है। अब तनुजवित्तजसेवा में दूसरे प्रकार के प्रतिबंध करने वाले बाधक को आपश्री अग्रिमपंक्ति में **अकर्तव्यं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस पंक्ति का विवरण आपश्री ने अपनी टीका में "**प्रतिबन्धोपि .... विवेक**" यहाँ तक की पंक्तियों से किया है। मूलश्लोक की पहली पंक्ति "**भगवतः सर्वथा चेदकर्तव्यं**" का अर्थ है – जब भगवान ही प्रतिबन्ध करना चाहते हैं, तब ही भगवान जीव को फल नहीं देते। तब ऐसी परिस्थिति में जीव की कोई गति नहीं रह जाती अर्थात् उसके पास इस प्रतिबन्ध को दूर करने का कोई भी उपाय नहीं होता। पूर्व के श्लोक में जो उद्वेग-प्रतिबन्ध-भोग ये तीन बाधक आचार्यचरणों ने कहे हैं, वे बाधक दूर करने के उद्देश्य से कहे हैं अतः इन तीनों के मूलकारणों/साधनों का ही परित्याग कर देंगे, तो ये स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे इसलिये आपश्री ने विवरण में इन बाधकों के मूलकारणों को ही मिटा देने की बात कही है।

न च बाधकत्रयत्याग एव कुतो नोक्तः, तत्साधनपरित्यागः किमर्थमुक्त इति वाच्यम्। जाते उद्वेगे जाते च प्रतिबन्धे जाते च भोगे सेवाभावस्तत्समयावच्छेदेन सिद्ध एव जाते तत्त्यागः कर्तुमशक्योप्युत्तरसमये तन्नाशोपि स्वयमेव भविष्यतीति व्यर्थस्तत्परित्यागः कर्तव्य इति पुरुषप्रयत्नोपदेश इति मनसिकृत्य सेवाविषये बाधकत्रयं न यथोत्पद्यत एव तथा कर्तव्यं पुरुषेणेत्येतदर्थं त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तत्वात्। एवं च सति **अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नहीत्यनेन** भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावसम्पादनार्थं गतिर्नास्तीत्युक्तत्वादन्यकृतप्रतिबन्धाभावसम्पादने गतिरस्तीत्यर्थतः सिद्धत्वाद् द्विविधं प्रतिबन्धकमागतमेवेति कण्ठरवेण मूलेनुक्त्वा विवरणे प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकद्वैविध्यमाहुः **प्रतिबन्धोपि द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्चेति**। तत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावः सम्पादयितुमशक्यः, साधारणस्तु शक्य इति विवरणे आहुः **तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्य** इति। तत्र प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकभेदद्वये आद्यः साधारणः प्रतिबन्धो भगवद्विमुखभार्यादिकृतप्रतिबन्धस्तत्र साधनपरित्यागस्योक्तत्वात् तत्साधनरूपो यो भार्यादिः स त्याज्यस्त्यक्तुं शक्यः। तत्त्यागेन प्रतिबन्धाभावरूपबाधकाभावः सम्पादयितुं शक्य इत्यर्थो ज्ञेयः। अत एवोक्तं "भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम्। उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजे"दिति भागवततत्त्वदीपे।

यह प्रश्न करना व्यर्थ है कि आपश्री बाधकों को ही मिटा देने के बजाए बाधक होने के कारणों को मिटा देने की बात क्यों कर रहे हैं ? वह इसलिये क्योंकि जिस समय उद्वेग-प्रतिबन्ध-भोग बाधकरूप से आ ही पड़ते हैं, तब तो सेवा में व्यवधान करा ही देते हैं अतः इनसे जो नुकसान होना था, वह तो हो ही गया ; अब इन्हें दूर करने की बात कहनी तो व्यर्थ है। क्योंकि कुछ समय के तक व्यवधान करने के पश्चात् ये खुद ही नष्ट हो जाते हैं। बुद्धिमानी तो यह है कि जीव को ऐसा उपदेश किया जाय कि जिससे ये भगवत्सेवा करते समय आने ही न पायें और ऐसा तब होगा, जब इनके मूलकारणों को दूर किया जायेगा। इसलिये आपश्री ने ये तीन जिन साधनों/कारणों से होते हैं, उन साधनों/कारणों का परित्याग करने की बात कही है। पहले जो आचार्यचरणों ने कहा था कि,यदि स्वयं भगवान ही प्रतिबन्ध करें तब तो जीव उनका निवारण कर ही नहीं सकता, तो इससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि यदि प्रतिबन्ध भगवान द्वारा किया गया न होकर किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न हुआ हो, तब तो जीव की गति है अर्थात् वह इन प्रतिबन्धों का निवारण कर सकता है। अतः अब प्रतिबन्ध दो प्रकार के हो गये, एक भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध और दूसरा अन्यों द्वारा किया गया प्रतिबन्ध। इस बात को आपश्री ने मूलग्रंथ में तो नहीं कहा परंतु विवरण में सेवा में बाधकरूप दो प्रतिबन्ध **प्रतिबन्धोपि द्विविध** इत्यादि शब्दों से अवश्य कहे। वे दो प्रतिबन्ध हैं – साधारण एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध। इनमें भगवत्कृतप्रतिबन्ध को दूर करना संभव नहीं है किंतु साधारणप्रतिबन्ध दूर किया जा सकता है जिसके लिये आपश्री विवरण में लिखते हैं - पहला अर्थात् साधारणप्रतिबन्ध बुद्धिपूर्वक चतुराई से दूर करना चाहिए। इन दोनों प्रतिबन्धों में से कि जो सेवा में बाधकरूप होते हैं, **आद्य** अर्थात् साधारणप्रतिबन्ध का अर्थ है -भगवान से विमुख पत्नी इत्यादि परिवारजनों द्वारा किया जाने वाला प्रतिबन्ध। इस प्रतिबन्ध को दूर करने का सीधा सा अर्थ है – इस प्रतिबन्ध का मूलकारण पत्नी आदि परिवारजनों का त्याग ; जो संभव है। पत्नी आदि परिवारजनों का त्याग कर देने से सेवा में बाधकों को दूर करना अपने आप ही संभव बन पायेगा, यह अर्थ जानें। इसी कारण आपश्री ने भागवततत्वदीपग्रंथ में " यदि पत्नी-पुत्र आदि भगवद्विमुख हों तो उनका त्याग करें(सर्व० २३१)" यह कहा है।

अथ भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु न केनापि त्यक्तुं शक्य इत्याहुः **भगवत्कृश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति** विवरणे अर्थः स्पष्टः। ननु भगवत्कृतः प्रतिबन्धः कस्य फलाभावसम्पादकः ? किं कायवाङ्मनोभिर्भजनं कुर्वतः पुरुषस्याहोस्विद्भजनेच्छावतो वा ? तत्र नाद्यः। "इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत्सदे"ति भागवततत्त्वदीपकारिकाव्याख्याने "एकापि सकृत्कृता परिचर्या परमपुरुषार्थदेति। परं विद्यमानदेहस्य निःकृत्यर्थं सदा परिचरे"दित्याचार्यैः सिद्धान्तितत्वात् किञ्चित्कालिकभजनोत्तरं यावज्जीवं कयाचिद्भगवदिच्छया भगवत्कृतसेवाप्रतिबन्धेपि परमपुरुषार्थलाभस्य सिद्धत्वादत्र भगवान् फलं न

दास्यतीति निषेधस्य विरुद्धत्वात्। अत एव "न ह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी"ति एकादशस्कन्धीयप्रभुवचनं "यानास्थाये"ति वचनं "सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यतां संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या तद्धरिरर्चित" इति षष्ठस्कन्धीयाष्टाध्यायीयशुकवचनं च।

अब भगवत्कृतप्रतिबन्ध को दूर करना तो किसी के भी बस की बात नहीं है, जो आचार्यचरणों ने विवरण में "जब भगवान प्रतिबन्ध करते हैं, तब वे फल देना नहीं चाहते – यह मानना चाहिए" इस पंक्ति द्वारा स्पष्टरूप से कहा है। ****** ध्यान रखें कि यहाँ से पूरी की पूरी फक्किका में पूर्वपक्ष है अर्थात् शंकाएँ हैं। किसी पूर्वपक्षी की शंका यह है कि आचार्यचरणों ने जो कहा कि, जब भगवान प्रतिबन्ध करते हैं, तब यह समझना चाहिए कि उन्हें फलदान करने की इच्छा नहीं है। पूर्वपक्षी का कहना यह है कि, यह वाक्य खुद आचार्यचरणों के अपने ही वाक्यों से विरुद्ध जाता है। इस फक्किका में शंका एवं प्रश्न विस्तार से किये गये हैं अतः ध्यान से उन शंकाओं को समझें। अध्येताओं की सुविधा के लिये इन शंकाओं का समाधान आरंभ होने से पूर्व फिर से निर्देश किया जायेगा। ****** किंतु एक प्रश्न यह होता है कि भगवत्कृतप्रतिबंध किसे फलदान नहीं करेगा ? क्या काया-वाणी-मन से जो भजन कर रहा है, उसे भगवत्कृतप्रतिबन्ध बाधक नहीं करेगा? या कि फिर भगवद्-भजन करने की ईच्छा रखने वाले को नहीं करेगा ? देखा जाये तो इन दोनों प्रकारों के जीवों को भगवान प्रतिबन्ध करके फलदान न करें , यह संभव ही नहीं है। क्योंकि पहला जो काया-वाणी-मन से भगवद्-भजन कर रहा है, उसे भगवद्-प्रतिबन्ध बाधक नहीं करेगा ; वह इसलिये क्योंकि "इति निश्चित्य मनसा" इस भागवततत्वदीप की कारिका के व्याख्यान में "एकापि सकृत्कृता परिचर्या" इस वाक्य द्वारा आचार्यचरणों ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि, ऐसा जीव कुछ समय के लिये भगवद्भजन करे एवं उसके पश्चात् किसी भगवद्-इच्छा से भले ही जीवनपर्यंत उसे सेवा में स्वयं भगवान प्रतिबंध करें, तो भी उसे परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होगी। इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि भगवान प्रतिबंध करके उसे फल न देने की इच्छा रख रहे हैं। क्योंकि स्वयं प्रभु ने एकादशस्कंध में "मेरे धर्म का एकबार आरंभ कर देने के पश्चात् फिर उसमें रत्ती भर भी विघ्न नहीं आता(भा० ११-२९-२०)", इस प्रकार से एवं शुकदेवजी ने छठे स्कंध के आठवें अध्याय में "जो मनुष्य एक बार भी भगवान नारायण की आराधना कर लेता है, वह उनकी समानता प्राप्त कर लेता है(भा० ६-१८-६६)" ,यह एवं "हे राजन् ! इन भागवतधर्मों का अवलम्बन करने से मनुष्य कभी विघ्नों से पीड़ित नहीं होता एवं नेत्र बंद करके दौड़ने पर भी न गिरता और न ही फिसलता है(भा ११-२-३५)" यह कहा है।

न द्वितीयः, विना भगवत्कृपां भजनेच्छानुदयात् , तदुदये च भजनस्य भविष्यत्वनिश्चयेनापि निषेधस्य वैयर्थ्यापातात्। तथाचायं निषेधो भगवत्कृतप्रतिबन्धे कालविलम्बेन फलदानेच्छामेव व्यनक्ति, न तु तददानेच्छामिति भावः। अन्यथा भजनेच्छानुकूलकृपावैयर्थ्यं प्रसजेतेति।

और, यह भी नहीं कहा जा सकता कि भगवान भजन करने की इच्छा रखनेवाले को भी प्रतिबंध करेंगे एवं फलदान नहीं करेंगे क्योंकि जब तक खुद भगवान की ही कृपा नहीं होगी, तब तक उस जीव में भगवद्-भजन करने की इच्छा जाग्रत ही नहीं होगी। अतः यदि स्वयं भगवान की ही इच्छा से उसमें भगवद्-भजन करने की इच्छा जागी है, तो उसे निश्चितरूप से भजन सिद्ध होगा ही। अतः ये कितना विचित्र और बेतुका लगता है कि पहले तो स्वयं भगवान उसमें भगवद्-भजन करने की इच्छा जाग्रत करें और फिर खुद ही प्रतिबंध करके फलदान न करें ! इसलिये उपर्युक्त समस्त बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहना अधिक ठीक रहेगा कि, भगवान द्वारा प्रतिबंध करने का अर्थ यह मानना चाहिए कि वे उसे विलंब से फलदान करना चाह रहे हैं, यह नहीं है कि वे सर्वथा फलदान करना चाहते ही नहीं। क्योंकि यदि वे सर्वथा फलदान करना चाहते ही न होते, तो उस जीव में भगवद्-भजन की इच्छा जाग्रत ही क्यों करते ?

न च विनैवानुग्रहं भजनेच्छोदय इति वाच्यम्। अवतारदशायां स्वरूपदर्शनेनैवेच्छोदयसम्भवेप्यनवतारदशायां सत्संगश्रीभागवतादिश्रवणं विना शुद्धपुष्टिभजनेच्छोदयस्यादृष्टत्वादश्रुतत्वाच्च। यदि पुनर्विनादर्शनश्रवणादिकमपि शुद्धपुष्टिमार्गीयभजनेच्छोदयः स्यात् तदा पुरुषोत्तमावतारोपि न स्यात्। अत ए'वानुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रित'इत्युपक्रम्य "विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोनुश्रृणुयादथ वर्णयेद्य" इत्यत्र य इतिपदेन यस्यकस्यापि श्रवणवर्णनाभ्यां भक्तिं परामित्यनेन भक्तिलाभ उक्तः, स त्विच्छोत्पादनपूर्वक एव। तस्माद् व्यर्थं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणमिति चेत् ,

और, यह भी है कि भगवद्-कृपा या भगवान की इच्छा के बिना उसमें भगवद्-भजन करने की इच्छा जाग्रत हो ही नहीं सकती क्योंकि भगवान के अवतारकाल में तो चलो उनके दर्शन मात्र से जीव में भजन करने की इच्छा जाग्रत हो जाती थी परंतु

अनवतारदशा में सत्संग, श्रीभागवत का श्रवण करे बिना ही किसी में शुद्धपुष्टिभजन करने की इच्छा जाग्रत हो गयी हो, ऐसा कभी देखा या सुना गया नहीं है। यदि भगवान के दर्शन-श्रवण-सत्संग इत्यादि के बिना ही शुद्धपुष्टिमार्गीय भजन करके की इच्छा जाग्रत हो जाती हो, तो प्रभु ने व्यर्थ में पुष्टिपुरुषोत्तम का अवतार ही क्यों लिया, जो अवतार उन्होंने कृपा करने के लिये ही लिया था। इसी कारण तो "भगवान जीवों पर कृपा करने के लिये ही अपने आप को मनुष्यरूप में प्रकट करते हैं (भा० १०-३३-३७)" इस पंक्ति से लेकर "जो मनुष्य भगवान के रास-विलास का चिंतन करता है, उसे भगवच्चरणारविंदों की प्राप्ति होती है एवं कामविकार से छुटकारा मिल जाता है(भा० १०-३३-४०)" यहाँ तक के पद द्वारा हर एक साधारण व्यक्ति को भी श्रवण-सत्संग करने के द्वारा परमभक्ति प्राप्त होनी कही गयी है, जो भगवद्-इच्छा से ही जीव को प्राप्त होती है। इसलिये उपर्युक्त इन सभी कारणों से किसी पूर्वपक्षी को शंका यह होती है कि, कृपा करने वाले खुद भगवान ही किसी में पहले तो भक्ति जाग्रत करें और फिर बाद में खुद ही प्रतिबंध करके उसे फलदान न करें, यह बात युक्तिसंगत नहीं लगती।

अत्र वदामः। पुत्रादिजन्माद्युत्तरं केनापि प्रतिबन्धेनाकृतपुत्रादिनिवेदनस्य कस्यचिन्महत्तमस्य पुरुषस्य तदनन्तरमतिकृपया पुत्रादिस्नेहेन वा कदाचित् तदनिवेदनस्मरणे मनसि स्यान्मम पुत्रादिः शुद्धपुष्टिभजनेन भगवन्तं प्राप्नोत्विति मयास्मै नामनिवेदने दत्वा भगवत्सेवा कारणीया तदा त्वं सेवां कुरु मत्तो नामनिवेदने गृहीत्वेति कथने यदि तस्य हृद्यल्पोप्युत्साहो न दृश्यते कदापि प्रत्युत द्वेषः तदोन्नेयमिदम् , यदस्य भगवत्कृतः प्रतिबन्धोस्ति भगवान् फलं न दास्यतीत्यस्मै नोपदेष्टव्यं किमपीति ज्ञापनार्थत्वेन भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणस्य सार्थकत्वात्।

उत्तरपक्ष :- अब आप उपर्युक्त शंकाओं का समाधान सुनिए। भगवत्कृतप्रतिबंध किस पर और कैसे होता है, यह सुनिए। मान लीजिए कि किसी महापुरुष के यहाँ पुत्रजन्म हुआ और किसी भी प्रतिबंध के कारण उस पुत्र का भगवद्-निवेदन न हो सका। अब मान लो कि कालांतर में किसी महापुरुष की कृपा द्वारा अथवा तो उसे अपने पुत्र के प्रति स्नेह के कारण मन में यह विचार आये कि, मेरा पुत्र या परिवार का अन्य सदस्य शुद्धपुष्टिमार्गीय पद्धति से भगवान को प्राप्त करे इसके लिये मुझे इसे नामनिवेदन देकर इससे भगवत्सेवा करवानी चाहिए। यह सब होने के पश्चात् वह यदि पुत्र से कहे कि - तुम मुझसे नामनिवेदन लेकर भगवत्सेवा करो और यदि पुत्र के मन में तब भी भगवत्सेवा के प्रति कोई उत्साह दिखाई न देता हो और उल्टे द्वेष ही दिखाई देता हो, तो फिर यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि, इसे भगवान द्वारा किया गया प्रतिबन्ध हो रहा है और भगवान इसे फल देना नहीं चाहते अतः अब मुझे इसे किसी भी प्रकार का उपदेश नहीं देना चाहिए। ये सभी बातें बताने के लिये आचार्यचरणों का "यदि भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होता हो" इत्यादि वाक्यों का निरूपण करना आवश्यक एवं युक्तिसंगत सिद्ध होता है।

ननु तदा शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णस्वरूपसेवाफलं मा भवत्वस्यांशस्वरूपसेवाफलं तु भविष्यतीत्यंशसेवोपदेश एव कर्तव्यस्तेनेति चेदित्याशंक्याहुः तदान्यसेवापि व्यर्थेति। अंशांशिनोरभेदादंशस्यांश्यधीनत्वाच्चांशिकृतप्रतिबन्धेंशस्य फलदानासमर्थत्वान्महाराजे प्रतिबन्धे सचिवादेरिवेत्यर्थः। नन्वंशिनो न स्वस्वरूपपरमफलदानेच्छा किन्तु स्वल्पफलदानेच्छांशद्वारा तदांशेन फलदानं कर्तव्यमेव, महाराजस्य महाफलदानेच्छाभावेपि सचिवादिद्वारा स्वल्पफलदानेच्छायां सचिवादिनेवेति चेत् , सत्यम् , यत्रांश्यविरोधेनांशभजनं तत्रैवांशेन फलदानं महाराजाविरोधेन सचिवादिभजने सचिवादिनेव, न तु तद्विरोधेन भजने। तथा चैतस्य भगवत्सेवाकर्तव्यत्वकथनेपि कदाप्युत्साहाभावात् प्रत्युत द्वेषोद्भवान्नांशेनापि फलदानमित्यन्यसेवावैयर्थ्यात् सापि नोपदेष्टव्येति सुष्ठूक्तं तदान्यसेवापि व्यर्थेति।

ठीक है, परंतु यदि कोई ये कहे कि - चलो भगवान उसे प्रतिबन्ध करें एवं भले ही उसे शुद्धपुष्टिपुरुषोत्तम की सेवा का फल न मिले, किंतु अंशरूप की सेवा का फल तो मिलेगा ही न ? अतः ठीक तो यह रहता कि आचार्यचरण उस जीव को यह उपदेश करते कि तुम अंशस्वरूप की सेवा कर लो, आपश्री को यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि, उसे किसी भी प्रकार से फल प्राप्त होगा ही नहीं ? यदि आपको ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण **तदान्यसेवापि व्यर्था** इत्यादि पंक्तियों से समाधान कर रहे हैं। सर्वप्रथम तो यह समझ लीजिए कि अंश एवं अंशीस्वरूप में कोई भेद नहीं है। अंशस्वरूप ठीक वैसे ही अंशीस्वरूप के अधीन है, जैसे कोई मंत्री राजा के अधीन होता है अतः जहाँ स्वयं राजा ने ही किसी को प्रतिबंधित कर रखा हो, तो बेचारा मंत्री फिर क्या कर सकता है ? अब आप ये पूर्वपक्ष करेंगे कि, चलो अंशी को अपने स्वरूप के परमफल का दान करने की इच्छा न हो और अल्पफल देने की इच्छा हो, तो वह अल्पफल का दान भी तो अपने अंशस्वरूप से ही करेगा न ? फिर मैं ये क्यों कह रहा हूँ कि अंशस्वरूप फलदान नहीं कर सकता क्योंकि जिस प्रकार भले ही महाराज को किसी को महाफलदान करने की इच्छा न हो किंतु उसके मंत्री

को अल्पफलदान करने की इच्छा हो जाय तो मंत्री तो उसे अल्पफल दे ही देता है न ? अतः इस दृष्टि से अंशीश्रीकृष्ण भले ही परमफल न दें किंतु अंशावतार कम से कम अल्पफल तो दे ही देंगे। आपकी बात ठीक है परंतु जहाँ अंशीस्वरूप पुष्टिपुरुषोत्तमश्रीकृष्ण से विरुद्ध न जाते हुए भगवद्-सेवा या भजन किया जाय, उसी में श्रीकृष्ण के अंशावतार फलदान करते हैं ; ठीक वैसे जैसे कि कोई बात महाराजा से विरुद्ध न जाती होने पर ही मंत्री से आग्रह किया जाय तो बात बन सकती है। यदि आपकी बात महाराजा से ही विरुद्ध जा रही हो, तो मंत्री आपका काम करेगा ही नहीं। बिल्कुल इसी प्रकार उस पुत्र को भगवद्-सेवा के लिये आग्रह करने पर भी यदि उसमें कोई उत्साह नहीं दिखाई देता और उल्टे भगवान के प्रति द्वेष दिखाई देता हो तो, समझ लीजिए कि अंशस्वरूप द्वारा भी उसे फलदान प्राप्त नहीं होगा अतः पुष्टिप्रभु के अतिरिक्त अन्य स्वरूपों की सेवा करनी उसके लिये व्यर्थ सिद्ध होगी, सो अन्य स्वरूपों की सेवा करने के लिये उसे कहना बेकार है। अतः आचार्यचरणों ने जो **तदान्यसेवापि व्यर्था** कहा, वह ठीक ही है।

किञ्च, तदैतादृशस्य यत्स्वरूपं तस्य निर्धारोपि भवतीत्याहुः तदा आसुरोयं जीव इति निर्धार इति। आसुर आसुरावेशी आसुरभाववान् वा सहजासुरो वेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः। अत्र कदाचिद्भक्तसन्निधौ यस्य मनसि भगवति सद्भाव उत्पद्यते द्वितीयक्षणे तदसन्निधौ तु नश्यति स आसुरावेशी आसुरभाववान् वा ज्ञेयः। यस्य तु सत्संगेपि भगवति न सद्भावः कदापि, स तु सहजासुर इति ज्ञेयः।

और ऐसे जीव का स्वरूप क्या होता है, यह भी निर्धारित हो जाता है, जिसके लिये आचार्यचरण "**तदा आसुरोयं जीव इति निर्धारः**" इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ऐसा जीव आसुर होता है, इसका तात्पर्य यह है कि या तो वह आसुरावेशी होता है, या आसुरभाव वाला होता है, या फिर सहज आसुर होता है - यह अर्थ है। इन तीन प्रकार के आसुरीजीवों की परिभाषा यह है कि, जिसे किसी भक्त के संग रहने से मन में भगवान के प्रति सद्-भाव उत्पन्न तो होता है परंतु तत्पश्चात् जब भक्त का संग नहीं रहता और भगवद्-भाव नष्ट हो जाय, तो ऐसे व्यक्ति को आसुरावेशी या आसुरभाव वाला समझना चाहिए। और जिसे सत्संग मिलता रहने पर भी भगवान के प्रति कभी भी सद्भाव उत्पन्न नहीं होता, उसे सहज-आसुरी समझना चाहिए।

ननु तर्हि महत्तमकृपावैयर्थ्यप्रसंग इत्याशंक्याहुः यथा वा तत्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतमिति। वा अथवा यथा आसुरस्य तत्त्वनिर्धार उक्तस्तथा विवेको विचारो ज्ञानमिति यावत्। तत्साधनमासुरस्य शोकाभावरूपफलाय मतं सम्मतमित्यर्थः। अत्रैवं ज्ञेयम्। "मायेत्यसुरा" इति श्रुतेरसुराणां माया सेव्या, सैवेश्वरः, तत्कृतत्वाज्जगन्मायिकम् , तेषां मुक्तिश्चा"न्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासत" इति श्रुतेर्दैवेष्वनाविष्टानां सहजासुराणां कामनाभावपूर्वकं सम्भूत्युपासकानां तदुपासनारूपसाधनबलेनासुरज्ञानमार्गप्रवेशे सति शोकाभावरूपावान्तरफले जाते सुखदुःखात्यन्ताभावस्वरूपपुनरावृत्तिरहितप्रकृतिलयरूपान्धन्तमःप्रवेशरूपा मुक्तिः। आसुराविष्टानां दैवजीवानां तु निरुपधिकृपया भगवता हतानां मध्ये दैवस्य दैवज्ञानाभावात् स्वरूपबलेनाक्षरब्रह्मणि लयरूपा मुक्तिः, तदाविष्टासुरस्य त्वासुरज्ञानाभावात् स्वरूपबलेनैवापुनरावृत्तिरहितान्धन्तमःप्रवेशापरपर्यायप्रकृतिलयरूपा मुक्तिः। अन्येषां सकामानां सहजासुराणामासुराविष्टदैवजीवानां च "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोबुधा जनाः", "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीष्वेव योनिष्वि"ति श्रुतिभगवद्वाक्याभ्यामन्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकरूपनरकप्राप्तिस्तद्भोगानन्तरं पुनरासुरयोनिप्राप्तिरेवेति कृतं [1]पल्लवितेन।

किंतु प्रश्न यह होता है कि यदि ऐसा मान लेंगे तो हमारे संप्रदाय को जो कृपामार्ग कहा जाता है अर्थात् "महद्-जनों की कृपा से भगवत्प्राप्ति होती है" यह कहा जाता है, वह निरर्थक सिद्ध हो जायेगी ! तो इसका समाधान आचार्यचरण "**यथा वा तत्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतं**" इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि महद्-जनों की कृपा व्यर्थ नहीं जाती अपितु उनकी कृपा से उन्हें अपने आसुरीतत्व का निर्धारण हो जाता है, जिस निर्धारण के विषय में जीव को विवेक हो जाना ही उसके लिये फलदान प्राप्त न होने की स्थिति में उसके लिये राहत का साधन बनता है। यह साधन आसुरीजीव के लिये शोक को दूर करने के लिये माना गया है। यहाँ यह समझिए कि"मायेत्यसुरा(मंडलब्राह्मण)" इस श्रुति में कहा गया है कि असुर माया को मानते हैं, माया को ही ईश्वर मानते हैं। माया द्वारा ही उत्पन्न हुआ होने से जगत् मायिक है। इन असुरों की मुक्ति तो "जो मनुष्य विनाशशील देव,पितर,मनुष्य आदि की उपासना करते हैं , वे अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं(ईशा०-१२)" इस श्रुति के अनुसार दैवीजीवों की श्रेणी में न आने वाले सहज आसुरीजीव कामनापूर्ति के लिये माया की उपासना करते हैं ; उस उपासनारूपी साधन

---

[1] आवेशजीवास्ते सर्वे दैत्यानां वपुषि स्थिताः, आवेशेन विना ये च मूलदैत्या इति स्मृताः, तेषां तमश्च सम्प्रोक्तं चान्ये देवांशिनस्तथा, तेषां स्थानं च स्वर्गादि तत्तत्पदमवाप्नुयुरितिपद्मपुराणोत्तरखण्डीयवाक्येभ्य आसुरावेशिनां मुक्तेरासुराणामन्धन्तमोरूपनरकप्राप्तेरुक्तत्वात्।

के बलबूते पर उनका आसुरज्ञानमार्ग में प्रवेश होता है एवं इससे उनका शोक दूर होता है, सुखदुख समाप्त हो जाते हैं एवं वारंवार जन्ममरण से छूटकर उनका प्रकृति में लय हो जाता है, जिसे अन्धन्तमप्रवेशरूपा मुक्ति कहते हैं। और ऐसे दैवीजीव जिनमें असुरता का आवेश मात्र है और जिनका भगवान के द्वारा वध हो जाता है, इनमें से भगवत्कृपा से कुछ को प्रभु अपने स्वरूपबल से अक्षरब्रह्म में मुक्ति दे देते हैं, क्योंकि हैं तो वे दैवीजीव परंतु उन्हें अपने दैवीजीव होने का भान नहीं है। किंतु आसुरावेशी जीवों को भगवान अपने स्वरूपबल से ही अन्धंतमप्रवेशरूपा मुक्ति दे देते हैं, जिसे प्रकृति में लय हो जाना कहते हैं जहाँ से वे वापस नहीं आते। इनके अतिरिक्त अन्य सकाम(कामना रखने वाले)सहज आसुरी एवं आसुरावेशी दैवीजीवों को भगवान "असुरों की प्रसिद्ध नाना प्रकार की योनियाँ एवं नरकरूपलोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा दुःखक्लेशरूप महान अन्धकार से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हों, वे मर कर उन्हीं भयंकर लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं(ईशा०-३)" , "मुझसे द्वेष करने वाले नराधमों को मैं संसार में गिरा देता हूँ(भ०गी० १६-१९)" इत्यादि श्रुति एवं भगवद्वाक्यानुसार अन्धंतम और केवल दुःखात्मक लोकरूपी नरक की प्राप्ति होती है एवं नरक भोगने के पश्चात् वे फिर से आसुरीयोनि को ही प्राप्त होते हैं।

एवं च सर्वं मायिकमेकोस्मदाद्यात्मा स एव परमार्थो मायैवेश्वरो नान्य ईश्वरः कोप्येवं तत्त्वनिर्धाररूपो विवेकः सोस्य साधनं मतं सम्मतं यावज्जीवं शोकाद्यभावाय, तदनन्तरं तादृशमुक्तये वेतिशेषः। तथा च तादृशपुत्रभार्यादेः संसाराविष्टत्वान्महत्तमकृपया तेषां संसाराभावेन शोकाद्यभावपूर्वकतादृशमुक्तिनिमित्तमासुरज्ञानमार्गमुपदिशेदिति भावः। अत एव श्रीमद्वसुदेवैरासुरज्ञानमार्ग एव कंसस्य श्रीमद्देवकीवधोद्यतस्योपदिष्टो न तु दैव इति ज्ञेयम्। इदमेवाहुर्विवरणे तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेक इति। तदा तेष्वासुरावेश्यासुरभाववत्सहजासुरजीवत्वनिर्धारे सत्येतैरासुरज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्ययं विवेको विचारः सिद्धान्तभूत इत्यर्थः। तथा च तान् प्रत्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति भावः।

तो उपर्युक्त प्रकार से ऐसे आसुरीजीव को उसका शोक दूर करने के लिये- "यह समस्त जगत् मायिक है", "हम सभी की आत्मा ही परमार्थ है, माया ही ईश्वर है, माया के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा ईश्वर नहीं है"- इस प्रकार के तत्व का निर्धारण करनेवाला विवेक ही उसके लिये साधन माना गया है कि जिससे उसका शोक दूर हो जाय ; अथवा तो उसे शोक दूर होने के पश्चात् ऊपर कही आसुरीमुक्ति मिल जाय। इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि अपने पत्नी-पुत्र इत्यादि इसे आसुरी हों तो उनके संसाराविष्ट होने के कारण जब महापुरुषों की कृपा होगी, तब उनका संसार मिटेगा परंतु अभी उनके शोक को दूर करने के लिये एवं उन्हें आसुरीजीवों वाली मुक्ति दिलाने के लिये आसुरज्ञानमार्ग का उपदेश करना चाहिए। आसुरज्ञानमार्ग का उपदेश देने का अर्थ वह उपदेश है, जैसा उपदेश वसुदेवजीने कंस को दिया था जब कंस देवकी का वध करने पर उतारु था। वसुदेवजीने ऐसे आसुरीकंस को दैवीजीव का उपदेश न देकर आसुरीज्ञानमार्ग का उपदेश देकर देवकी को बचा लिया ; इस प्रकार का आसुरीज्ञानमार्ग का उपदेश करना चाहिए। इसी आसुरीज्ञानमार्ग के लिये ही आचार्यचरणों ने विवरण में **तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेकः** इत्यादि शब्दों से कहा है। तदा इत्यादि शब्दों का अर्थ है - जीव को अपने आप में आसुरावेश, आसुरभाव या सहज असुरता में से किसी एक का भी निर्धार हो जाय, तब उसे आसुरीज्ञानमार्ग पर रहना चाहिए। इनका आसुरज्ञानमार्ग पर चलने का विचार ही इनके लिये विवेक है- यह सिद्धांत है। और ऐसे आसुरीजीवों को आसुरज्ञानमार्ग पर ही चलने की सलाह देनी चाहिए, यह भाव है।

यद्वा पूर्वमासुरोयं जीव इति निर्धार इत्युक्तं तर्हि तेन किं साधनमनुष्ठेयमित्याकांक्षायां तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमित्यासुरस्यैव साधनमुपदिशन्ति तदा ज्ञानेत्यादिना।

एवं च ज्ञानमार्गपदेनासुरज्ञानमार्ग एवायातीति तथा व्याख्यातमिति ज्ञेयम्। न ह्यासुरस्य सर्वं ब्रह्मेत्यक्षरज्ञानमार्गे पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे वाधिकारः, तस्य तामसत्वात्। अत एवेश्वरत्वेनाभिमततामसमायाशक्त्युपासकास्तेषु सत्त्वाभावात् सत्त्वजनितज्ञानाभावे"नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था" इत्युक्ता नोर्ध्वगतिः;किन्तु तामसशक्त्युपासनाजनितज्ञानस्य तमोगुणजनितत्वेन तामसत्वा"दधो गच्छन्ति तामसा" इत्यधोगतिरूपनिरयान्धन्तमोरूपप्रकृतिलयान्यतरप्रवेश एव, "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति वाक्यात्।

अथवा तो दूसरे प्रकार से अर्थ करें। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, यदि जीव को आसुरी निर्धारित कर दिया गया तो ऐसे आसुरीजीवों के लिये आसुरीज्ञानमार्ग पर चलना ही साधन है। अर्थात् ऐसे आसुरीजीव का "सर्वं ब्रह्म" वाले अक्षरब्रह्मज्ञान मार्ग में या पुरुषोत्तमज्ञानमार्ग में अधिकार नहीं है क्योंकि वे तामसी होते हैं। कारण कि वे तामस मायाशक्ति की ईश्वर के रूप में

उपासना करते हैं। उनमें सत्वगुण नहीं होता अतः सत्वगुण से प्राप्त होने वाले ज्ञान के अभाव में उनकी "सत्त्वगुणी पुरुष तो उच्चस्थानों को जाते हैं और तमोगुणी नीचे गिरते हैं(भ०गी १४-१८)" इस वाक्यानुसार उर्ध्वगति तो होती नहीं परंतु कारण कि वे तामसशक्ति के उपासक होते हैं अतः उस उपासना से पैदा होने वाला ज्ञान भी तामस होता है और इस कारण वे तामसी होते हैं एवं "तामसी नीचे गिरते हैं(भ०गी० १४-१८)" इस वाक्यानुसार उनकी अधोगति होती है। अधोगति का अर्थ है - उनका अन्धंतम नरक की प्राप्तिरूप प्रकृति में लय ही होता है। क्योंकि "जो मुझे जिस प्रकार से शरणागत होता है, उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ(भ०गी ४-११)" भगवान के इस प्रतिज्ञावाक्यानुसार वे जैसा भजन करेंगे, फल भी उन्हें उसी प्रकार का मिलेगा।

अत्र अधःपदेनाधममेव विवक्षितम्, न तु नीचस्थानम्, निरयाणां नीचस्थानत्वेपि अन्धन्तमःप्रवेशरूपासुरमुक्तेः सुखदुःखाभावरूपत्वेन नीचस्थानत्वाभावात्, सर्वं ब्रह्मेत्यक्षरब्रह्मज्ञानमार्गे तु "दैवी सम्पद्विमोक्षाये"ति वाक्याद्दैवसम्पद्युक्तजीवानामेवाधिकारः। अत एव "जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षायाधिष्ठित" इतिमोक्षधर्मीयनारायणीयवाक्यान्मोक्षाधिकारिणां सात्विकत्वेन "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान"मित्युक्तसत्त्वगुणजनितज्ञाने"नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था" इति वाक्योक्तोर्ध्वगमनरूपा स्वर्गमुत्तयनन्तरप्राप्तिर्भवतीति। अत्रोर्ध्वपदस्योत्तममित्यर्थो न तूच्चस्थानम्, स्वर्गलोकस्योर्ध्वलोकत्वेपि "यन्न दुःखेन सम्भिन्न"मित्यादिवाक्योक्तस्वर्गसुखस्य मुक्तेश्चोर्ध्वलोकत्वाभावात्। तस्मादूर्ध्वपदेनोत्तमत्वमेव विवक्षितमिति ज्ञेयमिति दिक्॥३॥

एक बात यह ध्यान रखें कि अधोगति होने का तात्पर्य यहाँ किसी अधमगति को प्राप्त होना ही है, यह तात्पर्य नहीं है कि उसे नीचस्थान-नरक की प्राप्ति होगी। नरक आदि भले ही नीचस्थान गिने जाते हों, तथापि अधोगति होने का तात्पर्य यहाँ नरक में गिर पड़ना नहीं है क्योंकि अन्धंतमप्रवेशरूपा मुक्ति का जो प्रकार है, उस प्रकार की मुक्ति में दुःखसुख दोनों समाप्त हो जाते हैं अतः इस मुक्ति को सुखदुःखाभावरूपा मुक्ति कहते हैं। मायावादियों की इस प्रकार की मुक्ति में समाधि की अवस्था में केवल आत्मा ही रहती है, जीव को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं रहती। हालांकि हमारे मार्ग में ऐसी मुक्ति को मान्य नहीं किया गया है फिर भी ऐसी मुक्ति को नरक जैसे किसी नीचस्थान में गिर पड़ने वाली मुक्ति नहीं कही कहा जा सकता। इसलिये अधोगति का अर्थ यहाँ हमारे मार्ग की तुलना में निचली प्रकार की मुक्ति प्राप्त होनी है, नरक में गिर पड़ना नहीं। ठीक इसी प्रकार उर्ध्वगति प्राप्त होने का अर्थ स्वर्ग की प्राप्ति होनी भी नहीं है। इसमें पहले तो ये समझिए कि "सर्वं ब्रह्म" वाले अक्षरब्रह्मज्ञानमार्ग में तो "दैवी जीव मोक्ष दिलाने के लिये बनाये गये हैं(भ०गी० १६-५)" इस वाक्य के अनुसार दैवीजीवों का ही अधिकार है। इसी कारण " जिस पुरुष पर मधुसूदन ने दृष्टि डाल दी, समझ लो कि वह सात्विक है एवं मोक्ष का अधिकारी है " इस वाक्यानुसार मोक्ष के अधिकारी सात्विक होते हैं और "सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है(भ०गी० १४-१७)" इस वाक्यानुसार सात्विकों में रहने वाले सत्वगुण के ज्ञान के कारण वे "सत्त्वगुणी पुरुष उच्च लोकों को जाते हैं(भ०गी० १४-१८)" इस गीतावाक्य के अनुसार सात्विक को स्वर्गरूपी उर्ध्वगमनरूपा मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हें स्वर्ग मिल जाता है क्योंकि इस गीतावाक्य में कहे ऊर्ध्वगमन शब्द का तात्पर्य स्वर्गलोक नहीं है। भले ही स्वर्गलोक ऊपर की ओर है परन्तु आचार्यचरणों ने निबंध में "जो दुःखसहित न हो,और जिस सुख को काल ग्रस न सके ऐसा सुख स्वर्ग पद का अर्थ है(सर्व०-५) " इस वाक्य में स्वर्ग शब्द का अर्थ किसी लोक के रूप में नहीं किया है अतः यहाँ ऊर्ध्व शब्द का अर्थ स्वर्गलोक न होकर उच्च प्रकार की मुक्ति है, यह समझ लीजिए॥ ३॥

तथा च यस्माद्बाधकेषु सत्सु न सेवासिद्धिरतस्तत्र यत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्याहुः **बाधकानां परित्याग इति**। एवं द्विविधमपि प्रतिबन्धरूपं सेवाबाधकमुक्त्वा लौकिकभोगरूपं सेवाबाधकं वदन्तो द्विविधं भोगमाहुः **भोगेप्येकं तथा परम्। निःप्रत्यूहं।** एतद्विवरणं तु **भोगो द्विविधो, लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकस्त्याज्य एव। अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्यन्तम्।** अत्र यथा प्रतिबन्धे साधारणस्त्याज्यो, भगवत्कृतस्तु फलविघ्नमेव जनयेत्, तथा भोगेपि सुखदुःखसाक्षात्काररूपभोगस्वरूपवस्तुन्यपि एकं साधारणं लौकिकमिति यावत्, तत् तथा त्याज्यम्, तत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः।

अतः कारण कि बाधक होंगे तो सेवा निभ नहीं पायेगी इसलिये बाधक होने के मूलकारणों का ही परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार से जैसे आचार्यचरणों ने सेवा में बाधकरूप से आनेवाले दोनों प्रकार के प्रतिबन्धों के विषय में बताया, वैसे ही अब आग

भोग के भी दो प्रकार बता रहे हैं, जिनमें से पहला लौकिकभोग सेवा में बाधक है। इसे आपश्री **भोगेप्येकं तथा परम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन शब्दों का विवरण आपश्री ने विवरण में **भोगो .... प्रविशति** इस पंक्ति द्वारा कहा है। अब जैसे आपश्री ने दो प्रकार के प्रतिबन्धों में से साधारणप्रतिबन्ध त्यागना कहा था एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध के विषय में यह बताया था कि, वह तो फल में विघ्न ही करता है ; उसी प्रकार भोग में भी दो प्रकार हैं। भोग का अर्थ है – सुखदुःख को भोगना। भोग के दो प्रकारों में से एक साधारणभोग है अर्थात् लौकिकभोग है, जिसे त्याग देना चाहिए ; तात्पर्य यह कि यह जिससे होता है, उस मूलकारण को दूर करें।

परं द्वितीयं साधारणाद्भिन्नमलौकिकमिति यावत् , तादृशभोगरूपं वस्तु निष्प्रत्यूहं निर्गतः फलप्राप्तौ विघ्नो यस्मात्तत्फलाप्रतिबन्धकमिति यावदेतादृशमित्यर्थः। तथा च तत्फलानुकूलमेवेत्यर्थ इति भावः। एवं द्विविधोपि भोगो मूले कण्ठरवेणोक्तो यस्तमेव भोगं विवरणे **भोगोपि द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चे**दित्यादिना स्फुटीकृत्य तत्र **लौकिकस्त्याज्य एवे**त्यनेन लौकिकभोगस्यापि तत्साधनपरित्यागेन त्याज्यत्वमुक्तम्।

परं द्वितीयं का अर्थ है – "परंतु दूसरे प्रकार का भोग अलौकिकभोग है"। अलौकिकभोग निष्प्रत्यूह है अर्थात् फलप्राप्ति में आनेवाले विघ्नों को दूर करने वाला है, यह फल में प्रतिबन्ध नहीं करता। अलौकिकभोग तो फल सिद्ध कराता है, यह भाव है। वैसे मूलग्रंथ में आचार्यचरणों ने भोग फलप्राप्ति में प्रतिबन्ध कराता है, यही कहा है परंतु विवरण में आपश्री ने इसे विशेषरूप से स्पष्ट करते हुए लौकिकभोग एवं अलौकिकभोग यों दो प्रकार से विभाजित करके लौकिकभोग का त्याग करना कह दिया है। लौकिकभोग का त्याग करने का अर्थ है, इसके मूलकारणों का त्याग करना।

ननु कथमलौकिकस्य द्वितीयस्य भोगस्य फलाप्रतिबन्धकत्वमित्याशंकायामाहुः **महान् भोगः प्रथमे विशते सदेति**। महानलौकिको भोगस्तु प्रथमे अलौकिकरसोपभोगसामर्थ्यरूपे पूर्वोक्तफले विषयत्वेन प्रविशतीत्यर्थः। नन्वलौकिकभोगस्तु नेह भवति किन्त्वेतद्देहपातोत्तरं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे सति भवति। तथा चात्रालौकिकभोगप्रसक्तेरेवाभावात् तद्भोगप्रसक्तौ सत्यामेव लौकिकभोगवदस्यापि त्यागाशङ्कायां प्राप्तायामेतस्य प्रथमफले प्रवेशवचनं सार्थकं स्यात्तस्मान्महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति वचनं व्यर्थमिति चेत् ,

अब यदि आप ये पूछें कि, दूसरा अलौकिकभोग सेवा में प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता, तो आचार्यचरण **"महान्....... सदा"** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, महान अलौकिकभोग तो अलौकिक रसभोग की सामर्थ्य प्राप्त कराता है अतः त्याज्य नहीं है। तात्पर्य यह कि अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्य का विषय बन जाता है अर्थात् अलौकिकभोग करने के लिये ही भगवान अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल देते हैं। किंतु एक शंका यह होती है कि, अलौकिकभोग यहाँ भूतल पर तो प्राप्त होता नहीं अपितु देहपात होने के पश्चात् साक्षात् भगवान से संबंध होने पर ही होता है अतः यहाँ भूतल पर अलौकिकभोग करने का प्रश्न ही कहाँ है, जो आचार्यचरण लौकिकभोग का त्याग एवं अलौकिकभोग का त्याग न करने की बात कह रहे हैं ? साथ ही साथ आपश्री का यह कहना भी फिर व्यर्थ ही है कि अलौकिकभोग अलौकिक भगवद्–रस का उपभोग करने की सामर्थ्य देता है क्योंकि अलौकिकभोग भूतल पर प्राप्त होगा तभी तो कोई भोग कर सकेगा, यदि भूतल पर प्राप्त ही नहीं होगा तो फिर त्याग करने का प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है ?

अत्र वदामः। अलौकिकभोगस्त्वत्रापि मनोमात्रस्य स्थायिभावात्मकभगवत्सम्बन्धेनालौकिकत्वान्मनोमात्रे त्वात्मनि द्वारा भवति, तत्सहनार्थमेवालौकिकसामर्थ्यं भगवता दीयते, अत एवालौकिकभोगस्य प्रथमफलान्तरभावोक्तिः संगता भवति। अन्यथा प्रथमफलान्तरभावोक्तिरसंगता स्यात्। तस्माद्यदा तनुजवित्तजसेवया प्रेमोत्पत्तिस्तदनन्तरमलौकिकभोगरूपे अपूर्वानुरागरूपविरहजदुःखसाक्षात्कारे विषयत्वेन प्रविष्टस्य दुःखस्य तापविशिष्टस्य सहनार्थमलौकिकसामर्थ्ये भगवता दत्ते स्वसेव्यश्रीविग्रहे स्वप्नादिषु वा स्पर्शादिजनितविलक्षणसुखभोगप्राप्तिरत्रापि भवति तदाचार्यैर्भोगः प्रतिबन्धकत्वेनोक्तोतोयं भोगोपि मम प्रतिबन्धकः स्यादिति कदाचित् कस्यचिन्मनसि भवेत् , प्रेमभरेण च स भोगस्त्यक्तुमशक्यस्तदा व्याकुलतया महान्खेद उत्पद्येत, तेन च विरहानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति तत्खेदनिवारणार्थं **महान्भोगः प्रथमे विशते सदेति** मूले, **अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशती**त्येतद्विवरणे चालौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश उक्त इति तथोक्तेः सार्थकत्वस्य सिद्धत्वान्न त्वदुक्त्यवकाशः कथमपीति बुध्यस्व।

यदि आप ऐसी शंका करते हों तो, हम इसका समाधान कह रहे हैं। सबसे पहले तो यह समझिए कि, अलौकिकभोग भूतल पर भी संभव है। वह ऐसे कि मन का स्थायीभावरूप भगवान बन जाते हैं एवं भगवान से संबंध हो जाने पर मन अलौकिक बन जाता है एवं उस अलौकिक मन में आत्मा द्वारा अलौकिकभोग करना संभव बनता है। अलौकिकभोग कर सकने के किये ही तो भगवान अलौकिकसामर्थ्य देते हैं और इसी कारण अलौकिकभोग द्वारा प्रथमफल में प्रवेश करने वाली बात युक्तिसंगत बन पाती है। यदि ऐसा न हो तो आचार्यचरणों का "अलौकिकभोग प्रथमफल में प्रविष्ट होता है" यह कथन ही असंगत हो जाय ! इसलिये जब तनुवित्तजसेवा द्वारा भगवान में प्रेम उत्पन्न होता है, तो इसके पश्चात् उसे भगवान से अपूर्व अनुराग पैदा होता है एवं उनके विरह का दुःख अनुभूत होता है। अब, उस विशिष्ट तापरूपी दुःख को सहन करने के लिये भगवान उसे अलौकिकसामर्थ्य देते हैं। ऐसी अलौकिकसामर्थ्य प्राप्त होने पर जीव को अपने सेव्यस्वरूप का स्पर्श अथवा तो स्वप्न आदि में भगवान को स्पर्श आदि करने के द्वारा विलक्षण सुखभोग की प्राप्ति यहीं भूतल पर भगवत्सेवा करते-करते भी होती है। किंतु कोई यदि ये सोच ले कि आचार्यचरणों ने तो भोग को सेवा में प्रतिबंध बताया है अतः कहीं ये अलौकिक भोग ही तो मेरा प्रतिबंध नहीं हो जायेगा न ? साथ ही साथ उसे भगवान से इतना अधिक प्रेम हो चुका होता है कि उससे अब अलौकिकभोग त्यागा भी नहीं जा सकता अतः व्याकुल होकर उसके मन में महान खेद उत्पन्न होता है कि, आचार्यचरणों ने तो भोग को प्रतिबंध बताया है और मैं हूँ कि मुझसे तो भोग छूटता ही नहीं। यह खेद भगवद्-विरह का अनुभव करने में प्रतिबंध बनेगा अतः आचार्यचरण उसके खेद को दूर करने के लिये मूलग्रंथ में - अलौकिकभोग महान है एवं प्रथमफल में प्रवेश कराता है एवं विवरण में - अलौकिकभोग तीनों में से प्रथमफल की प्राप्ति कराता है, यों कह कर ये बता रहे हैं कि अलौकिकभोग प्रथमफल में प्रवेश कराता है अतः अलौकिकभोग करने में कोई आपत्ति नहीं है। इसलिये आपकी शंका के लिये कोई अवकाश नहीं है कि अलौकिकभोग का सुख भूतल पर प्राप्त होना संभव नहीं है।

ननु लौकिकभोगो न तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धकः किन्तु "ता नाविद"न्नित्याद्युक्तप्रकारकचेतस्तत्प्रवणत्वतद्रूपायां मानससेवायां प्रतिबन्धकः। यदि तनुजवित्तजसेवाप्रतिबन्धकः स्यात्तदा लौकिकसुखसाक्षात्काररूपभोगाभावे देहस्थितेरभावात् तनुजवित्तजसेवाश्रवणकीर्तनादिनां चाभावे सिद्धे कारणाभावेन प्रेमोत्पत्तेरभावान्मानससेवासिद्धेश्चाभावात् परमफलप्राप्तिर्न भवेदेव कस्यापीति न कोप्यस्मिन्मार्गे प्रवर्तेतेति मार्ग एवायमुच्छिद्येत, तस्मान्न तत्प्रतिबन्धको लौकिको भोगः। सति च लौकिके भोगे "विषयाविष्टचित्तानां नावेशः सर्वदा हरे"रितिवचनात्तत्कारणविषयावेशेन भगवद्विषयकतनुजवित्तजसेवाभावे कथं पूर्वोक्तं फलं स्यादिति चेत् , अत्र वदामः। लौकिकविषयभोगो द्विविधः, एकः केवलेन्द्रियपोषको, द्वितीयो भगवत्तनुजवित्तजसेवोपयोगी। तत्र केवलेन्द्रियमात्रपोषकविषयभोगो न कर्तव्यः, किन्तु प्रभुसेवोपयोगित्वबुद्धया अथ च स्वस्य दासत्वेन दासधर्मत्वबुद्धया च लौकिकभगवन्निवेदितविषयभोगः कर्तव्यः।

अब किसी पूर्वपक्षी को यह शंका होती है कि लौकिकभोग तनुजवित्तजसेवा में प्रतिबंधक नहीं होता परंतु "गोपियाँ मुझमें इतनी खो गयीं कि उन्हें किसी की भी सुध न रही(भा० ११-१२-१२)" इस वाक्य के अनुसार मानसीसेवा का प्रतिबंधक है। क्योंकि यदि लौकिकभोग को तनुजवित्तजसेवा का प्रतिबंधक ही मान लिया जाय तो लौकिकसुख का भोग(अर्थात् खाना-पीना-सोना इत्यादि लौकिकसुखपूर्वक रहना)नहीं करेंगे तो यह देह टिकेगी ही कैसे ? और जब देह ही नहीं टिकेगी तो तनुजवित्तजसेवा और प्रभु का श्रवणकीर्तन आदि भी कैसे संभव होगा ? और जब श्रवणकीर्तन ही संभव नहीं बन पायेंगे, तो भगवान में प्रेम भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा। और भगवत्प्रेम ही उत्पन्न न हुआ तो मानसीसेवा सिद्ध होने की बात तो दूर रही अतः परमफल की प्राप्ति के द्वार ही बंद हो गये। यदि ऐसा हुआ तो कोई भी किसी भी प्रकार से इस मार्ग की ओर मुड़ेगा ही नहीं और और इस मार्ग का अस्तित्व ही नहीं रहेगा -ऐसा सब कह कर कोई पूर्वपक्षी यह कहता है कि लौकिकभोग सेवा में प्रतिबंधक नहीं माना जाना चाहिए। और यदि लौकिकभोग करते रहें तो पूर्वपक्षी के समक्ष "विषयाविष्ट चित्त में कभी भी हरि का आवेश नहीं होता(सं०नि० ६)" इस वाक्यानुसार यह अड़चन आती है कि लौकिकभोग से सांसारिक विषयों का आवेश आता है और तनुजवित्तजसेवा निभ नहीं पाती। ऐसी परिस्थिति में आखिर परमफल की प्राप्ति कैसे हो ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो समाधान सुनिए। लौकिकविषयभोग दो प्रकार का होता है - एक वह जो केवल हमारी इंद्रियों का पोषण करता है। दूसरा वह जो भगवान की तनुवित्तजासेवा में उपयोगी होता है। इन दोनों में से जो भोग केवल हमारी इंद्रियों का पोषण करता है, वह भोग नहीं करना चहिए , किंतु इंद्रियों का पोषण भी प्रभुसेवा में उपयोगी है , इस प्रकार की बुद्धि से करना चहिए। और, हम तो प्रभु के दास हैं अतः दासधर्म का विचार करते हुए भगवान को निवेदित किये जा चुके लौकिक विषयभोग करने चहिए।

एवं च “तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः। त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलंकारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमही”त्यादिवचनानि च यैर्भगवत्सेवोपयोगित्वेन दासधर्मत्वेन बन्धकमायाजयसाधकत्वेनानर्थनिवारकत्वेन च भगवन्निवेदितलौकिकविषयजभोगस्य विहितत्वात्। तस्मात्केवलेन्द्रियमात्रपोषकलौकिकभगवदनिवेदितविषयजभोग एव त्याज्यत्वेनोक्तोत्र, स तु तनुजवित्तजसेवाबाधक एवेति स एव त्याज्यो न तु भगवत्सेवौपयिकत्वेन दासधर्मत्वेन च प्राप्तौ विषयजभोग इति बाधकत्वाभावेन पूर्वोक्तफलस्य निःप्रत्यूहत्वात्। अत एव “बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि”रित्यादिना भक्तिवर्धिन्यां तनुजवित्तजसेवाकरणे गृहस्थितिरुक्ता। प्रेमासक्त्यनन्तरमेव च “तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्। त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः। लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां परा”मित्यनेन भगवद्भजनान्यविषयकव्यासंगजनकत्वेन सर्वविधस्यापि गृहस्य त्याग उक्तः सर्वविधभोगाभावसाधकत्वेनेति कृतं पल्लवितेन॥ ४॥

इसी बात को बताने के लिये तो श्रीभागवत में “हे भगवन्! मोह-माया तभी तक कैदी की तरह बाँध कर रखती है, जब तक जीव आपका नहीं हो जाता(भा० १०-१४-३६)”,”हमने आपकी प्रसादी माला, चंदन, वस्त्र पहने। हम आपकी जूठन खाने वाले दास हैं। इससे हमने आपकी माया को जीत लिया है(भा० ११-६-४६)” इत्यादि वचन कहे गये हैं। इन वाक्यों में यह बताया गया है कि लौकिकभोग भगवत्सेवा में उपयोगी है, भगवान की प्रसादी लेना दासधर्म है, जो संसार में बाँधनेवाली माया को जीत लेता है, अनर्थ का निवारण कर देता है अतः भगवान को निवेदित हो चुके लौकिकभोग का सुख लेने में कोई आपत्ति नहीं है। अतः आचार्यचरणों ने केवल उसी लौकिकभोग का त्याग करने के लिये कहा है, जो केवल हमारी इंद्रियों का पोषण करने के लिये ही किया जाय एवं भगवान को निवेदित न हुआ हो। यह तो तनुजवित्तजसेवा में बाधक ही है, जो त्यागना चाहिए। भगवान की सेवा में उपयोगी एवं दासधर्म को निभाने वाला लौकिकभोग त्याज्य नहीं है। यह सेवा में बाधक नहीं करता अतः आनंद से परमफल की प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण तो आचार्यचरणों ने भ०व० में “बीजभाव तो घर में रहकर भगवत्सेवा करने से ही दृढ़ हो सकता है(१)” इस वाक्य द्वारा यह कहा है कि तनुजवित्तजसेवा करनी हो तो घर में ही निवास रखें। और सेवा करते करते जब तुम्हें भगवान में जो क्रमशः प्रेम-आसक्ति-व्यसन हो जाएँ तो “जिसे भगवान में व्यसन हो गया हो, उसे घर में सतत रहना उसके भक्तिभाव में बाधक है(६)” इत्यादि वाक्यों के अनुसार तभी गृह का त्याग करें, जब गृह भगवान के अतिरिक्त कहीं अन्य सांसारिक विषयों की ओर ले जाता हो। ऐसे घर का त्याग करने से समस्त प्रकार के भोगों से दूर रहा जा सकेगा, यह अर्थ है॥ ४॥

ननु भगवता साक्षात्सम्बन्धेपि यदि सुखदुःखसाक्षात्काररूपो भोग एव भवति तदा लौकिकभोगः किमर्थं त्याज्यत्वेनोच्यत इत्यनतिपण्डिताशङ्कां परिहरन्त आहुः।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

एतद्विवरणं तु **साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति। सविघ्नत्वादल्पत्वाच्च भोगस्त्याज्यः। एतौ सदा प्रतिबन्धकावित्यन्तम्।** लौकिकसुखभोगसुखभोगसाधनानां नाशात्सविघ्नो, अथ च लौकिकभोगः किञ्चित्कालिकत्वात् परिछिन्न इत्यल्पश्च। अथ च परमफलबाधक इति घातकः। एवमेव लौकिकदुःखभोगस्तु यद्विषयक उत्पद्यते तद्विषयस्य कस्यचिदेव प्राप्तिर्न सर्वस्येति सविघ्नो, अथ च लौकिकविषयस्य तुच्छत्वात् तुच्छविषयक इति अल्पस्तुच्छश्च।

अब यदि कोई ये सोच ले कि, भगवान से साक्षात् संबंध होने पर भी यदि सुखदुःख ही भोगना है तो फिर आचार्यचरण व्यर्थ में लौकिकभोग का त्याग करना क्यों कह रहे हैं ? इस प्रकार से यदि कोई औसत बुद्धिवाला व्यक्ति ऐसी शंका करता हो तो अग्रिम वाक्य से आपश्री उसका परिहार कर रहे हैं।

इस वाक्य का विवरण आचार्यचरणों ने “साधारणो .... प्रतिबन्धकौ” तक के वाक्य में कहा है। इस पंक्ति से आपश्री का तात्पर्य यह है कि लौकिकसुखभोग एवं सुखभोग के साधन नष्ट हो जाते हैं अतः आपश्री इन्हें सविघ्न कह रहे हैं। लौकिकभोग कुछ समय तक के लिये ही रहता है अतः सीमित है एवं अल्प है। इन सब कारणों से वह परमफल में बाधक होने के कारण घातक भी है। इसी प्रकार जिस वस्तु के लिये लौकिकदुःख भोगना पड़ता है, उस वस्तु की प्राप्ति तो किसी-किसी को ही होती है, सभी को नहीं अतः लौकिकभोग विघ्नसहित है। स्वयं लौकिकविषय ही तुच्छ है अतः लौकिकभोग भी तुच्छ विषयों से ही संबंधित होता है अतः अल्प है एवं तुच्छ भी है।

अथ च परम्परया मानससेवाप्रतिबन्धकत्वात् फलप्राप्तिघातकश्चेति मूले हेतुगर्भविशेषणानि। अत एवात्र भावप्रधानो निर्देश इति ज्ञेयमिति मनसिकृत्याचार्याः सविघ्नत्वादल्पत्वाद्घातकत्वाच्चेति हेतुत्वेनैव विवरणे व्याख्यातवन्तो भोगविशेषणानि। अत एव एतौ भगवत्कृतप्रतिबन्धसाधारणभोगौ **बलाद्धेतोः** सदा **बाधकाविति** भावः। नन्वत्रैको भोगः एवोक्तः पूर्वमव्यवहितः, तथा सति सदायं प्रतिबन्धक इत्येकवचनमेव वक्तव्यम् , न त्वेताविति द्विचवनमित्याशंकायामाहुः **द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध** इति। द्विवचनाक्रान्तैतच्छब्दे द्वितीयो द्वित्वसंख्यापूरको भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति तात्पर्यात् द्विवचनस्य सार्थक्यमिति भावः।

क्रमशः इन्हीं सब कारणों से लौकिकभोग मानसीसेवा सिद्ध होने में प्रतिबन्धक होता है अतः फलप्राप्ति में घातक सिद्ध होता है। इसी कारण मूलग्रंथ में आचार्यचरणों ने लौकिकभोग के लिये सविघ्न, अल्प, घातक इत्यादि विशेषण दिये हैं। इन्हीं सब कारणों से आचार्यचरणों ने विवरण में ही इन्हें विघ्नसहित, अल्प, घातक इत्यादि कहा है, जिन विशेषणों से ही ज्ञात हो जाता है कि इन सभी कारणों से भोग का त्याग करना आवश्यक है। इसी कारण आपश्री कहते हैं - **एतौ** अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबंध एवं साधारणभोग दोनों बलशाली हैं अतः सेवा में सदा बाधक बने रहते हैं। आप ये न सोचें कि दोनों प्रकार के भोगों में से एक भोग तो प्रतिबन्धक नहीं है और दूसरा प्रतिबन्धक है, तो फिर आचार्यचरणों ने मूलग्रंथ में एतौ शब्द से द्विवचन करके दोनों ही प्रकार के भोगों को बलशाली प्रतिबन्धक क्यों कहा ? आपने आचार्यचरणों का तात्पर्य ठीक ढंग से नहीं समझा इसलिये ऐसी शंका कर रहे हैं। क्योंकि यहाँ द्विवचन "एतौ" शब्द से आपश्री का तात्पर्य लौकिकभोग एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध है, जो दोनों ही बलशाली प्रतिबन्धक हैं यह समझिए ; आपश्री ने इन दोनों के लिये एतौ शब्द कहा है , लौकिकभोग एवं अलौकिकभोग के लिये नहीं।

ननु भगवत्प्रतिबन्धे ज्ञाते संसाराभावायातिकृपया तस्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति पूर्वमुक्तम् , तत्रापि तस्य चेन्न स्थिरता तदा महत्तमैः किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः **द्वितीय** इति॥ ५॥

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

एतद्विवरणं तु ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाह द्वितीय इत्यन्तम्। द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे आसुरज्ञानोपदेशपर्यन्तं चिन्ता कर्तव्या महत्तमैरतिकृपया। यदासुरज्ञानेपि भार्यादेः स्थितिर्न दृश्यते किन्तु "कामोपभोगपरमा" इति वचनसिद्धकामोपभोगमात्रपरत्वं दृष्टम् , तदास्यासुरमुक्तिरपि न देया भगवता किन्तु मरणानन्तर"मसुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वांसोबुधा जना" इति श्रुत्युक्तान्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकप्राप्तिपूर्वकं "तानहं द्विषतः क्रूरानि"त्यादिवाक्योक्तः संसार एव देयोस्येति संसारनिश्चयं प्राप्य सर्वथैव चिन्ता त्याज्या। तादृशपुत्रादिरूपेक्ष्य इति भावः॥ ५॥

****** आगे की पंक्ति पढ़ने से पूर्व यह बात ध्यान में रखिए कि अन्य टीकाकारों ने तो यह अर्थ किया है कि दूसरा भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता दिखाई पड़े तो भगवान की इच्छा के आगे विवश होने के कारण खुद जीव चिन्ता करनी छोड़ दे। परंतु प्रस्तुत टीकाकार यहाँ यह अर्थ कर रहे हैं कि, भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता दिखाई पड़े और उस जीव को आसुरज्ञानमार्ग की सीख देने पर भी उसके चित्त का समाधान न हो, तो सीख देनेवाले महापुरुष उस जीव की चिन्ता करनी छोड़ दें।****** अब शंका यह होती है कि जब पता चल जाय कि जीव को भगवत्कृतप्रतिबन्ध हो रहा है, तो उसका संसारावेश दूर करने के लिये अति कृपापूर्वक महापुरुष को उसे असुरज्ञानमार्ग की सीख देनी चाहिए , यह पूर्व में कहा तो गया है परंतु यह बताएँ कि यदि सीख देने पर भी जीव का चित्त संतुलित न होता हो, तो सीख देने वाले महापुरुष क्या करें कि जिससे उसका समाधान हो जाय ? यदि ऐसी शंका होती हो तो आपश्री **द्वितीय** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कर रहे हैं।

इस पंक्ति का विवरण "**ज्ञानस्थिति ....द्वितीय**" तक की पंक्ति में है। तात्पर्य यह कि द्वितीय अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर महापुरुष जीव की तब तक ही चिन्ता करें, जब तक वे उसे आसुरज्ञानमार्ग पर चलने की सीख न दे दें। यदि आसुरज्ञानमार्ग पर चलने की सीख मिलने पर भी पत्नी इत्यादि में अनुकूल परिवर्तन होता न देखें एवं वह उस आसुरीज्ञानमार्ग पर चलने तो तत्पर न होते हों किंतु "आसुरीजीव कामोपभोग में ही रत रहते हैं(भ०गी० १६-११)" इस वाक्यानुसार उसे कामोपभोग में ही रत देखें, तो यह समझ जाएँ कि इस आसुरीजीव को भगवान मुक्ति देना नहीं चाहते अपितु भ०गी० के "असुरों की प्रसिद्ध नाना प्रकार की योनियाँ एवं नरकरूपलोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा दुःखक्लेशरूप महान अन्धकार से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हों, वे मर कर उन्हीं भयंकर लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं(ईशा०-३)" इस वाक्यानुसार उसे अन्धन्तम दुःखात्मक संसार ही देना चाहते हैं, जैसा कि स्वयं भगवान ने "मुझसे द्वेष करने वालों को मैं संसार में ही गिराता हूँ(भ०गी १६-१९)" इस वाक्य

में कहा है। अतः ऐसे आसुरीजीव को संसार ही मिलना है, मुक्ति नहीं - यह सोच कर महापुरुष अब उसकी चिन्ता करनी छोड़ दें। तात्पर्य यह कि महापुरुष को ये सोचना चाहिए कि यदि मेरे पुत्र-परिवारजन ऐसे हैं, तो वे उपेक्षणीय हैं॥ ५॥

एवं प्रसंगादासुरस्य पुत्रादेरुद्धारोपायस्य कर्तव्याकर्तव्यत्वं निरूप्य प्रकृतं विचारयन्ति। ननु यथासुरस्यासुरमुक्तिसंसारयोर्निश्चयः कृतः कामोपभोगपरत्वापरत्वादिलिङ्गैस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयेष्वेतस्य शीघ्रं फलमेतस्य विलम्बेनेति केन लिङ्गेन ज्ञेयमित्याकांक्षायामाहुः।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति।

तुशब्द आसुरप्रसङ्गनिवारणार्थः। आद्ये अलौकिकसामर्थ्यरूपे फले जाते सति भगवतः दातृत्वं नास्तीति न, किन्तु दातृत्वं वर्तत इति ज्ञेयम्। नन्वाद्य इति पाठे नु निश्चयेन दातृता नास्तीति न, किन्तु वर्तत एवेत्यर्थो ज्ञेयः। एतद्देहेमनसि एतद्देहपातोत्तरं चालौकिकसंघात एव फलं भविष्यतीति भावः।

इस प्रकार आचार्यचरण असुर पुत्र आदि परिवारजनों के उद्धार का उपाय करना या न करना, इसका निरूपण करके अब मूल बात पर आ रहे हैं। किसी के मन में प्रश्न यह उठता है कि, जैसे असुर की मुक्ति या संसार में रचे-पचे का निर्णय उसकी कामोपभोग में रुचि या अरुचि के लक्षणों से आँका गया, वैसे शुद्धपुष्टिमार्गीय में से किसी को शीघ्र फल मिलेगा या किसी को विलंब से, इसके लक्षण कैसे आँके जाएँ ? इसका उत्तर आपश्री अग्रिमपंक्ति से दे रहे हैं।

तु शब्द से ज्ञात होता है कि, अब यहाँ से आसुरीजीवों की चर्चा समाप्त हो गयी है एवं अब दैवीजीवों की बात आरंभ हो रही है। पंक्ति का अर्थ है - आद्ये अर्थात् अलौकिकसामर्थ्यरूप फल प्राप्त हो जाय तो यह समझना चाहिए कि, भगवान को फलदान करने की इच्छा नहीं है ऐसा नहीं है अपितु उन्हें फलदान करने की इच्छा है ही। यदि **न तु आद्ये** के स्थान पर **न नु आद्ये** पाठ मान लिया जाय ,तो नु का अर्थ है "निश्चय"। इस अर्थ में पूरी पंक्ति का तात्पर्य है - निश्चितरूप से ऐसा नहीं है कि भगवान की फलदान करने की इच्छा नहीं है अपितु उन्हें फलदान की इच्छा है ही, जब अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होने लग जाय। पंक्ति का तात्पर्य यह कि, यदि यही देह रही तो मन में अलौकिकप्रभु का अनुभव होगा एवं यदि देह न रहे तो फिर अलौकिकशरीर की प्राप्ति होकर सेवा का फल प्राप्त होगा, यह भाव है।

अयं मूलार्थः स्पष्ट एवेति मत्वाद्ये दातृता नास्तीत्येतस्यार्थमनुक्त्वा आद्यफलाभावे एतद्देहे मनसि एतद्देहपातोत्तरं च भगवतो दातृता नास्तीति शिरश्चालनेनोक्त्वा किन्तु विलम्बेन दातृता वर्तत इत्यर्थतः सिद्धमर्थमाहुर्विवरणे **आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यन्तेन**। यतश्चायमार्थिकोर्थो उक्तोत एव "इत्युक्तं भवति" इत्युक्तं न तु "इत्यर्थ" इति।

वैसे इस पंक्ति का मूल अर्थ तो स्पष्ट ही है, यह जानकर आचार्यचरणों ने "आद्ये दातृता नास्ति" इसका अर्थ न करके यह कहा कि " इस देह के रहने पर मन में एवं यदि यह लौकिकदेह न रहे और अलौकिक देह मिलने पर भगवान की फलदान करने की इच्छा नहीं है ऐसा नहीं है अपितु भगवान विलंब से फलदान करना चाह रहे हैं " यह बात तो अर्थतः सिद्ध है अतः इसे आपश्री ने अपने विवरण में "**आद्यफलाभावे .... भवति**" ****** (आद्यफल न मिले तो भगवान की फलदान की इच्छा नहीं है, यह समझें क्योंकि इससे यह लगता है कि अभी तक आपकी सेवा आधिदैविकी नहीं बन पायी है, यह कहना पड़ेगा) ****** इन पंक्तियों से कहा है। मैं आचार्यचरणों का ऐसा अभिप्राय इसलिये मान रहा हूँ कि आपश्री ने विवरण में यह कहा कि " इस समय तक भगवान द्वारा फलदान न देने का तात्पर्य यह लगता है कि, आपकी सेवा अभी तक आधिदैविकी नहीं बन पायी"। आपश्री ने यह नहीं कहा है कि "सेवा आधिदैविकी न होने से फलदान आगे भी कभी करेंगे ही नहीं या करते ही नहीं"। ****** इन दोनों वाक्यों में से पहले वाक्य से यह मालूम पड़ता है कि जीव द्वारा की जाती सेवा आधिदैविकी न बन पाने के कारण भगवान अभी इस समय उसे फलदान नहीं करेंगे अपितु जब सेवा आधिदैविकी बन जायेगी, तब करेंगे अर्थात् विलंब से फलदान होगा। यदि आचार्यचरण पहला वाक्य न लिखकर दूसरा वाक्य लिखते तो इसका सीधा-सीधा अर्थ यह होता कि, भगवान कभी फलदान करेंगे ही नहीं। टीकाकार इस बात से यह सिद्ध करना चाह रहे हैं कि, आचार्यचरण "न त्वाद्ये दातृता नास्ति" इस पंक्ति से यह नहीं कह रहे हैं कि "आद्यफल न मिलने पर भगवान की फलदान की इच्छा नहीं है" अपितु यह कहना चाह रहे हैं कि "आद्यफल न मिले तो यह मत समझिए कि भगवान फलदान करना नहीं चाहते अपितु यह समझिए कि वे अभी नहीं परंतु विलंब से फलदान करेंगे, और तब करेंगे जब आपकी सेवा आधिदैविकी बन जायेगी"। मूलपंक्ति से यह बात स्पष्ट नहीं होती अतः आपश्री ने अपने विवरण में इसे "आद्यफलभावे .... भवति" इस वाक्य द्वारा इस अर्थ को समझाया है, ऐसा टीकाकार का मानना है******

यद्वा, आद्यफलाभावे तनुजवित्तजसेवाजनितप्रेमासक्त्यनन्तरमलौकिकसामर्थ्यदानाभावे भगवतो दातृत्वाभावो नास्ति किन्तु विलम्बेन दातृत्वं वर्तत इत्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम्। नन्वाद्यफलाभावे दातृत्वं कुतो नास्तीत्याकांक्षायामाहुर्विवरणे **तदा सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति**। व्यसनपर्यन्तं स्वतन्त्रेच्छत्वेन प्रेमावस्थानामाविर्भाव्यत्वाभावात् पूर्णप्रेमाविर्भावाभावाद्रसरूपताभावात्सेवाया आधिदैविकत्वाभावादिति हेतोर्दातृत्वं नास्ति, यत आधिदैविकसेवयैवाधिदैविकस्वरूपप्राप्ति"र्ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मिति वाक्यादित्यवेहि। रसरूपस्यैवाधिदैविकत्वे "रसो वै स" इतिश्रुतिस्थपरमकाष्ठापन्नब्रह्मस्वरूपनिश्चयवाचकवैइत्यव्ययशब्दः प्रमाणं परमकाष्ठापन्नस्यैव पर्यन्ततः सर्वाधिदैविकत्वात्। एवं चाद्यफले जाते फलं शीघ्रं भविष्यति तदभावे भगवदिच्छाभावेन कस्यचिद्विलम्बेन भविष्यतीत्याद्यफलोत्पत्त्यनुत्पत्तिरूपलिङ्गाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गीयस्यापि भक्तस्य शीघ्रफलोत्पत्त्यनुत्पत्ती ज्ञेये इति दिक्।

अथवा इस पंक्ति का यों अर्थ करें कि, जब भगवान आद्यफल का दान न करें अर्थात् तनुवित्तजसेवा से उत्पन्न हुए प्रेम-आसक्ति-व्यसन के पश्चात् यदि प्रभु अलौकिकसामर्थ्य का दान न करें तो यह मत समझिए कि भगवान को फलदान की इच्छा नहीं है परंतु ये समझें कि वे विलंब से फल देना चाह रहे हैं। अर्थात् मूलपंक्ति के अर्थ को विवरण में "आद्यफलाभावे भगवतो अदातृता नास्ति (यदि जीव को आद्यफल न मिले, तो यों न समझें कि भगवान को फल देने की इच्छा नहीं है किंतु विलंब से देंगे)" यों पढ़ें। अब शंका यह होती है कि, आखिर भगवान सेवा करने के तुरंत बाद ही फलदान करने की इच्छा क्यों नहीं करते ? तो आचार्यचरण इसका उत्तर विवरण में **तदा .... भवति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ यह समझिए कि भगवान की अपनी स्वतंत्र इच्छा है कि, जब तक जीव को व्यसनदशा सिद्ध न हो जाय, तब तक प्रेम की अवस्थाएँ पनपी न होने के कारण उसे भगवान के प्रति पूर्णप्रेम का उदय नहीं होता। पूर्णप्रेम का उदय नहीं होता तो भगवान की रसरूपता का ज्ञान नहीं होता। इससे भगवत्सेवा आधिदैविकी नहीं बन पाती अतः इस कारण भगवान ये सब होने तक फलदान करने की इच्छा नहीं करते। क्योंकि भगवान के "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ (भ०गी० ४-११)" इस वाक्य के अनुसार यह जान लीजिए कि आधिदैविकी सेवा से ही तो आधिदैविकस्वरूप की प्राप्ति होगी। वैसे भी "रस तो भगवान ही हैं(तैति० २-७-१)" इस श्रुति के अनुसार भगवान का रसरूप ही आधिदैविकस्वरूप है, जो कि इस श्रुति में "वै(निश्चितरूप से)" इस अव्यय द्वारा भगवान को निश्चितरूप से परमकाष्ठापन्न ब्रह्मस्वरूप बताया गया है। इस "वै" शब्द के प्रमाण से ज्ञात होता है कि, भगवान का परमकष्ठापन्नस्वरूप ही आधिदैविकस्वरूप होता है। तो, इस प्रकार जिसे आद्यफल(अलौकिकसामर्थ्य) प्राप्त हो जाता है, उसे शीघ्र फल प्राप्त होता है और यदि किसी को आद्यफल प्राप्त नहीं होता तो, उसे भगवद्-इच्छा न होने के कारण विलंब से फल प्राप्त होता है। अतः आद्यफल मिलने या न मिलने के लक्षणों द्वारा शुद्धपुष्टिमार्गीय भक्त को भी जान लेना चाहिए कि उसे शीघ्र फल की प्राप्ति होगी या विलंब से।

अथ उद्वेगाभावप्रतिबन्धाभावभोगाभावानां बाधकाभावत्वेन पूर्वं कारणत्वमुक्तम्। तत्र सर्वस्यापि भगवल्लीलात्वेन ज्ञानादुद्वेगाभावः सिद्धस्तत्र न गृहत्यागः। सेवाप्रतिबन्धकासुरपुत्रादेस्त्यागात्प्रतिबन्धाभावसिद्धेश्च तत्र पाक्षिको गृहत्यागः। दैवपुत्रादिषु सत्सु गृहत्यागाभावात्। भोगाभावस्तु लौकिकभोगत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभावः। स तु लौकिकगृहत्वावच्छेदकावच्छिन्नत्यागेनैवेत्याहुः।

तृतीये बाधकं गृहम्।

तृतीये बाधकाभावत्वेन कारणे लौकिकभोगाभावे लौकिकं गृहं बाधकम्। तादृशगृहे सति तादृशभोगाभावाभावात्, सर्वेन्द्रियाणां लोकवेदसंकोचेनापि स्वस्वविषये प्रवृत्तिसम्भवादिति भावः। एतद्विवरणे इदमेवाहुः **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग** इति। अत्र **पर्युपसर्गो** वेश्मस्त्रीतत्रस्थपुत्रादिवाचको ज्ञेयः। अन्योर्थः स्पष्टः।

यहाँ तक आचार्यचरणों ने सेवाफल प्राप्त होने में कारण यह बताया कि उद्वेग-प्रतिबन्ध-भोग इत्यादि दूर हों। अब इनमें उद्वेग को दूर करना हो तो, यदि हर परिस्थिति में यह विचारेंगे कि, यह सभी कुछ भगवान की लीला है तो उद्वेग दूर हो जायेगा ; इसमें गृहत्याग करने की आवश्यकता नहीं है। भगवत्सेवा में प्रतिबन्ध करने वाले असुरपुत्र एवं परिवारजनों का त्याग करने से ही प्रतिबन्ध दूर हो जायेगा, जो एक प्रकार से गृहत्याग करना ही हुआ। क्योंकि यदि पुत्र आदि दैवीजीव हैं, तब तो गृहत्याग करना नहीं है। भोग दूर करने का अर्थ है - लौकिकभोग को दूर करना। लौकिकभोग तो तभी दूर होगा जब गृह का त्याग करेंगे, जा

लौकिकभोग में लिप्त होने का आधार बनता है इसलिये आचार्यचरण अग्रिमपंक्ति में आज्ञा करते हैं - तीसरे प्रतिबन्ध भोग को दूर करने में गृह में आसक्ति होनी बाधक बनती है।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - लौकिकभोग को दूर करने में लौकिकगृह अड़चन पैदा करता है क्योंकि यदि गृह में लौकिकता है तो भोगवृत्ति दूर नहीं होगी और गृह में रहते हैं तो लौकिकवैदिककार्य तो करने ही पड़ते हैं अतः समस्त इंद्रियाँ जब इन कार्यो में लगेंगी तो प्रवृत्ति तो इनमें ही जानेवाली है, प्रभु की ओर प्रवृत्ति तो होगी नहीं। इस पंक्ति के विवरण में आचार्यचरणों ने भी यही कहा है कि- भोगवृत्ति तभी दूर होगी, जब गृह का परित्याग करेंगे। यहाँ त्यागं शब्द में "परि(चहुँओर से)" शब्द का अर्थ है - गृह, स्त्री एवं वहाँ रहने वाले पुत्र आदि का त्याग करना। इसके पश्चात् के विवरण के अन्य अर्थ तो खैर स्पष्ट ही हैं।

ननु एतादृशसेवनातिदुर्लभेत्याशंकायामाहुरवश्येयं सदा भाव्येति।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥

अत्र विवरणाभावादस्माभिरेव व्याख्यायते। इयमव्यवहितक्षण एवोक्ता बुद्धिस्था मानसी सेवना "न रोधयती"त्यादिवाक्येभ्यः कस्यापि कर्मज्ञानादेरवश्याधीना यद्यपि न भवति, व्रजभक्तरूपसाधुकृपामात्राधीनत्वात् , तथापि श्रीप्रभुव्रजभक्तदास्यपूर्वकं भाव्या चिन्तनीया। एतादृशीं सेवनां कदास्मत्प्रभुरस्मत्स्वामिन्योस्मभ्यं दास्यन्ति, कदा भगवति चक्षूरागः, कदा वा चित्तासंगः, कदा वा "भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च। आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्श्चोपि तथाविधः। अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा। तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः। तदन्तिकगतिर्नित्य"मित्यादिः संकल्पः, कदा निद्राच्छेदः, कदा तनुतनुता, कदा विषयनिवृत्तिः, कदा त्रपानाशः, कदोन्मादमूर्छामृतय इत्याद्युक्तप्रकारेण सदा देहपातपर्यन्तं भाव्या, भावनया मनसि स्थापनीया। अतिदीनतया ज्ञानविषयत्वमापदनीयेति यावत्।

यहाँ ये समझें कि ऊपर बताये गये ढंग से प्रभुसेवा करनी तो अतिदुर्लभ है अतः आपश्री आगे की पंक्ति में आज्ञा करते हैं - हमारे द्वारा कहे प्रकार से प्रभुसेवा करनी जीव के वश में नहीं है अतः मन में सदा सेवा की भावना रखें। आचार्यचरणों ने इस पंक्ति का विवरण नहीं किया है अतः मैं ही इसका विवरण कर रहा हूँ। इसमें आपश्री आज्ञा करते हैं - अभी अभी जो मैंने मानसीसेवा के विषय में बताता है, वह "मैं साधन, तप, त्याग इत्यादि से भी वैसा प्रसन्न नहीं होता(भा० ११-१२-१)" इत्यादि भगवद्-वाक्यों द्वारा यद्यपि कर्म-ज्ञान आदि किसी के भी अधीन नहीं है तथापि श्रीप्रभु एवं व्रजभक्तों के दास्य की भावना करें। क्योंकि ये तो केवल व्रजभक्तों की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। यह भावना करें कि हमारे प्रभु, हमारी व्रजगोपिकाएँ हमें कब मानसीसेवा सिद्ध करावेंगे ? हमें भगवान में चक्षुराग कब पैदा होगा ? कब हमारा चित्त उनमें ही लगा रहेगा ? कब हम "भगवान के संग वार्तालाप, उनके दर्शन, उनसे मिलना, उनका आलिंगन, उनका स्पर्श(सुबो० १०-१८-७ ;का०-७)" इत्यादि वाक्यों में कही बातों का मन में संकल्प करेंगे ? कब प्रभुचिंतन में हमारी निद्रा छिन जायेगी ? कब प्रभुविरह में काया क्षीण होती जायेगी ? कब सांसारिक विषयों से मोह छूटेगा ? कब प्रभु के लिये लज्जा छोड़कर सभी बंधन तोड़ देंगे ? कब उन्माद, कब मूर्छा और कब मृत्यु तक की दशा तक पहुँचेंगे ? इत्यादि प्रकार से भगवत्प्रेम में सदा अर्थात् मृत्यु तक की भावना करें। अतिदीन होकर ऊपर कही भावनाएँ करें।

यद्वा इयं मानसी सेवा सदा भाव्या, प्रेमाद्यभावेपि प्रेमाद्यवस्थाद्यनुकरणकरणेन च चिन्तनीया। तथा च मनस्येतादृशभावनापूर्वकं तनुजवित्तजसेवाकरणे "तं यथा यथोपासते तथैव भवती"ति श्रुते"र्ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मिति गीतास्थभगवद्वाक्यादथ च "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"त्यादिवचनाच्चैतद्देहपातोत्तरमलौकिकदेहप्राप्तौ वा कस्यचित्कस्यचित्तु जन्मान्तरे वा बहुतरभगवत्कृपायामस्मिन् जन्मन्यपि वा "ता नाविद"न्नित्याद्युक्तप्रकारा फलरूपा सेवना सिद्धा भविष्यतीति भावः।

अथवा पंक्ति का अर्थ दूसरे प्रकार से करें। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - इस मानसीसेवा की मन में सदा भावना करते रहें , ऊपर कही प्रेम की अवस्थाएँ भले ही प्रकट न हुई हों तथापि उन अवस्थाओं का अनुकरण करने की भावना करें। इस प्रकार मन में ऐसी भावना करते हुए तनुजवित्तजसेवा करने पर " तं यथा यथोपासते तथैव भवति " इस श्रुतिवाक्य के अनुसार एवं "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" इस गीतावाक्य के अनुसार भी एवं "जिसकी जैसी भावना होगी, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होगी" इत्यादि वचनों के अनुसार किसी जीव को तो देहपात होने के पश्चात् या अलौकिकदेह प्राप्त होने पर या फिर किसी जीव को अगले जन्मों में या फिर मान लो कि बहुत भगवत्कृपा हो जाय, तो इसी जन्म

में फलरूपा मानसीसेवा की सिद्धि होगी, जैसा कि "गोपियाँ मुझमें इतनी खो गयीं कि उन्हें किसी की भी सुध न रही(भा० ११-१२-१२)" इस वाक्य में कहा गया है - यह भाव है।

अथवा **इयं** रसरूपा प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका सेवा **सदा** सर्वदा **अः** भगवान् **वश्यो** यस्यां सा **भाव्या** ज्ञेया। एतादृशज्ञानेनापि फलसिद्धिरित्यर्थः। तथा चान्यप्रकारकसेवायां न सर्वदा भगवान् वश्यो भवति, न वा तज्ज्ञानमात्रेण च फलसिद्धिरिति भावः। ननु ज्ञानादिमार्गप्रकारेणापि सेवा प्रभुं स्ववशे करिष्यति प्रभुसेवात्वाविशेषादित्याशंक्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति। अन्यत् सर्वं मनोभ्रमरूपमेव। तथा च भगवन्मायामोहितानामेवायं सिद्धान्तो यदन्यत्रापि मार्गे प्रभुर्वश्यो भवतीति। अत एवास्मिन्मार्गे मार्गान्तराच्छ्रैष्ठ्यम्। अत एव च "मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग"मिति वचनं चेति दिक्॥ ६॥

अथवा तो मूलपंक्ति का अर्थ इस प्रकार से कर लें। ******* यहाँ टीकाकार ने "अवश्या" शब्द का अर्थ एक दूसरे ढंग से किया है। "अः" का अथ है - भगवान। और "वश्या" का अर्थ है - वश में करनेवाली। कुल मिला कर अर्थ बना - यह मानसीसेवा "वश्या" है, जिससे "अः यानि भगवान भी जीव के वश में हो जाते हैं। इसके अनुसार "अवश्या" शब्द का अर्थ है - मानसी। ******* अः का अर्थ है - भगवान। तात्पर्य यह हुआ कि यह रसरूपा, प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका मानसीसेवा ऐसी है कि, जिससे भगवान भी जीव के वश में हो जाते हैं अतः मन में मानसीसेवा सिद्ध होने की भावना करते रहें। यह बात जान लोगे तो भी फलसिद्धि हो जायेगी - यह आचार्यचरणों का तात्पर्य है। इससे यह ज्ञात होता है कि , मानसीसेवा के अतिरिक्त अन्यप्रकार की सेवाओं से भगवान सर्वदा वश में नहीं होते और ऐसा भी नहीं है कि इन सेवाओं के विषय में जान लेने मात्र से फलसिद्धि हो जायेगी अपितु मानसीसेवा का ज्ञान होने पर ही फलसिद्धि होगी। अब कोई यह जिरह करे कि , नहीं ज्ञान आदि अन्य मार्गों में बताये गये प्रकार से सेवा करने के द्वारा भी हम प्रभु को हमारे वश में कर लेंगे क्योंकि प्रभुसेवा तो इस मार्ग में भी करनी है और ज्ञानमार्ग में भी ; तो इस शंका का आचार्यचरण आगे **सर्वमन्यमनोभ्रमः** इत्यादि शब्दों से निराकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि हमारे बताये गये प्रकार के अतिरिक्त अन्य सभी प्रभुप्राप्ति के उपाय मन का भ्रम ही हैं। अर्थात् भगवान की माया से भ्रमित होने वालों के ही मन में यह बात आती है कि, हम दूसरे प्रकार से भी प्रभु को वश में कर सकते हैं। इसलिये यह जान लें कि अन्य मार्गों की तुलना में इस पुष्टिभक्तिमार्ग की श्रेष्ठता है। इसी कारण तो शुकदेवजी ने "भगवान मुक्ति तो दे देते हैं परंतु भक्ति सरलता से नहीं देते(भा० ५-६-१८)" यह वचन कहे हैं॥ ६॥

एवं मानससेवाभावनाया माहात्म्यमुक्त्वा पूर्वोक्तसेवाबाधकत्यागस्यावश्यकतामाहुः **तदीयैरपि तत्कार्यमिति**।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

(तदीय अर्थात् आत्मसमर्पण करने वालों को भी सेवा में आने वाले बाधकों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। यदि वे अपने आप को पुष्टिमार्ग में मानते हों, तो इस कार्य में उन्हें विलंब नहीं करना चाहिए)

बालबोधग्रंथे "समर्पणादात्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुव"मित्युक्त्वा"देवं धर्मैर्मनुष्याणा"मित्यादिभगवद्वाक्याच्च **पुष्टौ** पुष्टिमार्गे **तदीयैरपि** आत्मसमर्पणं कृतवद्भिरपि **तत्** पूर्वोक्तं बाधकत्रितयत्यागरूपं यत् तत् **कार्यं** कर्तव्यम् , न तु मयात्मसमर्पणं कृतं तदीयं च सर्वं जातमतः परं प्रभुर्यथा ज्ञास्यति तथा करिष्यति मम का चिन्तेति निश्चिन्ततया स्थेयम्। तथा सति भगवति भरदाने पुष्टिमार्गस्य प्रेमात्मकत्वात् प्रेममार्गविरोध आपद्येत। सर्वथा स्वाशक्येर्थे हि भगवति भरदानम् , न तु स्वशक्येपि, स्वशक्येर्थेपि तत्र भरदाने स्वामिन्यादीनां स्वप्राणप्रियस्यायासदर्शनेन महान् खेद उत्पद्येत, तेन तदधीनत्वात्फलस्य तत्फलदाने भगवतो विलम्बस्तत्खेददानजनितः स्वामिनीष्वापद्येतेति।

तो इस प्रकार से यहाँ तक आचार्यचरणों ने मानसीसेवा की भावना करने का माहात्म्य कहा। अब इसके पश्चात् आगे आपश्री **तदीयैरपि तत्कार्यम्** इत्यादि शब्दों से पूर्व में कही तनुजवित्तजसेवा में आने वाले बाधकों को दूर करने की आवश्यकता कह रहे हैं।

बालबोधग्रंथ में आचार्यचरणों ने "भगवान को आत्मसमर्पण करने से तदीय बन जाते हैं(१७)" यों कहा है एवं स्वयं भगवान ने श्रीमद्भागवत में "जो मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं उनके हृदय में भक्ति उत्पन्न हो जाती है और फिर उनके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता(भा० ११-१९-२४)" यों कहा है अतः भगवान के प्रति आत्मसमर्पण करने वालों को भी तत् अर्थात् पूर्व में कहे जो तीन बाधकों को दूर करने की सीख दी गयी थी, वह करना चाहिए। उन्हें यों निश्चिंत होकर नहीं बैठ जाना चाहिए कि,

"मैं तो आत्मसमर्पण करके तदीय बन चुका हूँ और सारे कर्तव्य पूरे कर चुका हूँ , अब प्रभु जैसा समझेंगे वैसा करेंगे , मुझे क्या चिन्ता!" यदि ऐसा ही मान कर बैठ जायेंगे , तो आप भगवान पर भार डाल रहे हैं यह मत भूलिये और पुष्टिमार्ग तो भगवान से प्रेम करने का मार्ग है अतः आप इस तरह से तो प्रेम से विरुद्ध जा रहे हैं। चलो, यदि आप सर्वथा असमर्थ ही हों, तो एक झूठी भगवान पर भार डालना उचित भी ठहराया जा सकता है परंतु यदि खुद ही प्रयास करके बाधकों को दूर कर सकते हों, तो फिर भगवान पर भार डालना अनुचित होगा। खुद समर्थ होने पर भी अपने कर्तव्यों का भार भगवान पर डालेंगे तो अपने प्राणप्रिय प्रभु को जीव के कर्तव्यों का बोझ उठाते देखकर गोपिकाओं को बड़ा खेद होगा। अब चूँकि भगवान भी जीव को फलदान करने में विलंब करेंगे, जिसका कारण घूमफिर कर फिर गोपिकाएँ ही बन जायेंगी।

अत एवाग्रे आहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति**। पुष्टाविति देहलीदीपन्यायेनात्रापि सम्बध्यते। अन्यमार्गस्थस्तु कृतात्मसमर्पणो विक्रीतपश्वादिवत् स्वदेहभरणपोषणादिचिन्तारहितो विलम्बं कुर्यादपि, **पुष्टौ** शुद्धपुष्टिमार्गे तु तन्मार्गस्थो **नैव विलम्बयेन्न** विलम्बं कुर्याद्बाधकत्रयापनोद इत्यर्थः। यद्वा स्वयमेवात्मसमर्पिणा बाधकत्रयापनोदे कृते स्वप्राणप्रियस्यायासादर्शनात् स्वामिन्यादीनां खेदाभावात् तदधीनफलदाने प्रभुर्न विलम्बयेन्न विलम्बं कुर्यादिति वार्थः। अत एव "मदर्थेर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य चे"त्येकादशस्कन्धीयं प्रभुवचनमात्मसमर्पिणो भोगादित्यागमुपदिशति, न तु स्वस्मिन् भरदानेन निश्चिन्ततयावस्थानम्। अन्यथा तासां खेदे सति तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिबन्धे जाते सति फलरूपसेवाप्राप्त्याशा दूरापास्ता।

इसी कारण मूलपंक्ति में आगे आचार्यचरणों ने कहा - पुष्टिमार्गीय अपने बाधकों को दूर करने में विलंब न करें। वैसे मूलग्रंथ की पंक्ति में "पुष्टौ" शब्द देहलीदीपन्यायानुसार दोनों तरफ संगत हो रहा है। ****** जैसे देहली पर रखा दीपक दोनों तरफ प्रकाश देता है, वैसे ही टीकाकार का कहना है कि, मूलपंक्ति में आया "पुष्टौ" शब्द दोनों प्रकार से जुड़ रहा है अर्थात् "पुष्टौ तदीयैरपि तत् कार्य(पुष्टिमार्ग में तदीयों को भी बाधक दूर करने का प्रयास करना चहिए)" यों एवं "पुष्टौ नैव विलम्बयेत् (यदि पुष्टिमार्ग में हैं, तो सेवा में आनेवाले बाधकों को दूर करने में भगवान पर निर्भर रह कर विलंब न करें)"।***** क्योंकि अन्यमार्गीय तो चलो एक बार आत्मसमर्पण करने के पश्चात् एक बेचे हुए पशु की भाँति अपने देह के भरणपोषण आदि की चिन्ता छोड़कर प्रभुसेवा में आनेवाले बाधकों को दूर करने में विलंब कर भी दे ,परंतु एक शुद्धपुष्टिमार्गीय को तो ये तीन बाधक दूर करने में विलंब नहीं करना चाहिए ,यह अर्थ है। क्योंकि जब आत्मसमर्पण करनेवाला खुद ही बाधकों को दूर करने का प्रयत्न करेगा तो भगवान को व्यर्थ में परिश्रम नहीं लेना पड़ेगा और जिसे देखकर गोपिकाएँ भी प्रसन्न होंगी एवं गोपिकाओं के ही अधीन रहने वाले प्रभु गोपिकाओं को प्रसन्न देखकर फलदान करने में विलंब नहीं करेंगे। इसी कारण तो स्वयं भगवान ने एकादशस्कंध के " मेरे लिये धन, भोग, सुख सभी का परित्याग कर दे (भा० ११-१९-२३)" इस वाक्य द्वारा आत्मसमर्पण करने वालों को खुद को भोगत्याग करने का उपदेश दिया है, यह थोड़े ही कहा कि, सारा का सारा बोझ मुझ पर ही डाल कर निश्चिंत होकर बैठ जाओ। इसलिये यदि कहीं आपके ऐसे व्यवहार के कारण गोपिकाओं को खेद हो गया, तो उनकी अप्रसन्नता के कारण आपकी तनुजवित्तजसेवा में भी प्रतिबंध आयेगा और फिर फलरूपा मानसीसेवा सिद्ध होने की बात तो दूर की कौड़ी है।

तथा च यत्र तनुजवित्तजसेवायामपि बाधकं त्यक्तव्यं जातं तत्र फलरूपसेवासिद्धौ सत्यां प्रभ्वायासस्फुरणाद्विलम्बं न कुर्यादिवेत्यर्थः। अत्रैतावज्ज्ञेयम्। साधनरूपसेवायां "प्रतिकूले गृहं त्यजे"दित्युपदेशे भजनप्रतिबन्धकगृहस्यैव त्यागो, न भजनानुकूलगृहस्य। फलरूपसेवायां तु भजनानुकूलस्यापि गृहस्य त्याग इति। एतद्यथा तथा मत्कृतभक्तिवर्धिनीटीकायां "तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक"मितिश्लोके द्रष्टव्यम्।

इसलिये ये समझें कि जहाँ साधनरूपा तनुजवित्तजसेवा में भी जीव को ही बाधक दूर करने हैं, वहाँ यदि आपको फलरूपा मानसीसेवा सिद्ध हो जाय, तो प्रभु को होने वाले परिश्रम का ध्यान रखते हुए खुद आपको ही बाधक दूर करने में विलंब नहीं करना है, यह अर्थ है। बाधक दूर करने के अर्थ में यहाँ इतना जान लेना आवश्यक होगा कि जब साधनरूपा तनुजवित्तजसेवा कर रहे हों, तो आचार्यचरणों के "भार्या या गृहिणी का अर्थ गृह ही होता है अतः भार्या का त्याग करने का अर्थ है-गृहत्याग करें(सर्व० २३१)" इस उपदेश के अनुसार आपश्री ने भगवद्-भजन में प्रतिबन्ध करने वाले गृह का ही त्याग करना बताया है, भजन में अनुकूल गृह का त्याग नहीं। किंतु जब फलरूपा मानसीसेवा सिद्ध हो गयी हो, तब तो आपश्री ने भगवद्भजन में अनुकूल गृह का भी त्याग करना कहा है। अतः (तात्पर्य यह निकलता है कि किसी भी सेवा में यदि गृह बाधक होता हो, तो उस बाधक को दूर करने का काम जीव

का ही है, प्रभु का नहीं) इस विषय में सब कुछ मैंने अपनी भ०व० की टीका में "तादृशस्यापि ...... विनाशकं" इस श्लोक के विवरण में लिख दिया है अतः वहीं देख लीजिए।

अथ तनुजवित्तजसेवया प्राप्तमानससेवस्य व्यसने जाते दशावस्थासु महादुःखानुभवादतितापेन कदाचिदतिनिष्ठुरः प्रियो यदेतावत्पर्यन्तमपि न मिलति, मया त्वेतावद्दुःखमनुभूयते तदर्थमित्यादिको दोषारोपो भगवति भगवदीयस्य स्यात् सोपि बाधक एवेत्याहः **गुणक्षोभेपीति**।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

गुणैः रसावस्थारूपैर्निद्राछेदादिभिर्मनःक्षोभेपि प्रियदोषारोपेपि एतदेव भगवदप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वमेव द्रष्टव्यं दोषारोपस्य। तथा च तादृशावस्थायामपि प्रिये दोषारोपो न कर्तव्यः। यतः प्रियस्य निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वात्तत्र दोषारोपे स्वामिन्यादीनां रोषे फलप्राप्तिविलम्बः स्यात्। किन्तु धन्योहं यत्प्रियार्थमेतादृशावस्थामनुभवामीतिगुणारोप एव कर्तव्य इति भावः। इदं त्रपानाशावस्थापर्यन्तमेव कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते। उन्मादावस्थाप्रादुर्भावे तु देहानुसन्धानाभावान्न तत्र दोषो दोषारोपेपीति ज्ञेयम्। अत एवोद्धवद्वारा व्रजसीमन्तिनीनां ज्ञानोपदेशो दोषाभावार्थमेव कृतः प्रभुणा॥ ७॥

****** साहित्य में प्रेम की दस दशाएँ मानी गयी हैं। क्रमशः चक्षुराग-चित्तासंग-संकल्प-अनिद्रा-तनुता-विषयनिवृत्ति-लज्जात्याग-उन्माद-मूर्छा-मृत्यु। प्रेम जैसे-जैसे विकसित होता जाता है, वैसे-वैसे ये अवस्थाएँ आती चली जाती हैं। आगे आने वाली पंक्तियों को पढ़ने से पहले इन बातों का स्मरण रखते हुए पढ़ें। साथ ही साथ पूर्व में मेरी टीका में (पृ०सं० १०३) विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव वाली रसनिष्पत्ति की व्याख्या भी एक बार फिर से देखकर आगे बढ़ेंगे, तो आगे की पंक्तियाँ बड़ी सरलता से समझ पायेंगे।****** अब किसी को यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है। वह यह कि, तनुजवित्तजसेवा के द्वारा जब मानसीसेवा सिद्ध हो जाती है, तब भगवान के लिये व्यसन सिद्ध हो जाने पर प्रेम की दस अवस्थाओं से गुजरने के कारण जीव को महान दुःख का अनुभव होता है। और, अपने अति ताप के कारण यदि वह भगवान पर ही दोषारोपण करने लग पड़े कि, मेरे इतने ताप करने पर भी अतिनिष्ठुर प्रभु मुझे मिल नहीं रहे हैं और उल्टे मुझे इतना दुःख सहन करना पड़ रहा है, तो एक भगवदीय के लिये ऐसा सोचना भी बाधक ही है, जिसे आचार्यचरण आगे **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं।

इस पंक्ति में गुण का अर्थ है - प्रेम की ऊपर कही रस की दस अवस्थाएँ। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि - प्रेम की रसावस्थारूप इन अनिद्रा इत्यादि गुणों से मन में क्षोभ होने के कारण यदि जीव अपने प्रिय प्रभु पर ही दोषारोपण करने लग जाए , तो यही दोषारोपण प्रभुप्राप्ति में प्रतिबंधक होगा - यह दृष्टिकोण रखें। अतः भगवत्प्रेम से भले ही कितने भी आकुल-व्याकुल क्यों न हो रहे हों, तथापि प्रभु पर दोषारोपण न करें। क्योंकि अपने प्रिय प्रभु तो पूर्णरूप से दोषरहित हैं अतः उन पर दोषारोपण करने से गोपिकाएँ रुष्ट हो जायेंगी और फलप्राप्ति में विलंब होगा। इसके बजाए तो मन में ऐसा विचार करें कि - मैं धन्य हूँ जो अपने प्रिय प्रभु के विप्रयोग में ऐसी अवस्था का अनुभव कर रहा हूँ - इस प्रकार से गुणगान ही करें, दोषारोपण न करें। यहाँ से ये समझना चाहिए कि, आचार्यचरण ऐसा विचार केवल लज्जात्याग की दशा तक के लिये ही कह रहे हैं क्योंकि उन्माद की अवस्था में यदि वह प्रभु पर दोषारोपण कर भी दे तो उसे दोष नहीं माना जा सकता क्योंकि उन्माद की अवस्था में देहानुसंधान तो रहता ही नहीं। इसी कारण जब गोपिकाओं ने प्रभुविरह में अति व्याकुल होकर उन्मादावस्था में प्रभु पर दोषारोपण किया, तो प्रभु ने उनके दोष दूर करने के लिये उद्धवजी को उन्हें समझाने भेजा था॥ ७॥

नन्विदं सर्वं प्राकृततुल्यमेवेति किमेतादृशावस्थाप्राप्स्याप्युत्कर्ष इत्याशंक्याहुः।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

अत्र या **काचित् कुसृष्टिरुत्पद्येत सा भ्रमो** ज्ञेयः। यतो "रसो वै स" इति श्रुते रसरूपो भगवान् सिद्धस्तदा सर्वा अपि रसावस्था भगवद्रूपाएव, रसस्य विभावानुभावव्यभिचारिभावसमूहालम्बनरूपत्वादिति सिद्धः सर्वोत्कर्षोस्य मार्गस्यास्य फलस्य चेति सर्वं चतुरस्रम्॥ ७॥

---

१ इतःपरं "इति श्रीवल्लभतनुजवरविट्ठलनाथांघ्रिरेणुलवबलतः। जयगोपालः कृतवान्" इति प्रथमं लिखितं, हरितालेन पश्चाल्लोपितम्। अतःपरं विद्यमानष्टीकाभागः पाश्चात्यः, ग्रन्थकृता स्वयमेव निर्मितः, स्वहस्ताक्षरैर्लिखितश्चेति प्रतिभाति। एतत्प्रयोजनं तु परमतदूषणेन स्वमतदृढीकरणम्।

किसी को इसमें एक शंका यह होती है कि, ऊपर कही प्रेम की अवस्थाएँ एवं अपने प्रिय पर दोषारोपण करना इत्यादि तो सब कुछ वैसे ही है, जैसे आमतौर पर लौकिकजीवन में भी होता ही रहता है, इन सब बातों से पुष्टिमार्ग का कौन सा उत्कर्ष या कौन सी विशेषता सिद्ध हुई ? तो इसके विषय में आचार्यचरण अग्रिमपंक्ति में कह रहे हैं।

इस पंक्ति में आचार्यचरण आज्ञा करते हैं - ऊपर कही प्रभुप्रेम में व्याकुल एवं उन्माद वाली अवस्थाओं की तुलना यदि आप सामान्य लौकिक अवस्थाओं से करते हैं, तो वह **कुसृष्टि** है अर्थात् आपका भ्रम है। क्योंकि "भगवान ही रस है(तैति० २-७-१)" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार भगवान स्वयं ही रसरूप हैं अतः रस की समस्त अवस्थाएँ भी भगवद्-रूप ही हैं। कारण कि रस तो विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव के समूह पर ही टिका हुआ है अतः भगवान एवं उनसे जुड़ी हुई रस की समस्त अवस्थाएँ भगवद्-रूप ही सिद्ध हुईं। इसी बात से इस मार्ग एवं इसमें कहे गये फल की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है॥ ७॥

अत्र केचिदस्मच्छ्रीमदाचार्यमार्गीया भगवदीया **यादृशी सेवने**ति मूले **सेवायां फलत्रयमिति** तद्विवरणे च पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदभिन्नमार्गसम्बन्धित्रिविधसेवानां क्रमेण फलत्रयमुक्तमिति व्याचक्षते। **तच्चिन्त्यम्**। एवं सति मूले **यादृशी सेवने**त्यत्र तद्विवरणे च सेवायामित्यत्र चैकवचनं श्रीमदाचार्यैर्न दत्तं स्यात्। मूले कदाचिच्छन्दोनुरोधेनैकवचनदानेपि विवरणे सेवासु फलत्रयमिति बहुवचनमेवोक्तं स्यात् ; विवरणस्य मूलाभिप्रायप्रकटनार्थमेव क्रियमाणत्वात्। अतो मूलविवरणयोरेकवचनदानान्यथानुपपत्त्या तत्रत्यैकवचनाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गसेवाफलमात्रनिरूपणमेवात्र श्रीमदाचार्यचरणानामभिप्रेतं स्वीयमात्रेभ्यो ज्ञापनार्थमिति ज्ञायत इति सारम्।

श्रीमदाचार्यचरणों के मार्गानुगामी कुछ भगवदीय ऐसे भी हैं, जो इस ग्रंथ के आरंभ में कहे **यादृशी सेवना** इत्यादि पदों की व्याख्या यों करते हैं कि - आचार्यचरणों ने इन पदों से पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा मार्ग के भेद से तीन प्रकार की सेवा के तीन प्रकार के तीन फल कहे हैं ; आईए , तनिक इस व्याख्या पर थोड़ा विचार करें। यदि तीन प्रकार के सेवा वाली यह व्याख्या सही होती तो आचार्यचरणों ने मूलग्रंथ में "**यादृशी सेवना**" एवं विवरण में भी "**सेवायां फलत्रयम्**" इन दोनों पदों में एकवचन का प्रयोग न किया होता अपितु बहुवचन का प्रयोग किया होता। चलो, एक घड़ी मान लें कि, कदाचित् छंद न बिगड़ जाय इसलिये आचार्यचरणों ने मूलग्रंथ में एकवचन का प्रयोग कर भी दिया होगा परंतु विवरण में तो छंद बिगड़ जाने जैसा कोई बंधन नहीं था, फिर विवरण में तो बहुवचन का प्रयोग कर देते ? आखिरकार विवरण तो आपश्री ने मूलग्रंथ के वास्तविक आशय को समझाने के लिये ही लिखा है किंतु आपश्री ने विवरण में भी बहुवचन का प्रयोग न करके एकवचन का ही प्रयोग किया है। अतः दोनों ही स्थानों पर एकवचन के प्रयोग से सिद्ध होता है कि, आपश्री को इस ग्रंथ के माध्यम से केवल शुद्धपुष्टिमार्गसेवाफल का ही निरूपण करने की चाहना है और वह भी केवल स्वीयजनों के लिये, यह सार है।

अन्ये त्वेतन्मार्गीया भगवदीया मूलविवरणोक्तैकवचनानुरोधेन शुद्धपुष्टिसेवाफलत्रयमेवात्र श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमधिकार-भेदेनोत्तमत्वमध्यमत्वसाधारणत्वभेदभिन्नम्। तत्रोत्तमं **फलमलौकिकसामर्थ्यम्** , तत्तु सेवायां क्रियमाणायामेव प्रभुसम्पादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभवसामर्थ्यं प्रमाणाननुरोधिप्रमेयसाध्यम् , यथा रासमण्डलमण्डनायमानानाम् , मध्यमं फलं तु **सायुज्यम्**। तत्तु सह युनक्तीति सयुक् , सेवायां क्रियमाणायामेव भगवता सह सततस्थितिः सार्वदिकसंयोगरसानुभव इति यावत्। तथा च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपुण्यपापक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकं देहं निवर्त्यालौकिकं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रभुकारितस्वलीलानुभवरूपं प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्यम् , यथा लक्ष्म्या अन्तर्गृहगतगोपिकानां वा। अत्र मध्यमत्वं चास्य फलस्य विप्रयोगरसानुभवाभावाज्ज्ञेयम्। साधारणं फलं तु **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु**। तत्तु सेवायां क्रियमाणायामेवानु-ग्रहविशेषाभावात् साक्षात्सेवानुपयोगेन्यैस्तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः **सेवाया उप समीपे योगः** सम्बन्धस्तद्वच्छरीरप्राप्तिस्तद्रूपम् , यथा वृन्दावनस्थपक्ष्यादीनाम्। तस्य चान्तररमणानुकूलत्वात्फलत्वम् बहिःसाक्षात्सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वं च ज्ञेयमिति वदन्ति।

इसके अतिरिक्त इस मार्ग के कुछ अन्य भगवदीय मूल एवं विवरण में सेवा शब्द में प्रयुक्त हुए एकवचन के आधार पर यह कहते हैं, कि श्रीमदाचार्यचरणों को इस ग्रंथ में शुद्धपुष्टिसेवा का फल ही बताना है, जो अधिकारिभेद से उत्तम-मध्यम- एवं जघन्य यों तीन प्रकार का फल है। इन तीनों प्रकार के भेद में से उत्तमफल वे **अलौकिकसामर्थ्य** प्राप्त होना बताते हैं, जो सेवा करते समय केवल प्रभुकृपा से प्राप्त हुए अलौकिकशरीर से उनके स्वरूप का अनुभव करने की सामर्थ्य है ; जैसे कि रासमंडल की गोपिकाओं को प्राप्त हुआ। सायुज्य को वे मध्यमफल बताते हैं। सायुज्य शब्द की "सह युनक्तीति सयुक्" इत्यादि प्रकार से व्याख्या करके व

ये कहते हैं कि - सायुज्य का अर्थ भगवत्सेवा करते समय ही भगवान के संग सतत रहना एवं सर्वदा संयोगरस का अनुभव करना है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे वे कहते हैं कि भक्तिमार्गीय प्रकार से एक संग समस्त पापपुण्य का नाश करा के इस भौतिक शरीर की निवृत्ति करके और अलौकिक शरीर देकर पहले भगवान जीव को अपने भीतर स्थित कर लेते हैं एवं बाद में जब उन्हें लीला करने की इच्छा होती है तो उन्हें बाहर प्रकट करके मर्यादासहित अपने स्वरूप का अनुभव कराते हैं, जो अनुभव केवल भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है ; जैसे भगवान ने लक्ष्मीजी या अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को करवाया था। वे इस प्रकार के फल को मध्यमफल इसलिये बताते हैं, क्योंकि ऐसी अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को भगवान के विप्रयोग का अनुभव नहीं हो पाया था। इसके पश्चात् वे साधारणफल "सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु" को मानते हैं। इसके विषय में वे ये कहते हैं कि इस तीसरी कोटि के जीव साक्षात् भगवत्सेवा में उपयोगी नहीं होते अतः सेवा करने के समय ही इन्हें भगवान का विशेष अनुग्रह प्राप्त नहीं होता अतः भगवत्सेवा करते समय साक्षात् भगवद्-रस का अनुभव करने वाले जीवों के समीप में रहने लायक शरीर की इन्हें प्राप्ति होती है ; जैसे वृंदावन में रास के दर्शन पशु-पक्षियों ने किये थे, वैसे प्रकार के किसी शरीर की प्राप्ति हो जाती है। इस तीसरे फल को उन्होंने फल इसलिये कहा क्योंकि इसमें जीव के अंतर में भगवान रमण करते हैं एवं बाह्यरूप से साक्षात् प्रभु से संबंध न होता होने के कारण केवल अन्तररमण प्राप्त होने का अधिकार मिलने के कारण तीसरे फल को उन्होंने अधिकाररूप भी कहा।

तत्रान्तर्गृहगतानां मध्यमं फलमिति त्वस्मदाचार्यचरणसिद्धान्तविरुद्धम्। तथा हि। यद्यस्मदाचार्याणामेवमेवाभिप्रायः स्यात्तदा कुत्रापि दशमस्कन्धसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैस्तट्टिप्पण्यां च तत्तनुजवरैः स्फुटीकृतः स्यात्। न "चान्तर्गृहगताः काश्चि"दित्यस्याभासे "यासां कालः प्रतिबन्धकः, पूर्वमेव भक्तियुक्तास्ता भजनानन्दमननुभूयैव प्रतिबद्धा एव भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याहे"त्यत्रत्यसायुज्यपदेन, पुनरेतस्यैव पदस्य व्याख्यानान्ते "ततो मुक्ता जाता" इत्यारभ्य "तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि सङ्गता" इति पद्यव्याख्यानान्तप्रयुक्तैर्मुक्तापदैश्च मुख्यफलापेक्षया मुक्तिरूपफलस्यैव प्राप्तिकथनेनायमेवाभिप्रायः स्फुटीकृतः श्रीमदाचार्यचरणैरिति वाच्यम्। अत्रत्यसायुज्यपदमुक्तापदानां परोक्षवादरूपत्वमिति सायुज्यपदस्य भगवत्सहभावपरत्वेन मुक्तापदानां "जहुर्गुणमयं देह"मित्यत्रोक्तगुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तगुणातीतसंघातनिष्ठभगवद्रसानन्दानुभवविशिष्टत्वपरत्वेन च प्रयुक्तत्वात्।

अब, ये कुछ महानुभाव जो "अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मध्यमफल प्राप्त हुआ" यह कह रहे हैं, वह हमारे आचार्यचरणों के सिद्धांत से विरुद्ध है। यदि आचार्यचरणों का अभिप्राय यही होता तो आपश्री कहीं भी दशमस्कंध सुबोधिनी में अथवा तो उनके पुत्ररत्न श्रीगुसाईंजी अपनी टिप्पणी में यह बात अवश्य कहते, परंतु इन दोनों ने कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि, अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मध्यमफल प्राप्त हुआ। पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकता कि,- ["अन्तर्गृहगताः काश्चित् (सुबो० १०-२६-९)" इस श्लोक के विवरण में "जो अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ पहले ही प्रभुभक्ति से युक्त थीं परंतु भजनानन्द का अनुभव होने से पहले उन्हें काल का प्रतिबंध हुआ और वे भजनानन्द का अनुभव किये बिना घर में बँधी रह गयीं और उन्हें भगवान का सायुज्य मिला" इस वाक्य में आए "सायुज्य" पद के द्वारा अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मध्यमफल की प्राप्ति हुई है ; या फिर पुनः इसी पद के व्याख्यान के अंत में आचार्यचरणों ने "भगवान का सायुज्य पाकर फिर वे मुक्त हो गयीं" यह लिखा है एवं इस वाक्य से लेकर "तमेव परमात्मानं(सुबो० १०-२६-११)" इस वाक्य के व्याख्यान के अंत में प्रयुक्त हुए "मुक्त" पद से यह सिद्ध होता है कि उन्हें मुख्यफल की प्राप्ति न होकर मुक्तिरूप फल मिला, जिससे आचार्यचरणों ने अपना अभिप्राय स्पष्ट किया ही है कि, अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल प्राप्त हुआ।] - नहीं.... ! पूर्वपक्षी उपर्युक्त तर्कों से अपनी बात सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि पूर्वपक्षी केवल "सायुज्य" पद एवं "मुक्ता" पद के आधार पर ही अंतर्गृहगताओं को मध्यमफल की कोटि में रख रहे हैं परंतु मेरा कहना यह है कि, यहाँ "सायुज्य" एवं "मुक्ता" ये दोनों पद आचार्यचरणों ने परोक्षरूप से कहे हैं अर्थात् इन दोनों पदों से आपश्री को कुछ और ही बात कहनी है। मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि, "सायुज्य" शब्द का अर्थ है - भगवान के संग रहना ; एवं "मुक्ता" पद से आपश्री का तात्पर्य यह है कि भागवत के "जहुर्गुणमयं(सुबो० १०-२६-११)इस वाक्यानुसार भगवद्विरह के ताप की अधिकता के कारण अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ अपनी गुणमय देह से मुक्त हो गयीं एवं तत्पश्चात् उन्हें गुणातीत देह के द्वारा भगवद्-रस का अनुभव हुआ। अतः मेरा कहना यह है कि, यहाँ "सायुज्य" एवं "मुक्ता" पद से वो सामान्य मुक्ति वाला अर्थ मत लीजिए, जो पूर्वपक्षी ले रहे हैं।

न च पूर्वोक्तानां पदानां परोक्षवादत्वे प्रमाणाभावः। "लक्षणा नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम्। आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृत" इति प्रथमस्कन्धीयसुबोधिनीप्रारंभप्रघट्टकपद्यस्थ"परोक्षकथनादृत" इति श्रीमदाचार्यप्रतिज्ञाया एव प्रमाणत्वात्।

अस्यार्थः। अहं श्रीभागवते कुत्रापि लक्षणां नैव वक्ष्यामि, न कथयिष्यामि। लक्षणा हि मुख्यार्थबाधे भवति, तत्रात्र प्रतिपाद्यस्य भगवतः सर्वशक्तिमत्त्वेन सर्वभवनसमर्थत्वेन मुख्यार्थबाधाभावात्। "पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि युक्तिभि"रिति गौतमस्मृतिवचनेन पुराणेषु लक्षणावृत्त्याश्रयणस्य निषिद्धत्वाच्च। अथ च न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनत्वं प्राप्य भावप्रधानो निर्देशो, ल्यब्लोपे पञ्चमी।

पूर्वपक्षी यह तर्क भी नहीं दे सकता कि, आचार्यचरणों ने उपर्युक्त प्रकार से सुबोधिनी में कोई बात परोक्षवाद से कही हो, इसका कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि स्वयं आचार्यचरणों ने प्रथमस्कंध की सुबोधिनी के आरंभ में ही "लक्षणां नैव(सु०-१-१-१ ; का०-६)" इस वाक्य द्वारा परोक्षवाद से भी कहने की प्रतिज्ञा की है, अर्थात् इस प्रतिज्ञावाक्य में आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि - "मैं भागवत का अर्थ करने में परोक्षकथन को छोड़ते हुए कहीं भी लक्षणावृत्ति से नहीं कहूँगा"। क्योंकि लक्षणावृत्ति से तो तब काम लिया जाता है, जब मुख्य अर्थ को समझने में कठिनाई या बाधा आती हो। ****** जब मुख्यवाक्य से कोई अर्थ स्पष्ट न होता हो, या तो असमंजसता हो रही हो, तो लक्षणावृत्ति का सहारा लेकर अर्थ स्पष्ट किया जाता है***** किंतु भागवत में प्रतिपादित हुए भगवान तो सर्वशक्तिमान एवं सभी कुछ करने में समर्थ हैं अतः भागवत के मुख्य अर्थ को समझने में बाधा आ ही नहीं सकती, फिर लक्षणा क्यों करें ? और, वैसे भी "पुराण, मनुस्मृति, वेद एवं आयुर्वेद में कही बातें आज्ञारूप होती हैं। इनमें जो कहा गया है, वही उचित है। इन चारों में कही बातों के अर्थ में अपनी दिमागी उपज से फेरबदल नहीं करना चाहिए" इस गौतमस्मृति के वचनानुसार पुराणों का अर्थ करने में लक्षणावृत्ति का सहारा लेना निषिद्ध माना गया है। अतः भागवतपुराण में लक्षणावृत्ति से अर्थ नहीं किया जा सकता। आगे आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, - "ऐसा भी नहीं है कि यदि भागवत के अर्थ में कहीं कोई कमी दिखाई दी, तो अन्य किसी कथा का सहारा लेकर मैं खानापूर्ति कर दूँगा"। "न्यूनात्" शब्द में पंचमीविभक्ति है और व्याकरण के अनुसार "ल्यब्" प्रत्यय का लोप हो जाने से पंचमीविभक्ति हुई है। "ल्यब्" प्रत्यय का जहाँ लोप हो जाता है , वहाँ पंचमीविभक्ति आ जाती है।

यद्वा, न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनान्न्यूनं प्रमेयं प्राप्यान्यपूरणमन्येन पुराणान्तरेण पुराणानान्तरकथयेति यावत्तेन पूरणं श्रीभागवतस्य भगवदीयान्तरकृतश्रीभागवतव्याख्यान इव न वक्ष्यामि। यदि सा कथैतत्कल्पीया स्यात् तदा व्यासचरणैरेव निबद्धा स्यादतो न वक्ष्यामीति भावः।

अथवा तो आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, "जैसे अन्य किसी ने भागवत में कहे प्रमेय को न्यून मान कर अन्य पुराणों का सहारा लेकर उसका समाधान कर लिया है, वैसे मैं न तो भागवत के प्रमेय को न्यून मानूँगा और न ही अन्य पुराणों से उसकी खानापूर्ति ही करूँगा"। आचार्यचरण ऐसा इसलिये कह रहे हैं क्योंकि जिन अन्य कथाओं का सहारा लेकर वे भागवत की कथा की खानापूर्ति कर रहे हैं, वह कथाएँ यदि इस सारस्वतकल्प की होतीं तो क्या खुद व्यासजी ही उन कथाओं के विषय में न कह देते ? अतः जब खुद व्यासजी ने ही सारस्वतकल्प के अतिरिक्त अन्य कथाओं के विषय में नहीं कहा, तो आचार्यचरण कहते हैं कि - "मैं भी सुबोधिनी में अन्य पुराण की कथाओं का सहारा नहीं लूँगा"।

केचित्तु न्यूनाच्छब्दादर्थाच्चान्यस्य तस्य पूरणं नेत्यर्थः, अध्याहारं शब्दस्य वार्थस्य वा न करिष्यामीत्याहुः। तत्र "जन्माद्यस्ये"ति प्रथमस्कन्धीयाद्यश्लोक एव "धीमहि" इति तिङ्वाच्यकारकवाचिनोस्मच्छब्दस्य चाध्याहारदर्शनात् सोक्तिश्चिन्त्या, किन्त्वार्थिकं वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं प्रवक्ष्यामि प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि। अगोप्यत्वादिति भावः। परन्तु परोक्षकथनादृते परोक्षकथनमप्रत्यक्षकथनं वाचकशब्देतरशब्देन कथनं गोप्यकथनमिति यावत् तद्विहायेत्यर्थः। तथा च परोक्षकथनेनानधिकारिभ्यो गोपनार्थं लक्षणां लक्षणावृत्तिविशिष्टशब्दानथ च न्यूनं प्रमेयं प्राप्यान्येन पुराणान्तरेण पूरणं च वक्ष्यामि परन्तु तात्पर्यग्राहकलिङ्गादिसिद्धमेव, न तु तदसिद्धमपीत्येतावदधिकं बोध्यम्। तथैव सुबोधिन्यां दृश्यमानत्वात्। तादृक्कथायाः कल्पान्तरीयत्वात्। एतत्कल्पीयत्वे तु "गोप्यः संस्पृष्टसलिला अंगेषु करयोः पृथक्। न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत" , "इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिका" इत्यादिमन्त्रद्रष्टृत्वादिरूपलिङ्गं कुमारिकानामग्निकुमारत्वे, अथ च "तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता" इत्यत्रत्यजारबुद्धिरूपं लिङ्गमन्तर्गृहगतानां "जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकं। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे"ति बृहद्वामनोक्तभगवद्वरदानविशिष्टश्रुतित्वे च यथोक्तं तथोक्तमेव स्यादतो ज्ञायते तन्नैतत्कल्पीयमिति तादृशपुराणान्तरकथया पूरणं न करिष्यामीति ज्ञेयम्।

कंतु कुछ लोग इस विषय में आचार्यचरणों के लिये कहते हैं कि, - आचार्यचरणों का न्यून शब्द से यह आशय नहीं है कि, वे सुबोधिनी में अन्य पुराणों का सहारा नहीं लेंगे अपितु आपश्री का तात्पर्य यह है कि, "यदि मुझे किसी शब्द का अर्थ करने में कोई न्यूनता/कमी लगी तो किसी अन्य शब्द से उसकी खानापूर्ति नहीं करूँगा या दूसरे किसी शब्द या अर्थ की कल्पना नहीं कर लूँगा"। ऐसा कहने वाले लोगों का अर्थ भी ठीक नहीं है। क्योंकि खुद आचार्यचरणों ने भागवत के प्रथमस्कंध के "जन्माद्यस्य(भा० १-१-१)" इस प्रथमश्लोक में प्रयुक्त हुए "धीमहि" शब्द से "अस्मत्" शब्द का अध्याहार किया है।*****(तात्पर्य यह कि इस वाक्य में "धीमहि" शब्द क्रिया है परंतु इस क्रिया को करने वाला या इस क्रिया के कर्ता के बारे में इस श्लोक में स्पष्टतया नहीं कहा गया है। अतः कर्ता को स्पष्ट करने के लिये आचार्यचरणों ने इसकी सुबोधिनी में अपनी ओर से "अस्मत्(वयं)" शब्द को जोड़ लिया है और अर्थ करते हुए बताया है कि "धीमहि" क्रिया के कर्ता स्वयं व्यासजी हैं। विशेष जानने के लिये इसकी सुबोधिनी देखें। अर्थ यह कि सुबोधिनी के आरंभ में ही आचार्यचरणों ने शब्द का अध्याहार कर लिया है। मोटे रूप में अध्याहार करने का अर्थ होता है-मूलपाठ में जो शब्द या अर्थ स्पष्टतया न लिखा हो, उसे अपनी समझ से जोड़ कर अर्थ करना।)***** अतः समझिए कि आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि,- "शब्द से सामान्यरूप से प्रतीत होने वाले सही अर्थ को ही कहूँगा क्योंकि वह अर्थ गोपनीय नहीं है"। आपश्री "लक्षणा नैव" वाली कारिका में आगे कहते हैं - "परंतु जो अर्थ मुझे गोपनीय रखना होगा, उसे मैं अवश्य परोक्षरीति से कहूँगा अतः अनधिकारियों से उस भाव को छुपाने के लिये लक्षणावृत्ति से भी कहूँगा, अन्य पुराणों की कथाओं का सहारा भी लूँगा। हाँ, ये अवश्य है कि, यदि किसी श्लोक का अर्थ करने में मुझे लक्षणावृत्ति या अन्य पुराणों की कथाओं द्वारा खानापूर्ति करनी भी पड़े, तो उस भागवत के श्लोक में कोई न कोई ऐसा तात्पर्य बताने वाला शब्द तो कम से कम होना ही चाहिए, जिसके आधार पर मैं लक्षणावृत्ति या अन्य पुराणों की कथा से खानापूर्ति कर सकूँ; यह नहीं है कि जब चाहा, तब मनचाहे ढंग से लक्षणावृत्ति या अन्य पुराणों की कथाओं का सहारा ले लूँ" - यह आपश्री का तात्पर्य है। और आप खुद ही सुबोधिनी में देख लीजिए कि जहाँ भी आचार्यचरणों ने सारस्वतकल्प के अतिरिक्त अन्य कल्पों की चर्चा की है, वहाँ परोक्षरूप से अर्थ करने के लिये ही की है। अब जैसे उदाहरण के लिये जहाँ भागवत में "गोप्यः संस्पृष्टसलिला(भा० १०-६-२१)" एवं "इति मन्त्रं(भा० १०-२२-४)" इत्यादि श्लोकों में आचार्यचरणों ने किसी अन्य पुराण की कथा के आधार पर कुमारिकाओं को पूर्वजन्म के अग्निकुमार या ऋषि बताया है, वहाँ भले ही इसमें आपश्री ने अन्य पुराण की कथा का सहारा लिया परंतु मनगढ़ंत रूप से नहीं लिया अपितु स्वयं इस वाक्य में इन कुमारिकाओं के लिये यह कहा गया है कि, वे मंत्र बोल रही थीं। अब आप ही बताइये कि अनपढ़, गाँव की गोपिकाएँ वेद में कहे मंत्रों का उच्चारण कैसे कर सकती हैं ? अतः उनके मंत्र बोलने के आधार पर ही आचार्यचरणों ने इन्हें अन्य पुराण की कथा का सहारा लेकर इन्हें पूर्वजन्म के ऋषि बताया और इन्हें मंत्रद्रष्टा कहा। क्योंकि मंत्रद्रष्टा *****(जो मंत्रों के भीतर रहनेवाले देवता का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकें)***** तो ऋषि ही होते हैं। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण यह है कि, भागवत के "हे परीक्षित्! इन गोपिकाओं को भगवान के प्रति जारभाव था(भा० १०-२९-११)" इस श्लोक में अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को जारबुद्धिवाली(भगवान को प्रेमी की भाँति चाहनेवाली) कहा है, तो आचार्यचरणों ने "जारबुद्धि" शब्द के प्रयोग से बृहद्वामनपुराण की कथा से इस बात का तालमेल बैठाया है। क्योंकि बृहद्वामनपुराण में खुद भगवान ने श्रुतियों को "तुम सारस्वतकल्प में जारधर्म के द्वारा मुझे प्राप्त करके कृतार्थ बनोगी" इस प्रकार से वरदान दिया था। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि, आचार्यचरणों ने सुबोधिनी में यदि किसी अन्यपुराण की कथाओं का सहारा लिया भी है, तो वह किसी न किसी शब्द या ठोस बात के आधार पर लिया है, मनमाने ढंग से नहीं। आपश्री की इन्हीं बातों से ज्ञात होता है कि, जहाँ कहीं भी कोई ऐसा ठोस आधार मिलेगा वहीं आप अन्य पुराणों की कथाओं का आश्रय लेंगे, सर्वत्र नहीं।

अथ च परोक्षकथने वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं न प्रकृष्टत्वेन वक्ष्यामि किन्तु गोप्यत्वात् प्रकटतया न कथितमीदृशं तात्पर्यवृत्त्या सिद्धमप्यर्थं वक्ष्यामीति भावो ज्ञेयः। एवञ्च फलप्रकरणीयलीलायामतिगोप्यत्वादुपक्रमे फलप्रकरणीयसुबोधिनीस्थसायुज्यमुक्तापदा"न्युक्तं पुरस्ता"दित्यारभ्य "यत एतद्विमुच्यत" इत्यन्तं मध्ये प्रयुक्तानि मुक्तिमुच्यतइत्यादिपदानि, अथ च रासलीलोपसंहारे च "ब्रह्मरात्र उपावृत्त" इतिपद्यव्याख्याने "यतो भगवान् मोक्षदाता ताश्चेदासन्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति

वासुदेवानुमोदिता" इत्यत्रत्यमोक्षपदं च न लोकप्रसिद्धलयरूपसायुज्यपरत्वेन लयरूपमुक्तिविशिष्टत्वपरत्वेन लयरूपमोक्षपरत्वेन च न प्रयुक्तानि, किन्तु परोक्षवादेन भगवत्सहस्थितिपरत्वेन गुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तालौकिकदेहनिष्ठभगवद्रसानुभवविशिष्टत्वपरत्वेन विप्रयोत्तरप्राप्तभगवद्दर्शनानन्दपरत्वेन च प्रयुक्तानीति ज्ञेयम्।

और आपश्री आज्ञा करते हैं कि - "जहाँ मुझे परोक्षरीति से कहना है, वहाँ सीधे-सीधे वाक्य का अर्थ नहीं करूँगा परंतु वह भाव गुप्त होने के कारण उस ढंग से कहूँगा, जिस ढंग से केवल उसका तात्पर्य समझा जा सके। इसलिये यह बात अच्छी तरह समझ लें कि, फलप्रकरण वाली भगवान की लीला तो अति गुप्त है अतः सुबोधिनी में इसकी विवेचना के आरंभ में ही प्रयुक्त हुए "सायुज्य" एवं "मुक्ता" पद ; एवं मध्य में "उक्तं पुरस्ताद्(सुबो० १०-२६-१३)" इस वाक्य से लेकर "एतद् विमुच्यते(सुबो० १०-२६-१६)" इस वाक्य तक प्रयुक्त हुए "मुक्ति" एवं "मुच्यते" पद का अर्थ वो सामान्यरूप से लोक में प्रचलित मुक्ति हो जानी या मोक्ष मिल जाना नहीं है। ठीक इसी प्रकार रासलीला की समाप्ति में "ब्रह्मरात्र उपावृते(सुबो० १०-३०-३९)" इस पद्य के व्याख्यान में भी जो आचार्यचरणों के "यतो भगवान मोक्षदाता" इस वाक्य में मोक्ष या मुक्ति की बात कही गयी है , उसका अर्थ वह लोकप्रसिद्ध ब्रह्म में विलीन हो जाने वाला सायुज्य या फिर लौकिकदेह छूटकर आत्मा या ब्रह्म में विलीन होकर मुक्ति मिल जानी या फिर मोक्ष मिल जाने के अर्थ में नहीं कही है ; किंतु परोक्षवाद से मुक्ति का अर्थ यह कहा है कि, उन अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को भगवान का संग प्राप्त हुआ , उन्होंने अपनी गुणमय देह त्यागी एवं तत्पश्चात् अलौकिकदेह प्राप्त करके भगवद्-रस का अनुभव किया एवं भगवद्-विप्रयोग के पश्चात् उन्हें भगवद्-दर्शन का आनंद प्राप्त हुआ।

पञ्चाध्यायीव्याख्यानस्थसायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानि परोक्षवादरूपाणीति ज्ञापयितुमेव पञ्चाध्यायीसमाप्तिश्लोकव्याख्यानीय-श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतफलप्रकरणीयसुबोधिनीटिप्पण्यां व्याख्यातं "दिवा विप्रयोगजातौ सत्यां दिनान्ते प्रियसङ्गमे य आनन्दो, न स सर्वदा दर्शन इति सोत्र मोक्षपदेनोच्यत" इति मोक्षपदस्य तादृगानन्दपरत्वमेव। एवञ्च सायुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानां परोक्षवादत्वं सिद्धम्। अन्यथा "न चैवं विस्मय" इति पद्यव्याख्याने "एतत्परिदृश्यमानं जगत् सर्वमेव यतो विमुक्तिं यास्यति, भावनया गोकुले स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या वे"त्यत्र विमुक्तिपदस्योपसंहारश्लोकव्याख्याने श्रीमदाचार्यचरणैर्मोक्षपदस्य चोक्तत्वाद्रासमण्डलमण्डनायमानानां च लोकप्रसिद्धमोक्षप्राप्तिर्विंशाध्याये यज्ञपत्नीप्रसङ्गीये"तत्रैका विधृता भर्त्रे"तिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्या"मतस्तस्या मुक्तिः सिद्धे"त्युक्तत्वाद्द्वि-प्रभार्याया अपि मोक्षप्राप्तिरंगीक्रियताम्। तस्मात् परोक्षवादरूपाण्येवात्र सायुज्यादिपदानीति न लोकप्रसिद्धमोक्षरूपमध्यमफल-प्राप्तिरन्तर्गृहगतानामिति बोध्यम्।

और, रासपंचाध्यायी के व्याख्यान में आचार्यचरणों ने जो "सायुज्य", "मुक्ता" , "मुक्ति" , "मोक्ष" इत्यादि पदों का प्रयोग किया है, वह परोक्षरूप से किया है - यही बताने के लिये ऊपर वाले(अर्थात् सुबो० १०-३०-३९ वाले)रासपंचाध्यायी की समाप्ति के श्लोक के व्याख्यान में श्रीमदाचार्यचरणों के पुत्ररत्न श्रीगुसाईंजी ने "दिवा विप्रयोग" इस वाक्य में मोक्ष पद का अर्थ प्रभु के संयोगसुख का आनंद ही बताया है। इन सभी बातों से सिद्ध होता है कि, आचार्यचरणों ने "सायुज्य-मुक्ता-मुक्ति-मोक्ष" इत्यादि पद परोक्षरीति से कहे हैं , अतः इन पदों का तात्पर्य लोकप्रचलित मुक्ति हो जानी नहीं है। यदि आप इन "मोक्ष-मुक्ति-मुच्यते" इत्यादि पदों का अर्थ सामान्यरूप से लोकप्रचलित मुक्ति या लौकिकमुक्ति मान लेंगे तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। क्योंकि आचार्यचरणों ने "न चैवं(सुबो० १०-२६-१६)" इस पद्य का व्याख्यान करते समय "एतद् ..... ज्ञानदृष्ट्या वा" इस वाक्य में गोकुल गाम के लिये भी "मुक्ति" पद का ही प्रयोग किया है अतः फिर तो गोकुल की भी सामान्यरूप से लोकप्रचलित मुक्ति या लौकिकमुक्ति हो गयी, यह मान लेना पडेगा। और तो और, रासमंडल की गोपिकाएँ भी तो गोकुल में ही रहती थीं अतः जब पूरे कि पूरे गोकुल की ही मुक्ति हो गयी ये मान लिया गया तो फिर गोकुल में ही रहने वाली रासमंडल की अलौकिक गोपिकाओं की भी लौकिकमुक्ति हो गयी, यह भी मान लेना पड़ेगा। इतना ही नहीं , भागवत के दशमस्कंध के बीसवें अध्याय में जो यज्ञपत्नीप्रसंग आया है, वहाँ के "तत्रैका(सुबो० १०-२०-३४)" इस पद्य के व्याख्यान में भी आचार्यचरणों ने उस यज्ञपत्नी के लिये "अतस्तस्या मुक्तिः" इस वाक्य में "मुक्ति" शब्द का प्रयोग किया है अतः उसकी भी वही लौकिकमुक्ति हुई , यह मान लेना पड़ेगा जो कि सरासर अनुचित है। अतः आचार्यचरणों ने सायुज्य-मुक्ता-मुक्ति-मोक्ष इत्यादि पद परोक्षवाद से ही कहे हैं एवं इनका तात्पर्य लौकिकरूप से मुक्ति हो जानी नहीं है। साथ ही साथ यह भी सिद्ध होता है कि अन्तर्गृहगतागोपिकाओं को भी लोकप्रसिद्ध सामान्यमुक्तिरूपी मध्यमफल प्राप्त नहीं हुआ था।

ननु मुक्तिवाचकपदैरेवात्रपरोक्षवादकरणे किं बीजमिति चेत् ? श्रीभागवतमेव बीजमिति गृहाण। तथाहि। "न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यज" इतिपद्येग्रे "यत एतद्विमुच्यत" इतिपदमुच्यते, तेन च सर्वस्यापि गोकुलस्य मुक्तिः प्रतिपाद्यते, न हि भवतापि सर्वस्य गोकुलस्य मुक्तिरंगीक्रियते लोकप्रसिद्धा। एवं च विमुच्यतइतिपदं परोक्षवादरूपमेव। तथा सति श्रीव्यासचरणैरत्र प्रकरणे मुक्तिवाचकपदैनैव परोक्षवादः कृत इति श्रीमदाचार्यैरपि मुक्तिवाचकपदैरेव परोक्षवादः कृत इति सुष्ठुक्तं श्रीभागवतमेव बीजमिति।

अब यहाँ सामने वाला व्यक्ति यह प्रश्न उठाता है कि, आखिर आचार्यचरणों ने सुबोधिनी में ऊपर कहे प्रसंगों में "मुक्ति" या "सायुज्य" इत्यादि पदों को ही क्यों परोक्षवाद से कहा, इनके अतिरिक्त अन्य किसी शब्दों को परोक्षवाद से क्यों नहीं कहा ? तो मैं इसका उत्तर यह दूँगा कि, यदि आचार्यचरणों ने ऐसा किया है तो, इसमें खुद भागवत ही मूल कारण है। जब भागवत में ही "मुक्ति" शब्द आया है, तो आचार्यचरण भी यदि मुक्ति इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर लें , तो क्या हानि है बताइये ? वह ऐसे कि "न चैवं विस्मयः(भा० १०-२९-१६)" इस पद्य के आगे इसी श्लोक के अंत में "यत एतद् विमुच्यते" यह पद कहे गये हैं, जिनका सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने यह अर्थ किया है कि पूरे के पूरे गोकुल की मुक्ति हो गयी। इसलिये समझिए कि स्वयं प्रश्नकर्ता भी तो यह नहीं ही मानना चाहेगा कि भगवान की लीलास्थली गोकुल की लोकप्रचलित सामान्यमुक्ति हो गयी ! अतः समझ लीजिए कि यहाँ कहा गया "मुक्ति" शब्द परोक्षरीति से कहा गया है और इस मुक्ति शब्द का अर्थ वह सामान्यरूप से प्रचलित मुक्ति नहीं है। अब यदि श्रीव्यासचरण ही इस प्रकरण में "मुक्ति" शब्द का उपयोग करके परोक्षरीति से कह रहे हैं, तो आचार्यचरण भी यदि उसी आधार पर "मुक्ति" शब्द को परोक्षरीति से अपनी सुबोधिनी में प्रयोग कर दें, तो इसमें क्या अनुचित है बताईये ? अतः मैंने ठीक ही कहा कि, इसमें भागवत ही मूलकारण है।

ननु न वयमेवंरूपं मध्यमं फलं तासां वदामः, किन्तु प्रकारान्तरेण मध्यमफलं वदामः। तत्तु भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपापपुण्यक्षयद्वारा पाञ्चभौतिकं देहं निवर्त्य तदनन्तरं चालौकिकदेहं दत्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रभुः संयोगरसलीलानुभमेव कारयति, न तु विप्रयोगरसलीलारसानुभवम् ,एवं च रसरूपभगवत एकदलानुभवरूपं फलं मध्यममेव, द्वितीयदलानुभवाभावात्। मुख्यानां तु दलद्वयानुभवस्यापि जायमानत्वान्मुख्यं फलमिति चेत् ,

अब कोई पूर्वपक्षी मुझसे यहाँ एक दूसरी बात कहता है। **वह कहता है कि - नहीं !** ! आप जैसा समझ रहे हैं , उस ढंग से हम इन अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मध्यमफल प्राप्त होने की बात नहीं कह रहे हैं , हम इन्हें मध्यमफल प्राप्त होने की बात दूसरे ढंग से कह रहे हैं। और वह प्रकार यह है कि, सर्वप्रथम तो भगवान भक्तिमार्गीय प्रकार से एकसाथ जीवों के समस्त पापपुण्यों का क्षय करके उसकी पांचभौतिक देह का निवर्तन करके उसे अलौकिक देह देकर अपने भीतर समाहित कर लेते हैं। फिर जब उन्हें लीला करनी होती है , तब उन्हें बाहर प्रकट करके संयोगरस की लीला का अनुभव कराते हैं। किंतु विप्रयोगरस की लीला का अनुभव उन्हें नहीं हो पाता। इसलिये खुद रसरूप भगवान की लीला के केवल एक संयोगदल का अनुभव करना तो मध्यमफल ही है क्योंकि उन्हें द्वितीयदल विप्रयोगरस का अनुभव तो हुआ ही नहीं ! किंतु दूसरी ओर भगवान के संग रास करने वाली मुख्य गोपिकाओं को तो संयोग-विप्रयोग दोनों रसों की प्राप्ति हुई है अतः इस आधार पर हम कह रहे हैं कि, रासस्थ गोपिकाओं को मुख्यफल मिला एवं अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मध्यमफल।

अत्र पृच्छामः। अलौकिकदेहप्राप्त्यनन्तरं भगवत्कृता स्वस्मिन् स्थितिस्तासां केन रूपेण, सार्वदिकलयरूपेण वा, रसव्यभिचारिभावलयरूपेण वा, "सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् तत" इति श्रीमदाचार्यसिद्धान्तितभेदविशिष्टसायुज्यरूपेण वा, सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन वा, "चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे, कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यज" इत्यत्रोक्तानां स्वाङ्गीकृतात्मनां तत्त्वरूपकण्ठस्थितकौस्तुभे लयरूपेण वा, लक्ष्मीवद्वक्षस्थलस्थितिरूपेण वा, शिवोमावदर्धनारीश्वररूपेण वा, पूतनासुपानसमानीतभगवदुदरस्थितपूतनाभक्षिताग्निकुमाररूपकुमारीपुंस्त्वधर्मरूपबालकवद्वा।

यदि पूर्वपक्षी ऐसी बात कहे तो मैं सर्वप्रथम तो उससे कुछ पूछना चाहूँगा। मैं पूछता हूँ कि, आपने जो ये कहा कि अलौकिक देह देकर भगवान इन जीवों का अपने भीतर लय कर देते हैं या भगवान इन्हें अपने भीतर समाहित कर लेते हैं , वह कैसे और किस प्रकार से करते हैं पहले तो ये बताइये। (१) क्या जैसे लोकप्रचलित सामान्य मोक्ष में होता है कि आत्मा ब्रह्म में मिल जाती है, वैसे ? (२) या फिर रसव्यभिचारिभावलयरूप से कि जिसका प्रकार यह है कि, विरहावस्था इतनी अधिक तीव्र हो जाती है कि नायक या नायिका एक दूसरे का स्मरण करते-करते ये ही समझ बैठते हैं कि मैं ही नायक हूँ या मैं ही नायिका हूँ ; वे अपने आप

को एक-दूसरे से भिन्न नहीं मानते किंतु एकमेक ही मानते हैं, क्या वैसे ? (३) या फिर आचार्यचरणों के "सायुज्य में रस की अधिकता है क्योंकि इसमें जीव ब्रह्म में एकाकार न होकर भेद रखते हुए समस्त इंद्रियों से भगवत्सुख भोगता है(भा०प्र० ४-१५५)" इस वाक्य में कहे सिद्धांत के अनुसार जहाँ जीव भगवान में एकमेक न होता हुआ अलग रह कर भगवान के आनंद का अनुभव करता है , वैसे ? (४) या फिर मुक्त जीव भौतिकदेह का त्याग करके सर्वदा भगवान के कंठ से लगे रहते हैं , वैसे ? (५) या फिर "भगवान के कंठ में सुशोभित संपूर्णजीवों के तत्त्वरूप कौस्तुभ मणि का ध्यान करे(भा० ३-२८-२८)" इस वाक्यानुसार भगवान के कंठ में धारण की गयी कौस्तुभमणिरूप हो जाते हैं, जो मुक्त जीवों का स्वरूप है , वैसे ? (६) या फिर जैसे लक्ष्मीजी का निवास भगवान के वक्षस्थल पर है, वैसे उनकी स्थिति भी क्या भगवान के वक्षस्थल पर हो जाती है ? (७) या फिर शंकर-पार्वतीरूप भगवान शंकर के अर्धनारीश्वररूप के जैसे वे मुक्त होकर भगवान से जुड़ जाते हैं ? (८) या फिर वे भगवान के मुख में समाहित हो जाते हैं, जैसे कि भगवान ने पूतना का वध करते समय कुमारिकाओं के पुंभावरूपी बालकों को अपने उदर में समाहित कर लिया था ? बताइये, आपके अनुसार इन आठ प्रकारों में से कौन से प्रकार से जीवों का भगवान में लय होता है ?

तत्र नाद्यः। पुरुषोत्तमे सार्वदिकलयरूपेण स्थितिस्तु केवलजीवात्मनामेव, सा त्वेतासामसम्भावितैवालौकिकदेहप्राप्तिप्रविष्टत्वात् , न हि शरीरविशिष्टानां लयः कुत्रापि वेदादौ श्रुतोस्ति। पुरुषोत्तमे लयस्य पुरुषोत्तमविषयकमर्यादाभक्तिफलत्वाच्च। भवद्भिस्त्वेतासां शुद्धपुष्टिमार्गीयमध्यमफलविशिष्टत्वं सिद्धान्तितमस्ति।

इनमें से पहला वाला प्रकार तो संभव नहीं हो सकता क्योंकि आप जिस लोकप्रचलित सामान्य मोक्ष की बात कर रहे हैं , वैसा मोक्ष तो केवल जीव की आत्मा का होता है , जीव की देह का नहीं। जबकि अन्तर्गृहगता गोपिकाओं के लिये ये कहना तो संभव ही नहीं है कि उनकी आत्मा ब्रह्म में विलीन हो गयी थी क्योंकि उन्हें तो अलौकिकदेह की प्राप्ति हुई थी। और भगवान में देह या शरीरसहित जीव या आत्मा का लय हो गया हो, ऐसा तो वेद या शास्त्रों में हमने कहीं भी नहीं सुना है। और चलो एक घड़ी मान भी लें कि, अन्तर्गृहगताओं की सीधे-सीधे देह का ही भगवान में लय हो गया किंतु ध्यान रहे कि पुरुषोत्तम में लय हो जाना तो पुरुषोत्तम की मर्यादाभक्ति का फल है और आप तो इन अन्तर्गृहगताओं को शुद्धपुष्टिमार्गीय मध्यमफल प्राप्त होने की बात कर रहे हैं , तो बताइये इन दोनों विरुद्ध बातों का आपस में तालमेल ही कैसे बैठ सकता है ?

न द्वितीयः। एतादृशलयस्यास्माभिरप्यत्राङ्गीक्रियमाणत्वात्। न च तर्हि मध्यमफलप्रसक्तिः। एतादृशलयस्य रासमण्डलमण्डनायमानास्वप्यासावहमित्यादौ दृष्टत्वेन तत्समकक्षत्वान्मध्यमफलत्वाभावात्। न तृतीयः। तादृशसायुज्यस्य मर्यादापुष्टिफलत्वात्।

दूसरा प्रकार जो तीव्र विरहावस्था में एकदूसरे का स्मरण करते-करते परस्पर एकदूसरे को भिन्न न मानते हुए एक मान लेने वाले रसव्यभिचारिभावरूपलय का प्रकार बताया था, उसके लिये तो मैं खुद भी मान रहा हूँ कि गोपिकाओं का ऐसा लय भगवान में हुआ है परंतु इस प्रकार का लय तो अन्तर्गृहगता गोपिकाओं का भी हुआ है एवं मुख्यफलवाली रासस्थ गोपिकाओं का भी ; अतः जब दोनों का लय एक ही प्रकार से हुआ तो रासस्थ गोपिकाओं को मुख्यफल एवं अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल ये भेदभाव क्यों ? अतः यह प्रकार भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। तीसरा प्रकार भी संभव नहीं क्योंकि भगवान से भिन्न रहते हुए सायुज्य पाना तो मर्यादापुष्टि का फल है एवं अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ तो शुद्धपुष्टि के अंतर्गत आती हैं।

न चतुर्थः। सर्वदा कण्ठलग्नत्वेन स्थिते रसाभासरूपत्वात्। न पञ्चमः। देहविशिष्टत्वेन तत्रापि लयासम्भवात्। न षष्ठसप्तमौ। तत्र प्रमाणाभावात्। शिवोमयोरर्धनारीश्वररूपेण स्थितौ च निखिलपुराणेतिहासादीनां प्रमाणत्वान्न तथात्र प्रमाणमस्ति।

चौथा भगवान के कंठ में लगे रहने वाला प्रकार भी उचित नहीं है क्योंकि भगवान के इतने निकट हो जाने पर भी स्वरूपानन्द या भजनानन्द की प्राप्ति तो हुई नहीं, केवल कंठ में ही लटके रह गये ; ये तो उल्टे रसाभास हो गया। पाँचवाँ कौस्तुभमणि वाला प्रकार भी संभव नहीं है क्योंकि अन्तर्गृहगताएँ तो अलौकिकदेह वाली हैं , वे देहसहित कौस्तुभमणिरूप कैसे बन सकती हैं ? ठीक इसी प्रकार वक्षस्थल पर लक्ष्मीजी वाला प्रकार एवं अर्धनारीश्वर वाला छठा एवं सातवाँ प्रकार भी संभव नहीं है क्योंकि इन दोनों प्रकार के लय का कहीं कोई भी प्रमाण ही नहीं मिलता , जबकि समस्त पुराण-इतिहास में शंकर पार्वती के अर्धनारीश्वर का प्रमाण तो मिलता ही है परंतु पूर्वपक्षी के कहे अनुसार अर्धनारीश्वर की भाँति जीव एवं भगवान का लय/एकाकार हो जाने की बात का कोई प्रमाण नहीं है।

न चार्धनारीश्वरवदेतासां स्थितौ "त्वर्धं शोणमथार्धमम्बुदनिभं बद्धं ललाटे स्रजा बर्हाकल्पतया विलाससदनं स्त्रीपुंमयं वाङ्मयम्। हस्तैर्वेणुवराभयानि दधतं लावण्यवारांनिधिम्। ध्यायामि स्मितशोभितास्यकमलं गोपालचूडामणि"मितिसुन्दरीगोपालमन्त्रसम्बन्धिध्यानप्रतिपादकागम एव प्रमाणमिति वाच्यम्। "अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी"ति श्रुतौ यज्ञसम्बन्धयुक्तायाः स्वविवाहिताया एवार्धत्वमुक्तमिति लक्ष्म्या एवार्धनारीत्वेन स्थितिरागमेन प्रतिपाद्यते न त्वेतासाम् , स्वविवाहितत्वाभावेन पत्नीत्वाभावादित्यस्या अपि भवदुक्तेरनवकाशात्।

पूर्वपक्षी " त्वर्धं शोणमथार्धमम्बुदनिभं " श्लोक का उदाहरण देकर भी अर्धनारीश्वर वाले लय की बात सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि इस श्लोक में जो अर्धांगिनी वाली बात कही गयी है , उसके बारे में तो " अर्धो वा एष " इस श्रुति के अनुसार यह समझ लीजिए कि, यज्ञ में पति के संग बैठ सकने वाली विवाहिता पत्नी को ही अर्धांगिनी कहा जाता है अतः भगवान की विवाहित पत्नी श्रीलक्ष्मीजी को ही उनकी अर्धांगिनी माना जायेगा ; अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ कोई भगवान की विवाहित पत्नियाँ थोड़े ही हैं कि उन्हें अर्धांगिनी का दर्जा देकर अर्धनारीश्वररूप में उनका लय मान लिया जाय ? अतः पूर्वपक्षी का यह तर्क भी व्यर्थ का है।

नाप्यष्टमः। तेषामपि केवलजीवरूपाणामेव स्वोदरे पूतनया समानयनम् , न तु बालकदेहसहितानाम् , तदनन्तरं भगवतापि तदसुपानद्वारा तादृशानामेव स्वोदरे समानयनम् , पश्चाद्वयस्यैरागतस्तत्रेत्यत्र व्रतचर्याप्रसङ्गे त्वलौकिकदेहं दत्वा तल्लीलाप्रदर्शनं कारितवानिति निश्चयस्य दृढतरत्वेनास्यापि दृष्टान्तत्वाभावात्। शरीरविशिष्टानामेव तेषां स्वोदरानयनमित्यस्य कण्ठरवेणाश्रूयमाणत्वात् , प्रत्युत षष्ठदशमस्कन्धीयाध्यायसुबोधिन्यां "तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतोर्थ" इत्यनेन केवलजीवानामेवानयनस्य श्रीमदाचार्यैरुक्तत्वाच्च।

पूर्वपक्षी यदि आठवें प्रकार का हवाला देना चाहे, तो वह भी गलत है। क्योंकि भगवान ने जब पूतना के प्राण खींचे, तो बालकों की जीवात्मा को ही खींचा था और तब भगवान ने भी उसके हृदय में स्थित उन बालकों की जीवात्माओं को ही अपने भीतर समाहित किया था, उनकी देह को नहीं। तत्पश्चात् "भगवान कुमारिकाओं की साधना सफल करने के लिये यमुना तट पर गये(सुबो० १०-१९-८)" इस श्लोकानुसार व्रतचर्या के प्रसंग में उन्हीं बालकों की जीवात्माओं के अंतर्गत रहे हुए पुंभावों को वस्त्ररूप में भगवान ने गोपिकाओं को देकर उन्हें अलौकिक देह देकर लीला की थी अतः इस दृढ़तर सत्य के सामने पूर्वपक्षी के पास अब कोई दूसरा तर्क नहीं रह जाता। इसका कारण यह कि पूतना ने कालकूट विष द्वारा उन बालकों को शरीरसहित ही अपने भीतर खींच लिया, ऐसा कहीं भागवत में लिखा नहीं है। और, उल्टे आचार्यचरणों ने तो अपने व्याख्यान में "पूतना ने जिन बालकों के जीव निगल कर अपने मर्मस्थान में स्थापित कर लिये थे, उन जीवों को भगवान ने अपने भीतर लेने के लिये उसके स्तनों का निष्पीडन किया(सुबो० १०-६-११)" इस वाक्य द्वारा केवल उनके जीवों को ही निगल जाने की बात कही है। इस सुबोधिनीवाक्य से भी ज्ञात होता है कि, पूतना ने उन बालकों की जीवात्मा का ही भक्षण किया था, उनके शरीरों का नहीं।

न च लालनमृद्भक्षणलीलाप्रदर्शितस्वमुखस्थसर्वव्रजे भगवति देहसहितानामपि स्थितिरस्त्येव, एवं चालौकिकदेहसहितानामप्येतासां स्थितिर्नासम्भावितेति वाच्यम्। स्वमुखारविन्दप्रदर्शितसर्वव्रजे रासमण्डलमण्डनायमानानामपि स्थितत्वात् तासामपि मध्यमफलप्राप्तेर्वक्तुं शक्यत्वादिति न किञ्चिदेतत्।

पूर्वपक्षी यह तर्क भी नहीं दे सकता कि, भगवान ने जब मिट्टि खायी थी एवं माता यशोदा के कहने पर मुखारविंद खोला तो भगवान के मुखारविंद में माता यशोदा को समस्त व्रजमंडल के दर्शन हुए थे अतः जब पूरे के पूरे व्रजमंडल के ही दर्शन हो गये तो व्रजमंडल में रहने वाले समस्त व्रजवासी, गोपिकाओं के भी दर्शन हुए ही , इसलिये इस बात से यह सिद्ध होता है कि, केवल आत्मा ही नहीं परंतु जीव देहसहित भी भगवान में समाहित हो सकते हैं ; और इसी कारण अलौकिकदेहधारी अन्तर्गृहगता गोपिकाओं की भी भगवान में समाहित हो जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। यदि पूर्वपक्षी ऐसा तर्क देता हो, तो फिर समझ लीजिए कि उसने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार कर अपने ही पक्ष का खंडन कर दिया। क्योंकि तब तो मैं प्रत्युत्तर में यह कहूँगा कि यदि भगवान के मुख में समस्त व्रजमंडल दिखाई दे गया था, समस्त व्रजवासी दिखाई दे गये थे तो अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ भी दिखाई दी ही होंगी एवं उनके साथ-साथ रासमंडल की गोपिकाएँ भी तो दिखाई दी ही होंगी ! फिर तो रासमंडल में पहुँच सकने वाली गोपिकाओं को भी मध्यमफल प्राप्त हुआ - यह कहना पड़ेगा। इस परिस्थिति में रासमंडल की गोपिकाओं को उत्तमफल एवं अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मध्यमफल प्राप्त होने की अलग-अलग बात पूर्वपक्षी कैसे कर सकता है बताइये ? जब समस्त व्रजमंडल,

समस्त व्रजवासी एवं समस्त गोपिकाओं की स्थिति भगवान के भीतर ही है , तो फिर सभी के सभी को उत्तमफल ही प्राप्त हुआ कहा जायेगा, उनमें से किसी को मध्यमफल और किसी को उत्तमफल ऐसा भेदभाव नहीं किया जा सकता।

अथ यद्यपि भगवतोऽचिन्त्यशक्तित्वात् केनापि प्रकारेणैतासां भगवति स्थितिः सम्भवेदपि, तथापि यद्येतासां मध्यमफलं स्यात् तदाऽचिन्त्यशक्तिमत्त्वपर्यन्तं धावना समञ्जसा स्यात् , तदेव तु खपुष्पायमाणम् , यत एतासां सगुणदेहत्यागोत्तरं निर्गुणदेहप्राप्त्यनन्तरं तु सर्वभावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यस्यैव च फलस्य प्राप्तिः श्रीमदाचार्यैः सिद्धान्तितास्ति।

चलो ठीक है , आपकी बात मैं एक घड़ी मान भी लूँ कि भगवान तो सर्वशक्तिमान हैं अतः आत्मा या देहसहित किसी भी प्रकार से वे जीव को अपने भीतर समाहित कर सकते हैं। परंतु यह भी मैं तभी मान सकता हूँ कि यदि इन अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल की प्राप्ति होनी हो। तब तो चलो मैं मान लेता हूँ कि भगवान तो सर्वशक्तिमान हैं अतः जीव को देहसहित भी अपने भीतर समाविष्ट कर लेते हैं किंतु अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल प्राप्त होने की कोटि में रखना ठीक वैसे ही असंभव बात है, जैसे कह दिया जाय कि आकाश में फूल खिला। क्योंकि आचार्यचरणों का सिद्धांत तो यह है कि , इन अन्तर्गृहगताओं को सगुणदेह का त्याग करने के पश्चात् निर्गुणदेह की प्राप्ति के पश्चात् सर्वभावशरणागति के साधन एवं सर्वभावशरणागति का फल ही प्राप्त हुआ है।

तथाहि "कृष्णं विदुः परं कान्त"मितिपञ्चश्लोकीसुबोधिन्यां प्रथमव्याख्यानाभिप्रायविशदीकारकद्वितीयव्याख्याने "उक्तं पुरस्ता"दितिपद्यव्याख्यायां "यथा भगवति गुणातीत एव परिनिष्ठबुद्धित्वेपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते, अयं च रसः सर्वभावप्रपत्तिलभ्यः। नहि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः। कामपूरकत्वेनैव तत्सम्भवात् , अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वं सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव, ततो निजपतिभजनमिति सर्वमवदातम् , अन्यथा "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मिति मर्यादा भज्येते"त्युक्त्या, *****आगे के सुबोधिनी के श्लोकों का भरपूर मनन करने के पश्चात् ही आगे के वाक्यों का मर्म समझ में आ सकता है, इस बात का ध्यान रखें।***** इस बात का प्रमाण आप "कृष्णं विदुः(हे मुने! गोपियाँ तो कृष्ण को अपना प्रेमी मानती थीं, ब्रह्म के रूप से नहीं जानती थीं फिर उनकी कृष्ण के प्रति ऐसी सगुणबुद्धि कैसे दूर हुई ? सुबो० १०-२६-१२" से लेकर पाँच श्लोकों तक की सुबोधिनी का आचार्यचरणों/प्रभुचरणों ने दूसरी बार भी व्याख्यान किया है अतः उस दूसरे व्याख्यान में "उक्तं पुरस्ताद्(हे राजन् !यह बात मैं आपको पहले भी बता चुका हूँ कि जब भगवान से द्वेष रखने वाले शिशुपाल का भी उद्धार हो गया तो भगवान से प्रेम करने वाली गोपिकाओं कि सगुणबुद्धि दूर होकर वे निर्गुणबुद्धि वाली क्यों नहीं बनेंगी ? सुबो० १०-२६-१३" इस पद्य की व्याख्या में आचार्यचरणों ने "[[शिशुपाल की बुद्धि तो गुणातीत भगवान में ही निष्ठ थी तथापि भगवान से द्वेष करने के द्वारा वह भगवान से जुड़ा अतः वह सगुणबुद्धि वाला ही था और उसे अपने अधिकारानुसार सगुणदेह के नाश हो जाने के पश्चात् भगवत्प्राप्ति हुई। ठीक इसी प्रकार अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ भी भगवान में आसक्तचित्त वाली होने के कारण निर्गुण ही थीं परन्तु उन्होंने भगवान को प्रेमी की दृष्टि से देखा अतः वे सगुण मानी जाती हैं। यह सगुणत्व भगवान में सर्वात्मभाव उत्पन्न होने में रुकावट डालता है अतः सगुणबुद्धि का नाश हो जाने पर ही सर्वभावपूर्वक शरणागति संभव हो सकती है। इसलिये पहले उनकी सगुणबुद्धि का नाश हुआ और फिर वे अपने पति भगवान का भजन करने लगीं अतः इसमें कुछ भी अयोग्य बात नहीं है। क्योंकि यदि गोपियाँ सगुणभाव से भगवान को चाहें और भगवान उन्हें निर्गुणभक्ति दे दें तो खुद भगवान की "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, उसे मैं उसी भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" वाली प्रतिज्ञा ही टूट जायेगी]]" इन वाक्यों में देख लें।

अथ च ननु "तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात् कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यती"त्याभासं दत्वा "द्विषन्नपी"त्यादिप्रतीकव्याख्याने "मोक्षसुखानभीप्सुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्ता च चैद्यस्तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवानेवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं फलं दत्तवा"नित्युक्त्या, तदनु किञ्चाग्रे "यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलमेव दित्सितं भगवतस्तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चे"दिति पूर्वपक्षीकृत्य [["अत्र वदामो, यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणभावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायाग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्स्वाम्येव सर्वं कृतवान्"]]इत्युक्त्या

च सर्वभावप्रपत्तिरूपं साधनं सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव च फलमेतासामिति दृढीकृतं श्रीमदाचार्यचरणैरिति तद्विरुद्धा भवद्व्याख्यानपद्धतिर्नादरपदवीमारोहति।

इसी सुबोधिनी के आगे आचार्यचरणों ने यह पक्ष उठाया कि - यदि गोपिकाओं को मिला फल सर्वभाव से शरणागति करने पर ही मिलता है तो फिर उन गोपिकाओं ने तो भगवान के प्रति जारबुद्धि रखी थी, तो उन्हें सर्वभावप्रपत्तिरूप फल कैसे प्राप्त हुआ ? यह प्रश्न उठाकर आपश्री ने "१०-२६-१३ के "द्विषन्नपि" शब्द का व्याख्यान करते हुए उत्तर दिया कि [[शिशुपाल भगवान से मोक्ष नहीं चाहता था अपितु द्वेष ही करता था परन्तु तो भी भगवान ने उसे वो वाली मुक्ति दी जो ज्ञानियों को भी मिलनी दुर्लभ है। इसी प्रकार प्रेमी की दृष्टि से देखने वाली गोपिकाओं को भी भगवान ने अपनी इच्छा से सर्वभावशरणागति से प्राप्त होने वाला फल दिया]] इसके पश्चात आपश्री ने एक दूसरा प्रश्न उठाया कि - और यह प्रश्न उठाकर यह उत्तर दिया कि - [[जिनको साक्षात् भगवत्संबंध होना है , उन समस्त रासमंडल की गोपिकाओं का शरीर गुणातीत ही है , यह बताने के लिये भगवान ने कुछ गोपिकाओं को सगुणदेह प्रदान की। अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ देह से सगुण होने पर भी इनका भाव निर्गुण था अतः पहले भगवान ने उनमें सगुणभाव स्थापित किये और फिर उनमें सगुणभाव को उत्पादित करके उसके निवर्तक भी स्वयं भगवान ही हैं - यह बात बताने के लिये भगवान ने पहले उनके सगुणभाव का निवारण करके "उन्हें आगे होने वाले विरह का दुःख एवं अपने संग का सुख उनके अपने कर्मों के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है" यह बताने के लिये उनके पापपुण्यों इत्यादि समस्त कर्मों का क्षय करके अपनी प्राप्ति करवायी - यह सभी कुछ मेरे स्वामी भगवान ने ही कराया]]। आचार्यचरणों ने इन वाक्यों से यह सिद्धांत दृढ़ किया है कि अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को सर्वभावपूर्वक शरणागति का साधन एवं सर्वभावशरणागतिरूप फल ही प्राप्त हुआ है अतः पूर्वपक्षी यदि यह कहता है कि, अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल की प्राप्ति हुई , तो यह बात आचार्यचरणों के सिद्धांत से विरुद्ध है जो मान्य नहीं की जा सकती।

तस्मान्नान्तर्गृहगतानां सर्वदा संयोगरसानुभवमात्ररूपं मध्यमं फलम् , किन्तु पूर्णसंयोगविप्रयोगरसात्मकमुत्तमफलमेव। उचितं चैवमेव यत्सर्वभावप्रपत्तिर्नाम सर्वांशेन प्रपत्तिः, तस्यां सत्यां सर्वांशेनैव प्रभुणा फलदानं कर्तव्यम् , न तु केनाप्यंशेन न्यूनफलदानं सम्भवति, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मितिमर्यादा यतोस्तीति दिक्।

इसलिये यहाँ यह सिद्ध होता है कि, अन्तर्गृहगताओं को सर्वदा संयोगरस का अनुभव होने से मध्यमफल प्राप्त हुआ ऐसा नहीं है अपितु उन्हें पूर्णसंयोगविप्रयोगरसात्मक उत्तमफल की प्राप्ति हुई है। क्योंकि सर्वभावशरणागति का अर्थ है - सर्वांश में शरणागति करनी अतः उचित भी यही है कि, यदि अन्तर्गृहगताओं ने सर्वांश में सर्वभाव से शरणागति की, तो प्रभु को फल भी सर्वांश में ही देना चाहिए , मध्यमफल नहीं। क्योंकि यदि भगवान ऐसा भेदभाव करके फल में न्यूनता कर दें, तो खुद उनकी ही "जो मुझे जिस भाव से भजता है, उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" यह प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी।

अपरञ्च। "या मया क्रीडता रात्र्यां वनेस्मिन् व्रज आस्थिताः। अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तये"तिभ्रमरगीतस्थपद्यव्याख्याने "भवत्यः समागता अन्तर्गृहगतास्तु गृह एव स्थितास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्योनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्य" इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम्। तत्र सर्वप्रकारेण भगवत्प्राप्तिरन्तर्गृहगतानां न तु केनाप्यंशेन न्यूनप्रकारेणेत्युक्तत्वात् सार्वदिकसंयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति भवदुक्तिः कथं सङ्गच्छताम्।

***** इसके आगे टीकाकार ने भागवत के भ्रमरगीत के वाक्य का उदाहरण दिया है और जिस वाक्य की सुबोधिनी का अर्थ भी वे समझा रहे हैं। आगे की समस्त पंक्तियों को पढ़ने से पहले अध्येताओं के लिये आगे आने वाले भ्रमरगीत के वाक्य का कथानक जान लेना आवश्यक है क्योंकि तभी ये पंक्तियाँ स्पष्टतया समझ में आयेंगी। सर्वप्रथम तो ये जान लें कि टीकाकार आगे की पंक्तियों में यह सिद्ध करना चाह रहे हैं कि अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को तो घर में प्रतिबंध होने पर उसी समय घर बैठे-बैठे मात्र प्रभुचिंतन करते-करते भगवत्प्राप्ति हो गयी परंतु रास में प्रभु के पास पहुँच सकने वाली गोपिकाओं को तो भगवान के संग रास की प्राप्ति होने के पश्चात् भी भगवान का विछोह है क्योंकि रास में मिलन के पश्चात् भी भगवान उन्हें छोड़ कर मथुरा पधार गये थे। इस मुद्दे को स्पष्टतया समझने के लिये आगे आने वाले भ्रमरगीत का पद्य एवं उस पर आचार्यचरणों की सुबोधिनी अवश्य पढ़ें। वहाँ सुबोधिनी पर लेखकार लिखते हैं - भगवान उद्धवजी द्वारा गोपिकाओं को यह संदेश भेज रहे हैं कि, अन्तर्गृहगताओं को तो तदैव(उसी समय घर बैठे-बैठे)भगवत्प्राप्ति हो गयी परंतु आप सभी गोपिकाओं को नहीं हुई , किंतु अब होगी। चूँकि आपने मुझ पर दोषारोपण किया अतः पहले आपके दोषों का निवारण होगा और तब आपको मेरी प्राप्ति होगी। इसलिये आप भी मुझे उसी प्रकार प्राप्त करिए , जैसे

अन्तर्गृहगताओं ने मुझे प्राप्त किया था। उपर्युक्त सभी बातें टीकाकार ने आगे लिखी हैं और इनसे वे ये सिद्ध करना चाह रहे हैं कि अन्तर्गृहगताओं को संपूर्णरूप से भगवत्प्राप्ति हुई है अतः उन्हें मध्यमफल नहीं अपितु उत्तमफल की ही प्राप्ति हुई है। ****** और, भ्रमरगीत के “या मया क्रीडता रात्र्यां (सुबो० १०-४७-३८)” इस पद्य के व्याख्यान में आचार्यचरणों ने भगवान द्वारा गोपिकाओं के प्रति कहे गये वाक्य के बारे में यह लिखा कि [[“आप गोपिकाएँ तो यहाँ तक आ गयीं परंतु अन्तर्गृहगताएँ तो घर में ही बंधी रह गयीं और उन्होंने मुझे वहीं घर पर बैठे-बैठे सभी प्रकार से प्राप्त कर लिया अतः उन्होंने जिस ढंग से मुझे प्राप्त किया, वैसे ही आप सभी गोपिकाओं को भी अब मेरी प्राप्ति करनी है”]] आचार्यचरणों के इस व्याख्यान से यह सिद्ध होता है कि अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को समस्त प्रकार से भगवत्प्राप्ति हुई है और उसमें अंशमात्र भी न्यूनता नहीं है ; सो यदि पूर्वपक्षी यह कहता हो कि “उन्हें केवल संयोगसुख का ही अनुभव हुआ एवं विप्रयोगसुख का नहीं अतः उन्हें मध्यमफल की प्राप्ति हुई ” तो आप बताइये उसकी यह बात कैसे तर्कसंगत हो सकती है ?

भगवतो रसरूपत्वाद्रसस्य द्विदलत्वाद्भवन्मते विप्रयोगप्रकारेण प्राप्त्यभावादिति कृतं पल्लवितेन।

भगवान तो खुद रसस्वरूप हैं और रस संयोग-विप्रयोग दोनों दलों से युक्त होता है अतः यदि अन्तर्गृहगताओं ने भगवत्प्राप्ति कर ही ली तो इसका सीधा सा मतलब यही है कि, उन्होंने संयोगसुख का अनुभव भी लिया और विप्रयोगसुख का भी ; और विचित्र बात यह है कि पूर्वपक्षी कहता है कि , उन्हें विप्रयोग का अनुभव हुआ ही नहीं !!!

अत्र तदैवेतिपदमेव न तु भवत्य इत्यत्रापि सम्बध्यते। तथा च तदैव तत्क्षण एव तासां मत्प्राप्तिः सर्वप्रकारेण जाता। भवतीनां तु तत्क्षण एव न जाता क्रमेणैव मद्विषयकदोषारोपरूपदोषनिवृतौ सत्यां भविष्यति, तासां तु मयि दोषारोपो नासीदिति निर्दोषत्वात्तदैव जाता। अन्यथा तदैवेति पदस्यात्रानुषङ्गाभावे तासां सर्वप्रकारेण मत्प्राप्तिर्भवतीनां सर्वप्रकारेण न जातेत्येवमर्थे सम्पन्नेन्तर्गृहगतानामेव रासमण्डलमण्डनायमानाभ्योधिकत्वमापद्येत। तदैवेतिपदस्य त्वत्रानुषज्जने तासां तदैव जाता, भवतीनां तु दोषनिवृतौ क्रमेण भविष्यतीति न न्यूनता फले प्राप्नोतीति ज्ञेयम्।

इस पद्य की सुबोधिनी पर लेखकार भी “तदैव(उसी क्षण)” पद पर लिख रहे हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि - खुद भगवान कह रहे हैं कि अन्तर्गृहगताओं को वहीं उसी क्षण घर में बैठे-बैठे मेरी प्राप्ति हो गयी किंतु आप लोगों (रास में आ चुकी गोपिकाओं को) को मुझसे मिलते ही मेरी प्राप्ति न होकर क्रमवार हुई। अर्थात् भगवान गोपिकाओं से कह रहे हैं कि - “पहले तो आपने मुझ पर जो आरोप लगाये थे, उस दोष का निवारण होगा और फिर आपको मेरी प्राप्ति होगी। किंतु अन्तर्गृहगताओं ने तो मुझ पर दोषारोपण भी नहीं किया अतः वे निर्दोष थीं और इसीलिये उन्हें घर बैठे-बैठे उसी समय मेरी प्राप्ति हो गयी”। यदि भगवान के “अन्तर्गृहगताओं को तो सभी प्रकार से मेरी प्राप्ति तभी हो गयी” इस वाक्य को मेरे कहे ढंग के अनुसार नहीं समझेंगे तो भगवान के वाक्य का अर्थ उल्टा होकर यह बन जायेगा कि - “अन्तर्गृहगताओं को तो सभी प्रकार से तभी मेरी प्राप्ति हो गयी किंतु आप रासस्थ गोपिकाओं को अभी तक नहीं हुई” जिससे तात्पर्य उल्टा होकर ये निकलेगा कि, अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ रासमंडल की गोपिकाओं से अधिक श्रेष्ठ हैं। जबकि पूर्वपक्षी का कहना तो यह है कि, अन्तर्गृहगताएँ तो मध्यम हैं एवं रास की गोपिकाएँ उत्तम हैं अतः इस तरह से तो खुद पूर्वपक्षी के ही अर्थ का खंडन हो जायेगा। इसलिये भगवान के “उन्हें उसी समय घर बैठे-बैठे मेरी प्राप्ति हो गयी” इस वाक्य का ठीक अर्थ यह है कि - अन्तर्गृहगताओं को तो उसी समय भगवत्प्राप्ति हो गयी परंतु रासमंडल में प्रभु के पास पहुँच सकने वाली गोपिकाओं को क्रमपूर्वक पहले दोष का निवारण होगा एवं तत्पश्चात् भगवत्प्राप्ति होगी अतः मेरा कहना यह है कि इन दोनों गोपिकाओं को मिले फल में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं है।

ननु साधारणानामपि भक्तानां दोषान् भगवान्न गणयति, रासमण्डलमण्डनायमाना“स्त्वेताः परं तनुभृतो ननु गोपवध्वः” , “आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्” , “वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णश” इत्यादिप्रकारेण श्रीमदुद्धवैः स्तुतानां प्रणतपादरेणूनामथ च तद्दोषस्य विप्रयोगरसावस्थारूपत्वेन निर्दोषाणां च तादृशं भावं दोषत्वेन किमर्थं भगवानगणयदिति चेत्।

अब किसी पूर्वपक्षी को शंका यह होती है कि, प्रभु तो इतने कृपालु हैं कि, साधारण भक्त के भी दोषों की ओर नहीं देखते, फिर रासमंडल की श्रेष्ठ गोपिकाएँ जिनकी श्रीमद्-उद्धवजी ने तो “एताः परं(भा० १०-४७-५८)”, “आसामहो चरणरेणु(भा० १०-४७-६१)”, “वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणाम् (भा० १०-४७-६३)” इत्यादि वाक्यों से उनकी स्तुति भी की है एवं उनकी चरणरेणु को प्रणाम भी किया

है , तो ऐसी गोपिकाएँ जो बेचारी अपने विरह की अवस्था में विह्वल होकर ही तो प्रभु पर दोष लगा रही थीं, जबकि वास्तव में तो वे निर्दोष ही थीं। फिर प्रभु ने इतनी श्रेष्ठ गोपिकाओं के भावों में दोष क्यों देखा ?

अत्र वदामः। केषाञ्चिदतिकृपाविषयाणां जीवानां शुद्धपुष्टिमार्गफलं दित्सुर्भगवान् प्रपञ्चे लीलासहित आविर्भवति।अन्यथा सर्वभावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलस्य चाज्ञायमानत्वात् कथमेतन्मार्गप्रवृत्तिहेतुभूतफलज्ञानं स्यात्, कथं वा एतन्मार्गीयं साधनं च ज्ञातं स्यात्। तत्रैतन्मार्गीयं फलं तु व्रजभक्तसजातीयभावेन भजने भवतीति तद्भावानुसारेण भजने क्रियमाणे भगवत्ताज्ञानेपि तासां दोषारोपो न बाधको जातः, एवं ममापि न भविष्यतीति कदाचिच्छीघ्रं भगवता फलादाने तनुजवित्तजसेवाकरणसमय एव भगवति दोषारोपं कुर्याद्यन्मया त्वेतावद्दुःखमनुभूयते सेवाकरणे, भगवांस्त्वतिनिष्ठुर एतावत्पर्यन्तमपि प्रेमासक्त्यादिकं नाविर्भावयति येन फलं स्यात्तदा भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वेन तत्र दोषारोपे तस्य फलप्राप्तौ विलम्बः स्यादतो भगवति कस्यामप्यवस्थायां दोषारोपो न कर्तव्य इति ज्ञापयितुं यथान्तर्गृहगतानां जारभावोत्पादनेन रासमण्डलमण्डनायमानानामपि शरीरादि निर्गुणमिति ज्ञापयितुं तासां जारभावमुत्पादितवानेवमेव रासमण्डलमण्डनायमानानामपि तादृशरसावस्थारूपमपि दोषारोपरूपं भावं दोषत्वेनाख्यापयच्छ्रीमदुद्धवमुखेनेति सर्वं सुस्थम्। तस्मादन्तर्गृहगतानामपि मुख्यमेव फलमिति सिद्धम्।

तो मैं आपकी इस शंका का समाधान कर रहा हूँ। सर्वप्रथम तो यह समझ लीजिए कि कुछ कृपापात्र जीवों को शुद्धपुष्टिमार्ग का फल देने के लिये भगवान प्रपंच में लीलासहित प्रकट होते हैं। यदि वे प्रकट न हों, तो किसे कैसे पता चल पायेगा कि भगवत्प्राप्ति के लिये सर्वभाव से शरणागति करनी ही एकमात्र साधन है एवं इससे मिलने वाला फल क्या है ? यदि इन बातों की जानकारी ही न होगी, तो किसी की इस मार्ग में प्रवृत्ति भी कैसे होगी ? एवं उसे इस पुष्टिमार्ग में कहे भगवत्प्राप्ति के साधन भी कैसे पता चलेंगे ? अतः प्रभु की व्रजभक्तों/व्रजगोपिकाओं के संग की गयी लीलाओं से सामान्य जीव को पता चलता है कि, हमें व्रजभक्तों के भावों के अनुसार भगवत्सेवा करनी है। किंतु यदि मन में यह मान लें कि “चूँकि गोपिकाओं ने भगवान के स्वरूप को जानते हुए भी उन पर दोषारोपण किया और उनका दोषारोपण करना उनके लिये बाधक भी नहीं बना अतः यदि मैं भी भगवान पर दोषारोपण करूँगा तो मुझे भी बाधा नहीं आयेगी” तो मामला बिगड़ जाता है। मान लो कि भगवान उसे किसी कारण शीघ्र फलदान नहीं करते और वह तनुजवित्तज साधनसेवा करते समय ही भगवान पर दोषारोपण करने लग पड़े कि “मुझे तो भगवत्सेवा में ऐसा दुःख अनुभूत होता है”, “भगवान तो अति निष्ठुर हैं”, “इतनी सेवा करने पर भी मेरे मन में प्रेम-आसक्ति-व्यसन की अवस्थाएँ प्रकट नहीं करते कि जिससे मुझे फलप्राप्ति हो पाये” इत्यादि इत्यादि तो उसके इस दोषारोपण के कारण उसे फलप्राप्ति में और विलंब होगा क्योंकि भगवान तो सर्वथा दोषरहित हैं। अतः किसी भी अवस्था में भगवान पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। यह सभी बातें बताने के लिये भगवान ने अन्तर्गृहगता गोपिकाओं में पहले जारभाव उत्पन्न किया और फिर बाद में उस भाव को निर्गुण बना दिया ; इसी प्रकार भगवान के मथुरा पधार जाने के पश्चात् रासमंडल की गोपिकाओं की जो विरहावस्था हो रही है और इसी विरहावस्था में व्याकुल होकर वे भगवान पर दोष लगा रही थीं, वह अवस्था भी हालांकि रस की ही एक अवस्था है परंतु भगवान उद्धवजी के माध्यम से इसे दोषरूप से बता रहे हैं ; यह मत समझिए कि भगवान ऐसी श्रेष्ठ गोपिकाओं के दोष देख रहे हैं अतः मेरा कहा ठीक ही है। अतः सिद्ध होता है कि अन्तर्गृहताओं को भी मुख्यफल ही प्राप्त हुआ।

अन्यच्च “जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकं मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे”ति श्रुतीः प्रति भगवदुक्तेस्तद्भावज्ञापकजारबुद्ध्यापि सङ्गता इति फलप्रकरणीयवचनस्थजारबुद्धिसङ्गतत्वोक्त्या च श्रुतिरूपा एता अन्तर्गृहगता इति ज्ञायते। एवं च श्रुतिकृतस्तुतिसन्तुष्टप्रकृत्यतीताक्षरमध्यस्थेन श्रीवृन्दावनगोवर्धनयमुनानानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टेन किशोराकृतिना भगवता “किं करवाणी”त्युक्ते “कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः। कामिनीभावामासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम्। यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनिता तथे”त्यादिना श्रुतिभिः स्वस्य कामिनीभावपूर्वकः स्मरक्षोभ उक्तस्तत्र मा कदाचिद्भगवानेवं जानातु यदेतासां लौकिककामाभिलाष इति शङ्कां वारयितुं यथा त्वल्लोकवास्तव्या गोपिकाः कामतत्त्वेन कामस्य तत्त्वं परमकाष्ठापन्नं रूपमाधिदैविकमिति यावत् तादृशकामाधिदैविकेन रूपेण रमणं रमणकर्तारं मत्वा त्वां भजन्ति तथा भजनेस्माकं चिकीर्षा जनितोत्पादिता त्वद्रूपदर्शनेनेति श्रुतिभिः प्रार्थितम्। तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपिकाभावसजातीयभावेन भजनचिकीर्षैतासाम्। तत्र भगवल्लोकस्थनित्यसिद्धगोपिकानां न भगवति जारभावः किन्तु सर्वभावप्रपत्तिरूपो भावः। एवं च यद्येतासां मध्यमं फलं भगवान् दद्यात् तदा “ये यथा मा”मिति मर्यादा भज्येत। तस्मादपि न तासां मध्यमं फलं किन्तूत्तममेव।

इसके अतिरिक्त "सारस्वतकल्प में जारधर्म के द्वारा तुम मुझे पाओगी" इस वाक्य द्वारा स्वयं भगवान ही श्रुतियों से कह रहे हैं कि - मुझमें जारबुद्धि रखकर तुम मुझे सारस्वतकल्प में प्राप्त करोगी। अतः श्रुतियों ने भगवान में जारभाव रखकर उन्हें प्राप्त किया। अतः भगवान में जारबुद्धि रखनेवाली ये अन्तर्गृहगताएँ श्रुतिरूपा ही हैं, यह बात सहज ही समझ में आ जाती है। तो जैसा कि ऊपर कहा, वैसे श्रुतियों ने जब प्रभु से प्रार्थना की तब उनकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर प्रकृति से अतीत, अक्षरब्रह्म के मध्यस्थ श्रीवृंदावनगोवर्धनयमुनातट इत्यादि स्थलों पर रासोन्मत्त गोपिकाओं के समूह से घिरे हुए किशोरस्वरूप भगवान ने उनसे पूछा - कहिए मैं आपके लिये क्या करूँ ? तो श्रुतियों ने उन्हें "तुम्हारे कोटिकंदर्पलावण्यस्वरूप को देखकर हमारे मन में कामिनीभाव जाग उठा है एवं हम स्मरक्षुब्ध हो गयीं हैं। जैसे तुम्हारे लोक की गोपिकाएँ आपको कामतत्त्व जानकर आपका भजन करती हैं, वैसी इच्छा हमारे मन में भी जाग उठी है " इत्यादि वाक्यों द्वारा कामिनीभावपूर्वक अपनी कामेच्छा प्रकट की। और कहीं भगवान उनकी इच्छा को लौकिक कामेच्छा न समझ लें अतः उन्होंने इसी श्लोक में स्पष्टता भी की है कि, जैसे आपके लोक में गोपिकाएँ आपको परमकाष्ठापन्न आधिदैविक कामस्वरूप से रमण करने वाला जानकर आपका भजन करती हैं, तो आपके रूप के दर्शन करके हमारे मन में भी वैसे ही भजन करने की इच्छा प्रकट हो गयी है। इससे ज्ञात होता है कि, इन श्रुतियों ने भगवल्लोक में स्थित नित्यसिद्धा गोपिकाओं के जैसा भाव रखकर भजन करने की इच्छा की थी और नित्यसिद्धा गोपिकाओं का भाव जारभाव नहीं अपितु सर्वभाव से शरणागति वाला भाव था। अतः यदि ऐसी सर्वभावशरणागति का भाव रखनेवाली श्रुतियों/अन्तर्गृहगताओं को यदि भगवान मध्यमफल दे दें, तो खुद भगवान की अपनी "जो मुझे जिस भाव से भजता है, उसे मैं वैसे ही भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी०)" यह प्रतिज्ञा ही भंग हो जाय। अतः उपर्युक्त विवेचन से भी सिद्ध होता है कि, अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल नहीं अपितु उत्तमफल ही प्राप्त हुआ था।

अग्रेपि "दुर्लभो दुर्घटश्चैष युष्माकं सुमनोरथः। मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हती"त्यत्र मनोरथस्य दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं चोक्तम् , सुमनोरथ इत्यनेन मनोरथस्य सुष्ठुत्वं चोक्तम्। यदि जारभावेन भजन एव मनोरथः स्यात् तदा दुर्लभत्वं दुर्घटत्वं च नोक्तं स्यात्। कदाचित् तदानीं श्रुतीनां विवाहितपतेरभावात् स्वस्मिन् जारभावो दुर्घटोत एव दुलभश्चेति दुर्लभत्वदुर्घटवोक्तिः सङ्गच्छेतापि, परन्तु सुमनोरथ इत्यत्र मनोरथे सुष्ठुत्वं तु न सङ्गच्छेत, जारभावेन भजनमनोरथस्य दुष्टत्वेन सुष्ठुत्वाभावात्। तस्मात् सुमनोरथपदेन सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकभगवल्लोकवास्तव्यगोपिकाभावसजातीयभावमनोरथ एवोक्तोत्रेति निश्चितम्।

और श्रुतियों की प्रार्थना के पश्चात् भगवान ने "दुर्लभो दुर्घटश्चैष युष्माकं सुमनोरथः। " इस वाक्य द्वारा उनके मनोरथ को दुर्लभ और दुर्घट भी बताया और कहा कि आपका मनोरथ सुंदर है। यदि उनका भगवान के प्रति जारभाव होता तो भगवान उनके मनोरथ को दुर्लभ, दुर्घट क्यों कहते ? ****** जो स्त्री विवाहित हो एवं उसे अपने पति के अतिरिक्त किसी परपुरुष से प्रेम हो जाय, तो उस परपुरुष को "जार" कहा जाता है और उस स्त्री के लिये ये कहा जायेगा कि उसे उस पुरुष के प्रति जारभाव है। किंतु अविवाहिता या कुँवारी कन्या के लिये तो किसी के प्रति जारभाव होने का अवकाश ही नहीं है क्योंकि केवल विवाहित स्त्री को किसी परपुरुष से प्रेम हो जाय, उसी परपुरुष को जार कहते हैं। अविवाहिता को किसी से प्रेम हो जाये, तो उस पुरुष को जार नहीं कहा जाता। आगे टीकाकार यह कह रहे हैं कि, श्रुतिरूपा गोपिकाओं का लौकिक में कभी विवाह तो हुआ नहीं है अतः उन्हें भगवान के प्रति जारभाव हो ही कैसे सकता है ? इसी कारण उन्होंने भगवान से प्रेमी के रूप में प्राप्त करने की प्रार्थना की तो भगवान ने उनके मनोरथ को दुर्लभ और दुर्घट बताया क्योंकि वे तो विवाहिता हैं नहीं अतः उनका भगवान के प्रति जारभाव रखना तो बड़ी विचित्र दुर्लभ या दुर्घट बात ही है।***** चलो, एक घड़ी इस विचार से कि श्रुतियों का विवाह तो हुआ नहीं है या उनका कोई विवाहित पति तो है नहीं और फिर भी यदि वे भगवान से जारभाव की प्रार्थना कर रही हैं तो इस कारण भगवान ने उनके मनोरथ को दुर्घट एवं दुर्लभ कह भी दिया हो, परंतु समझने वाली बात यहाँ यह है कि भगवान का उनके मनोरथ को सुंदर कहना तो उन गोपिकाओं के उत्तमभाव को ही दर्शाता है। क्योंकि सीधी सी बात यह है कि जारभाव से भगवान का भजन करना तो दुष्टता ही है, सुंदर मनोरथ तो है नहीं ! अतः यदि भगवान इनके मनोरथ को सुंदर मनोरथ कह रहे हैं, तो निश्चित हो जाता है कि इनका मनोरथ या इनका भाव भी वही भाव है जो भगवल्लोक में निवास करने वाली सर्वभाव से शरणागति करनेवाली नित्यसिद्धा गोपिकाओं का भाव है।

अत एवाग्रे मयानुमोदित इत्यनेन पूर्वं मल्लोकवासिगोपीभिर्मोदितो अनु पश्चान्मया मोदितो अत एव सम्यक् समीचीनः सत्यो भवितुं योग्यो भवति। ममैतदधीनत्वादेतासां मोदनं विना न सत्यो भवितुं योग्यः स्यादिति भावः। अन्यथा तासां मोदनं नापेक्ष्येत , निकृष्टमनोरथस्य सत्त्वात्।

इनका मनोरथ सुंदर है, इसी कारण तो भगवान ने आगे श्रुतियों से यह कहा कि - आपके मनोरथ को पहले मेरे लोक में निवास करने वाली नित्यसिद्धा गोपिकाओं ने स्वीकारा और उनके पश्चात् अब मैं स्वीकार कर रहा हूँ अतएव आपका मनोरथ सफल होने के योग्य है। भगवान का तात्पर्य यह था कि- मैं तो इन गोपिकाओं के अधीन हूँ अतः इनके स्वीकारे बिना आपका मनोरथ सफल नहीं हो सकता। सो, यदि श्रुतियों का मनोरथ प्रभु के प्रति जारभाव वाला निकृष्ट मनोरथ होता तो भगवल्लोक में निवास करने वाली गोपिकाएँ इसे कैसे उचित ठहरातीं ? यह समझिए।

एतदग्रे तु "आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ। पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डले, जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम्। मयि सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्या भविष्यथे"त्यनेन प्रघट्टकेनैताभिरप्रार्थितः किञ्चित्कार्यार्थं जारभावो भगवतैव दत्त इति प्रतीयते स्फुटमेव। तत्रायं भगवदभिप्रायः। मया त्वागामिविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे पृथिवीस्थभारतक्षेत्रस्थमाथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावने सर्वभावप्रपत्तिस्तत्फलं च प्रकटनीयं जीवविशेषोद्धारार्थम्। तत्र सर्वभावप्रपत्तिर्निर्गुणा, तद्भाववतां देहादिकं च निर्गुणम्, तादृशीनां भगवत्सङ्गमविरहजन्यं सुखं दुःखं च निर्गुणमिति ज्ञापनीयम्, अन्यथा रासमण्डलमण्डनायमानानां भावादिषु सगुणत्वबुद्ध्या सर्वेषां प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च मदवतारोपि व्यर्थः स्यादत एता एव श्रुतीस्तस्मिन्कल्पे अवतारयित्वैतासां भावादिकं च सगुणं विधाय सगुणभावः सगुणदेहः सुखदुःखादिकं च कर्मजन्यमिति ज्ञापनीयम्। एवं सत्येतासां तद्भाववद्देहादिनाशे लौकिकभिन्नशरीरप्राप्तौ सर्वभावप्रपत्तिरूपं साधनं तल्लभ्यं फलं भविष्यति, मुख्यानां भावादेर्निर्गुणत्वं च ज्ञापितं भविष्यतीत्युभयमपि कार्यं सेत्स्यति। अन्यथा तज्ज्ञापनार्थं प्रयत्नान्तरकरणमापद्येतेति जारभावो भगवतैव दत्तो, न तु तासां जारभावप्रपत्तिः साहजिकीति बोध्यम्। एवं च बृहद्वामनपुराणीयकथाविचारेणापि नैतासां मध्यमफलमायाति किन्तूत्तमफलप्राप्तिरेवेति कृतमधिकतराभिनिवेशेन।

और श्रुतियों के मनोरथ की प्रार्थना के पश्चात् प्रभु ने उनसे "आगामी ब्रह्मा के दिनरूपी सारस्वतकल्प में, पृथ्वी के भारतक्षेत्र के अंतर्गत मथुरामंडल में स्थित वृंदावन के रासमंडल में मैं तुम्हारा प्रियतम बनूँगा एवं तुम गोपियाँ बनोगी और जारधर्म के द्वारा मुझे प्राप्त करके कृतार्थ बनोगी" यह कहा, जिससे सिद्ध होता है कि खुद इन श्रुतियों के मन में तो जारभाव था ही नहीं , परंतु इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं भगवान ने ही किसी विशेष कार्य के लिये इनमें जारभाव का प्रवेश करवाया। इसके पीछे भगवान का अभिप्राय यह था कि - ["मुझे आगामी ब्रह्मा के दिनरूपी सारस्वतकल्प में, पृथ्वी के भारतक्षेत्र के अंतर्गत मथुरामंडल में स्थित वृंदावन में विशेष जीवों का उद्धार करने के लिये सर्वभावशरणागति एवं उसका फल प्रकट करना है। सर्वभावशरणागति निर्गुण होती है। मुझे यह भी बताना है कि, सर्वभावशरणागति का भाव रखनेवालों के देह आदि भी निर्गुण होते हैं और उन्हें भगवत्संयोग एवं वियोग से होने वाले सुख-दुःख भी निर्गुण होते हैं। मुझे इनकी निर्गुणता इसलिये बतानी है क्योंकि यदि रासमंडल की गोपिकाओं के भावों को भी सगुण समझ लिया गया तो फिर कोई भी जीव इन्हें पुष्टिमार्ग की गुरु कौन मानेगा एवं इनका अनुकरण भी क्यों करेगा ? साथ ही साथ सारस्वतकल्प में मेरा अवतार लेना भी व्यर्थ चला जाय। अतः इन श्रुतियों को आगामी सारस्वतकल्प में अवतरित करके, इनके भावों को पहले सगुण बना कर मुझे ये बताना है कि सगुणभाव, सगुणदेह एवं सुखदुःख इत्यादि कर्मजन्य होते हैं। इसके पश्चात् होगा यह कि इन श्रुतियों के सगुणदेह का नाश होने पर अलौकिक शरीर की प्राप्ति होगी एवं भगवान के प्रति सर्वभाव से शरणागतिरूप साधन एवं सर्वभाव से शरणागतिरूप फल इन्हें प्राप्त होगा एवं रासस्थल की मुख्य गोपिकाओं का भाव निर्गुण है, यह दोनों बातें बतायी जा सकेंगी"]। भगवान यदि इस प्रकार से सगुणभाव-निर्गुणभाव को बताने की व्यवस्था न करें, तो यह बात जीवों को समझाने के लिये उन्हें कोई दूसरा ढंग अपनाना पड़े अतः यह बात तय है कि भगवान ने ही उन्हें जारभाव दिया था, ऐसा नहीं था कि श्रुतियों या अन्तर्गृहगताओं में सहजरूप से पहले ही जारभाव था। इसलिये यदि इस बृहद्वामनपुराण की कथा का गंभीरता से विचार करें, तो भी यही सिद्ध होता है कि अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल नहीं अपितु उत्तमफल की ही प्राप्ति हुई थी अतः अब बताइये इससे अधिक और क्या कहूँ।

अत एव सुबोधिन्यां "उक्तं पुरस्ताद्" इत्यस्य द्वितीयव्याख्याने श्रीमदाचार्यैरुक्तं "यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपय गोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं भावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायाग्रे

भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्स्वाम्येव सर्वं कृतवानिति निगर्वः। अत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारान्मर्यादामार्गीया अनुपपत्तयोनवसरपराहता इति सर्वमनवद्य"मिति।

इसी कारण सुबोधिनी में "उक्तं पुरस्ताद्(सुबो० १०-२६-१३)" इस श्लोक के द्वितीय व्याख्यान में आचार्यचरणों ने कहा कि - [["जिनको साक्षात् भगवत्संबंध की प्राप्ति हुई, उन सभी रासमंडल की गोपिकाओं के शरीर भी गुणातीत/निर्गुण ही थे , यह बताने के लिये भगवान ने कुछ गोपिकाओं को सगुणदेह प्रदान की एवं अन्तर्गृहगता गोपिकाओं का भाव निर्गुण रखा। उनमें सगुणभाव को उत्पादित करके उसके निवर्तक भी स्वयं भगवान ही हैं - यह बात बताने के लिये भगवान ने पहले उनके सगुणभाव का निवारण करके "उन्हें आगे होने वाले विरह का दुःख एवं अपने संग का सुख उनके अपने कर्मों के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है" यह बताने के लिये उनके पापपुण्यों समस्त कर्मों का क्षय करके अपनी प्राप्ति करवायी - यह सभी कुछ मेरे स्वामी भगवान ने ही कराया"]]। आचार्यचरणों ने इस वाक्य से यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि अन्तर्गृहगताओं को सर्वभावपूर्वक शरणागति का साधन एवं सर्वभावशरणागतिरूप फल ही प्राप्त हुआ है। कुल मिलाकर यह समझिए कि यहाँ पुष्टिमार्गीय पद्धति से भगवान ने जीवों को अंगीकार किया है इसलिये इसमें मर्यादामार्गीय तर्क नहीं चल सकते।

न च तासां यदा सगुणदेहनाशस्तदैव भगवति सर्वजीवतत्त्वरूपभगवत्कौस्तुभे वा "मणिधरः क्वचिदागणयन्गा" इत्यत्रोक्तगोपि(अत्र एकं पत्रं त्रुटितमिति प्रतिभाति)- - - - - - - - ष्टानामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरे भवन्मते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भगवता सह व्रज एव समागमनम् , पुनः रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम् , तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम् , पुनरपि तत्रैव लय इति चेत् , अत्र ब्रूमः।

अब पूर्वपक्षी मुझसे यह पूछता है कि - जैसे भागवत में गोपिकाओं के लिये वर्णन आता है कि, उनकी सगुणदेह का नाश होते ही वे भगवान के वक्षस्थल पर उस कौस्तुभमणि में स्थित हो गयीं जो समस्त मुक्तजीवों के लय हो जाने का स्थान है या कि फिर "मणिधरः क्वचिदागणयन् (श्री०भा० १०-३५-१८)" इस वाक्यानुसार बताइये कि *****(यहाँ से एक पंक्ति अधूरी प्राप्त होती है अतः अध्याहार करके यथायोग्य वाक्य बना कर अर्थ कर दिया है)***** अन्तर्गृहगता गोपिकाओं की रास के अनुभव के पश्चात् कहाँ स्थिति हुई ? पूर्वपक्षी यदि यों कहे के, हमारे मत से तो जो पहले आठ संभावित परिस्थितियाँ कही गयीं थीं , उनमें से किसी एक स्थान पर उनका लय हो गया एवं तत्पश्चात् वे भगवान के संग व्रज में ही वापस आ गयीं *****(अर्थात् रास के लिये व्रज में स्थित अपने-अपने घरों से निकलकर रासमंडल तक पहुँच कर एवं रास की समाप्ति पर पुनः वापस लौटकर व्रज में ही आ गयीं)***** ; रासलीला के समय वे भगवान के संग रासस्थल में आयी तब अलौकिक देहप्राप्त होने के कारण उन्होंने भगवान के संग रमण किया और फिर वापस भगवान में ही उनका लय हो गया। यदि पूर्वपक्षी का इस प्रकार से कहना हो, तो मैं इसका उत्तर देता हूँ।

यावद्व्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव व्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः। न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम्। "या मया क्रीडता रात्र्या"मिति भ्रमरगीतपद्यसुबोधिनीस्थश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात्। तथा हि, यदि व्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहत्यागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति त्वन्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाव्रजस्थितिकथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत् , स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत् , स्वकृतक्रीडाव्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवतासां स्वक्रीडाव्रजस्थिती अपि बोध्येते इति यावद्व्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम्।

मेरा मत यह है कि रासमंडल की अन्य गोपिकाएँ अन्तर्गृहगताओं को होने वाली भगवत्प्राप्ति को न देख सकीं और भगवान का अक्रूरजी के संग मथुरा पधार जाना एवं अन्य गोपिकाओं को उनका विरह होना इत्यादि लौकिक लीलाओं से अन्तर्गृहगताओं का कोई लेना देना ही नहीं है ; उन्हें प्रभु की इन प्रापंचिक लीलाओं का कोई भान ही नहीं है अतः अन्तर्गृहगताओं का सदा इसी व्रज में निवास है क्योंकि भगवान ने प्रपंच के लिये *****(अर्थात् दूसरों को दिखाने के लिये अक्रूरजी का आकर व्रज से भगवान को ले जाना इत्यादि लीलाएँ)***** जो लीला की थी, उस लीला का दर्शन तो इन्होंने किया ही नहीं। पूर्वपक्षी यदि इन दोनों बातों का ***** (अर्थात् अन्तर्गृहगताओं को होनेवाली भगवत्प्राप्ति रासमंडल की गोपिकाएँ न देख पायीं एवं अक्रूरजी का मथुरा से आकर भगवान को अपने संग ले जाना एवं गोपिकाओं को उनका विरह होना, इन दोनों बातों का)***** प्रमाण माँगे तो उत्तर

यह है कि, सुबोधिनी के "या मया क्रीडता(१०-४४-३७)" इस वाक्य में आचार्यचरणों द्वारा किया गया व्याख्यान ही इसमें प्रमाण है। आचार्यचरण इस पद्य के व्याख्यान में आज्ञा करते हैं कि, यदि ब्रजवासी अन्तर्गृहगताओं की सगुणदेह का त्याग करके प्राप्त हुई निर्गुणदेहसंबंधी लीला को देख सके होते, तो भ्रमरगीत में भगवान रासमंडल की गोपिकाओं को अन्तर्गृहगताओं के संग की गयी उनकी क्रीड़ा एवं ब्रज में उनकी परिस्थिति का वर्णन क्यों करते और उनका अनुकरण करके अपनी प्राप्ति कराने का साधन रासमंडल की गोपिकाओं को क्यों बताते ? भगवान को केवल अपनी प्राप्ति का साधन ही बता देना था, यदि रासमंडल की गोपिकाएँ प्रभु की अन्तर्गृहगताओं के संग की गयी लीला एवं ब्रज में उनकी परिस्थिति को देख सकीं होती तो ! अतः इससे सिद्ध होता है कि यदि भगवान ने रासमंडल की गोपिकाओं को अन्तर्गृहगताओं के संग की गयी उनकी लीला एवं ब्रज में उनकी परिस्थिति का वर्णन किया तो इसका तात्पर्य यह है कि रासमंडल की गोपिकाओं को भगवान की इस लीला के दर्शन नहीं हुए।

अथ च [[भवत्यः समागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्यः। अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थक। अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः। ननु ताः प्रतिबन्धेन तथाभूताः कथं स्तुत्या इत्याशंक्याहः कल्याण्य इति। तासां महद्भाग्यमस्तीत्यवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं दृष्ट एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवत् देहनिराकरण एवोपक्षीणम् , भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत् , अतो मदुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भावः]] इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेन्तर्गृहगतानां नाक्रूरागमनरूपमथुरोद्देश्यकभगवन्नयनरूपप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमस्ति। यदि तद्दर्शनं स्यात् तदा भवतीनां तु तद्दुरितमिमामवस्थां प्रापितवत् , तास्तु महाभाग्यवत्यस्तासामवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं सगुणदेहनिवृत्तावेवोपक्षीणमतस्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान्न कथयेदेव। अक्रूरागमनभगवन्नयनदर्शनजक्लेशस्यैतासामप्यवश्यसिद्धत्वात्। तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्राविर्भूतलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम्।

इसी के साथ-साथ आचार्यचरणों ने भी तो भगवान का रासमंडल की गोपिकाओं के प्रति कथन का यों व्याख्यान किया है कि -[[भगवान ने उद्धवजी द्वारा कहलवाया =आप तो रासमंडल तक आ पहुँचीं परंतु अन्तर्गृहगताएँ तो घर में ही बँधी रह गयीं। उन्होंने वहीं घर बैठे -बैठे मुझको प्राप्त कर लिया परंतु आप अब भी नहीं कर पायीं अतः आप भी मुझे वैसे ही प्राप्त करिये जैसे कि अन्तर्गृहगताओं ने मुझे प्राप्त किया। इसलिये आप जो कह रही हैं कि आप सभी मेरे लिये ही अपने प्राणों को रोके हुए बैठी हैं, यह निरर्थक बात है। उद्धवजी ने भगवान का संदेशा सुनाते हुए आगे कहा - जब आप मुझे पहले मिली थीं, तब ही मुझे पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेतीं तो मेरे इतने समीप आकर भी आपको मुझसे दूर न जाना पड़ता और आपको क्लेश/विरह भी न होता, जो इस समय हो रहा है। उद्धवजी ने भगवान का संदेशा सुनाते हुए आगे कहा - यदि आप मुझसे ये पूछते हों कि, उन्हें तो घर में प्रतिबंध हुआ फिर भी मैं उनकी प्रशंसा क्यों कर रहा हूँ ? तो मेरा उत्तर यह है कि, वे बड़ी भाग्यवान हैं कि उन्हें होने वाला प्रतिबंध वहीं के वहीं उसी समय दूर हो गया और उनकी सगुणदेह का ही निवारण होकर उन्हें मेरी प्राप्ति हो गयी। लोहे को लोहा काटता है अतः खुद प्रतिबंध ने ही उनके समस्त पाप दूर कर दिये। आपको तो मुझ पर दोषारोपण करने वाले आपके पाप आड़े आए जिसके कारण आप मेरा विरह झेल रही हैं अतः जैसा मैंने कहा वैसे अपने दोषों का परित्याग करके अन्तर्गृहगताओं की अवस्था प्राप्त करके मुझे प्राप्त करें]] - आचार्यचरणों के इस व्याख्यान का गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह बात सिद्ध होती है कि अन्तर्गृहगताओं को यह भान ही नहीं है कि, अक्रूरजी भगवान को लेने के लिये मथुरा से आये थे और भगवान को ले गये एवं गोपिकाओं को उनका विरह हुआ इत्यादि इत्यादि। क्योंकि भगवान की अक्रूरजी के संग मथुरा पधार जाने एवं गोपिकाओं को उनका विरह होने की लीला तो अन्य सामान्य जीवों को दिखाने मात्र के लिये है। यदि अन्तर्गृहगताओं को भी इस लीला का दर्शन हुआ होता एवं अक्रूरजी के संग भगवान के मथुरा पधार जाने से उनको विरह हुआ होता तो भगवान रासमंडल की गोपिकाओं से अन्तर्गृहगताओं के विषय में ये न कहते कि - "आपकी तो विरह के कारण यह दशा हुई परंतु अन्तर्गृहगताएँ तो बड़ी भाग्यवान हैं कि उन्हें कड़ा प्रतिबंध होने से विरह हुआ तो सही परंतु उसी विरह के कारण उसी क्षण उनकी सगुणदेह निवृत्त हुई और उन्हें मेरी प्राप्ति हो गयी अतः उन्हें वो विरहावस्था न झेलनी पड़ी, जो अभी आप झेल रही हैं"। अतः यहाँ सिद्ध होता है कि, अन्तर्गृहगताओं को यह सब कुछ पता ही नहीं है कि, अक्रूरजी मथुरा से भगवान को लेने आये और भगवान उनके संग मथुरा पधार गए एवं गोपिकाएँ उनके विरह में तड़पती रहीं क्योंकि अन्तर्गृहगताओं को तो वहीं घर बैठे-बैठे प्रतिबंध होकर दूर भी हो गया

एवं भगवत्प्राप्ति भी हो गयी ; *****(क्योंकि वे तो भगवान में विलीन हो गयीं, उन्हें परमफल की प्राप्ति हो गयी अतः इन सब प्रापंचिक लीलाओं से उन्हें क्या सरोकार रहा, जो लीला प्रभु ने केवल सामान्य जीवों को दिखाने मात्र के लिये की थी) ***** भगवान की अक्रूरजी वाली मथुरा पधार जाने वाली लीला तो केवल अन्य सामान्य जीवों को दिखाने मात्र के लिये है, अन्तर्गृहगताओं को तो सीधे-सीधे भगवत्प्राप्ति हुई है।

उचितं चैवमेव यतः श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभि"र्यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा जनिता तथे"त्यनेन प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मस्थव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतव्रजान्तस्थप्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तत्रस्थनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकभावसजातीयभावेन भगवता सह रमणं प्रार्थितं, तद्यदि तासां प्रापञ्चिकपदार्थदर्शनं स्यात् , तदा प्रपञ्चानन्तर्गतवृन्दावने तादृशभावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव स्यात् , एवं च "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मिति मर्यादाभंगः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्राविर्भूतलीलादर्शनमिति साधीयसी पूर्वोक्तोक्तिः। एवमेव "अस्मिन्नेव व्रजे ता आस्थिता इति भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनम्" इत्यनेन " अस्मिन् व्रज आस्थिता " इत्यस्य व्याख्यानेनास्मिन्नेव व्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम्।

और देखिये, उचित भी यही है कि, अन्तर्गृहगताओं को सामान्य प्रपंच के लिये की गयी लीला के दर्शन न हों क्योंकि ये सभी गोपिकाएँ श्रुतिरूपा हैं एवं " यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः।" इस श्लोकानुसार उन्होंने भगवान से अलौकिक अक्षरब्रह्म में स्थित व्यापिवैकुण्ठ में अवस्थित व्रज के अन्तर्गत आए वृंदावन में भगवान के संग रास करती हुई गोपिकाओं के समूह जैसे भावों को प्राप्त करके भगवान के संग रमण कर पाने की प्रार्थना की है। यदि ऐसी श्रुतिरूपा गोपिकाओं को ही लौकिकलीला का अनुभव होने लग जाय, तो फिर अलौकिक वृंदावन में नित्यगोपिकाओं के भावों द्वारा वे भगवान के संग रमण ही न कर पायेंगी और जैसे प्रकार का अलौकिकभाव एवं रमण प्राप्त करने की प्रार्थना उन्होंने भगवान से की थी, उसके विपरीत यदि भगवान उन्हें लौकिकलीला का दर्शन कराएँ , तो खुद भगवान की ही गीता में कही "जो मुझे जिस भाव से भजता है, उसे मैं उसी भाव से प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४- ११)" यह प्रतिज्ञा ही भंग हो जाय। अतः अन्तर्गृहगताओं को प्रापंचिकलीला का अनुभव नहीं हुआ - यही कहना ठीक है। जैसा कि आचार्यचरणों ने अपनी सुबोधिनी में भगवान के वाक्यों का अर्थ किया कि - "अन्तर्गृहगताएँ इस व्रज में ही हैं अतः आप ही निर्बाध होकर यहीं रहिए (सुबो० १०-४४-३८)" - तो स्वयं भगवान उनके लिये कह रहे हैं कि, अन्तर्गृहगताएँ तो यहीं व्रज में ही है अतः सिद्ध होता है कि, इनका सदा-सर्वदा व्रज में ही निवास है।

इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसङ्गे विंशाध्याये, "तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्। हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन"मितिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न मृग्यं, तच्छक्तीनामिव। अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः श्र्यादयो गोप्यादयो वेत्यर्थो ज्ञेयः। एवं चात्र भगवान् व्रजे तिष्ठतीति ता अपि व्रजे एव चेति व्रजे स्थितत्वमायात्येवेति दिक्। एवं च सिद्धा विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम्। तथा च गोपसाहित्येन गोचारणलीलार्थं भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोगरसानुभवः, सायंसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च वृन्दावन एव महानन्दसन्दोहानुभवश्चैतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवैतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम्।

***** भागवत में यज्ञपत्नियों का प्रसंग पढ़ें। वहाँ उल्लिखित है कि जब प्रभु के आगमन का समाचार यज्ञपत्नियों ने सुना तो वे सभी प्रभुदर्शन को चल पड़ीं। उनमें से एक यज्ञपत्नी को भी ठीक उसी प्रकार से प्रतिबंध हुआ और उसे वहीं रोक लिया गया, जैसे अन्तर्गृहगताओं को रोक लिया गया था। तब उसकी भी ठीक अन्तर्गृहगता गोपिकाओं की भाँति ही विरह में सगुणदेह नष्ट हो गयी और अलौकिकदेह प्राप्त करके भगवान में लीन हो गयी ***** इसी बात को आचार्यचरणों ने पहले ही बीसवें अध्याय के यज्ञपत्निप्रसंग में "तत्रैका विधृता भर्त्रा(सुबो० १०-२०-३४)" इस पद्य के व्याख्यान में कहा है कि, " इस प्रकार भगवत्संग प्राप्त करने वाली यज्ञपत्नी की स्थिति भगवान के अतिरिक्त कहीं और नहीं हो सकती। वो भगवान के संग सदा वहीं है , जहाँ भगवान की श्री आदि बारह शक्तियाँ एवं गोपिकाएँ भी सदा उनके संग व्रज में ही निवास करती हैं"। इन सभी विश्लेषणों से ये सिद्ध होता है कि, भगवान सदा व्रज में निवास करते हैं एवं अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ भी सदा उनके संग व्रज में ही निवास करती हैं। साथ ही साथ यह भी सिद्ध होता है कि रासमंडल की गोपिकाओं को घर बैठी अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को होने वाली भगवत्प्राप्ति के दर्शन नहीं हैं एवं अक्रूरजी वाली लीला एवं भगवान के मथुरागमन की लीला से अन्तर्गृहगताओं का कोई भी वास्ता नहीं है। और यह भी समझिए कि गोपबालकों के संग गोचारण के लिये जब भगवान वन में पधारते थे एवं रासलीला के समय जब पुनः घर पधारते,

तो दिन के समय तो भगवान के वन में पधार जाने के कारण अन्तर्गृहगताओं को भगवान के विप्रयोग का अनुभव होता था एवं सायंकाल में भगवान के वापस लौटने पर वृंदावन में उन्हें महान आनंद का अनुभव होकर संयोगरस का अनुभव होता था ; फिर पूर्वपक्षी यह कैसे और किस आधार पर कह सकता है कि, अन्तर्गृहगताओं को तो केवल संयोगरस का ही अनुभव हुआ, विप्रयोगरस का अनुभव नहीं हुआ अतः उन्हें मध्यमफल प्राप्त हुआ ? सो, अब मैंने मेरा पक्ष पूरे विस्तार से कह दिया है अतः मेरा कहा उचित ही है।

स्यादेतत्। वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलं, तत्र यतोन्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायस्थप्रारंभपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां "सन्ति च सिंहास्तथात्र काल" इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम्। व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृततट्टिपण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थ इति, तत्रापूर्णविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त इदानीं पूर्णविप्रयोगात्मकपूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते भगवतीत्यनेन पूर्णविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं "तासामाविरभू"दित्यनेनैकोनत्रिंशाध्याये पूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः। एवं च पूर्वस्वरूपाद्भिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूपं परमकाष्ठापन्नम् , एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्तासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः, किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरसात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्णफलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते।

****** (यहाँ से टीकाकार ने पूर्वपक्षी का पक्ष बड़े विस्तार से किया है अतः इस पूरी फक्किका में पूर्वपक्षी अर्थात् विरोधीपक्षी की बात कही गयी है। इसके पश्चात् आगे जब उत्तरपक्ष आरंभ होगा तब पुनः सूचित किया जायेगा-अनुवादक)***** अब पूर्वपक्षी यह कहता है कि - हम अन्तर्गृहगताओं को उत्तमफल प्राप्त न होकर मध्यमफल प्राप्त हुआ ऐसा इसलिये कह रहे हैं क्योंकि फलप्रकरण के द्वितीय अध्याय के प्रारंभिक पद्य (सुबो० १०-२७-१) की व्याख्या करते हुए आचार्यचरणों ने "जैसे वन में सिंह विचरण करते रहते हैं एवं हथिनियाँ हाथियों से बिछड़ जाने पर उन सिंहों से भयभीत रहती हैं, उन्हीं सिंहों की भाँति यहाँ काल है" यह कहा है। और इसी की व्याख्या करते हुए आपश्री के पुत्ररत्न श्रीविट्ठलनाथजी ने अपनी टिप्पणी में यह लिखा है कि - "यहाँ काल शब्द का अर्थ है -यही भगवान के पूर्ण अवतार का काल है"। इस वाक्य का अर्थ यह है कि, जो पहले भगवान का अपूर्ण विप्रयोगसंयोगात्मक अवतार था, वह समाप्त हुआ और अब पूर्णविप्रयोगात्मक, पूर्णसंयोगात्मक पुरुषोत्तम का अवतार हुआ है। जब भगवान रास में से अन्तर्धान हो गये तब वह उनका पूर्ण विप्रयोगात्मक स्वरूप था। इसके पश्चात् "तासामाविरभूच्छौरि(सुबो० १०-२९-२)" इस श्लोकानुसार जब वह पुनः प्रकट हुए तब वह स्वरूप उनका पूर्णसंयोगात्मक पुरुषोत्तम का अवतार था। इस प्रकार से रास में जो भगवान का पहले स्वरूप की तुलना में भिन्न परमकाष्ठापन्न स्वरूप प्रकट हुआ, वह अन्तर्गृहगता गोपिकाओं के लिये प्रकट नहीं हुआ, इसलिये अन्तर्गृहगताओं को भगवान के इस पूर्णविप्रयोग एवं पूर्णसंयोगात्मक स्वरूप की प्राप्ति नहीं हुई ; अपितु न्यूनसंयोग एवं न्यूनविप्रयोग रसात्मक भगवत्स्वरूप की प्राप्ति हुई, इसलिये उन्हें संपूर्ण फलप्राप्ति नहीं हुई और इसीलिये हम अन्तर्गृहगताओं को मध्यमफल की प्राप्ति हुई, यह कह रहे हैं।

न चेदं स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानीमेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, "गायन्त्य उच्चै"रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्थशब्दो हि धूमवल्लोक इति श्रीमदाचार्यतनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां "अत्रेदमाकूतं, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः। तस्य स्वरूपात्मकत्वेन तत्प्राकट्यं विना तदनुभवासम्भवात् , "तथा परमहंसाना"मिति वाक्याद्यादृशेन भक्तियोगेन तत्प्राप्तिस्तादृक् तत्प्रकटनायाधुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादितत्तनुजरत्नप्रतिपादनान्तर्गतैतावत्कालाधुनापदवाच्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति चेत् ,

आप ये मत सोचिए कि भगवान का यह पूर्णस्वरूप पहले प्रकट न होकर अब ही प्रकट हुआ, इस बात में क्या प्रमाण है ? क्योंकि " गायन्त्य उच्चैरमुमेव (सुबो० १०-२७-४)" इस पद की सुबोधिनी में आचार्यचरणों की "शब्दो हि धूमवल्लोके" इस पंक्ति की टिप्पणी करते हुए श्रीविट्ठलनाथजी ने यह लिखा है कि - "यहाँ इस बात को समझिए कि, इस समय तक भगवान ने अपना स्वरूपानन्द प्रकट नहीं किया था क्योंकि वह स्वरूपानन्द स्वरूपात्मक है इसलिये जब तक भगवान अपने स्वरूपानन्द का प्राकट्य नहीं करेंगे, तब तक व्रजगोपिकाओं को भगवान के स्वरूपानन्द का अनुभव नहीं होगा"। इस वाक्यानुसार आचार्यचरणों के तनुजरत्न श्रीगुसाईंजी का तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार के भक्तियोग से भगवान के स्वरूपानंद की प्राप्ति होती है, वैसे स्वरूपानंद को प्रकट करने के लिये इस समय ही(अर्थात् रास में अंतर्धान होने के पश्चात् प्रकट हुए स्वरूप के समय

ही)पुरुषोत्तम का अवतार हुआ है"। श्रीगुसाईंजी के इस कथन से सिद्ध होता है कि, रास में अंतर्धान होने से पहले भगवान पूर्णपुरुषोत्तमरूप से प्रकट नहीं हुए थे अपितु अंतर्धान होने के पश्चात् जिस स्वरूप से प्रकट हुए , वही स्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम का स्वरूप था।

अत्र वदामः। आगामिविरिञ्चिसृष्ट्युद्यतविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो व्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमाथुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेहं भवतां प्रेयान् रासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमयव्यापिवैकुण्ठलोकस्थशुद्धपुष्टिस्थानरूपश्रीमद्गोवर्धनयमुनासहितनानारासरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टकेवलश्रृंगाररसानन्दमयेन सारस्वतकल्पानुसारिश्रीभागवतीय"कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि"तिवचनसिद्धपरमकाष्ठापन्नत्वेन भगवता वेदान् प्रति वरो दत्तः। एवं च ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तं न पूर्णपुरुषोत्तमावतारो जातः, सारस्वतकल्प एव च जात इति सिद्धम्।

******(अब यहाँ से टीकाकार पूर्वपक्षी के उपर्युक्त कथनों/तर्कों का खंडन करके अपना सिद्धांतपक्ष स्थापित कर रहे हैं)***** यदि आप ऐसी शंका कर रहे हैं तो मैं इसका स्पष्टीकरण किये देता हूँ। सुनिए , भगवान ने वेद की श्रुतियों को यह वरदान दिया था कि आगे आनेवाले सारस्वतकल्प में जो कि ब्रह्मा के एक दिन के समान है, आप व्रज में गोपियाँ बनेंगी एवं पृथ्वी के भारतक्षेत्र के अंतर्गत माथुरमंडल में आए वृंदावन के रासमंडल में आपका प्रिय बनकर मैं प्रकट होउँगा। और सारस्वतकल्प में प्रकट होने वाले भगवान तो अलौकिक व्यापिवैकुण्ठ में शुद्धपुष्टिस्थानरूप श्रीमद्गोवर्धन यमुनासहित अनेक प्रकार के रासरसों में उन्मत्त गोपिकाओं के समूह से घिरे हुए श्रृंगार रसानन्द से युक्त सारस्वतकल्पानुसारी परमकाष्ठापन्न स्वरूप हैं, जिस स्वरूप के बारे में भागवत में "भगवान तो केवल श्रीकृष्ण हैं, अन्य सभी स्वरूप तो इनके अंशकलावतार हैं(श्री०भा० १-३-२८)" इस वाक्य में कहा गया है। इन वाक्यों का गूढ़ तात्पर्य यह है कि ब्रह्मकल्प से लेकर सारस्वतकल्प तक भगवान ने पूर्णपुरुषोत्तमरूप से अवतार नहीं लिया अपितु सारस्वतकल्प में ही लिया, यह सिद्ध होता है।

एवं चेदं प्रघट्टकमेव मनसिकृत्यैतावत्कालाधुनापदे उक्ते। तथा चैतावत्कालपर्यन्तपदस्य ब्रह्मकल्पादारभ्य सारस्वतकल्पपर्यन्तमित्यर्थोऽधुनापदस्य च सारस्वतकल्पे इत्यर्थः सम्पन्नः। तथा च बाल्यमारभ्य कृता लीला सर्वापि रसालतामापद्यते। भवदुक्तप्रकारे त्वेतदवतारपूर्वसामयिकी सर्वापि लीला स्वरूपान्तरसहभावेन कृतत्वाद्रसाभासतामाविष्करोति। किञ्च। रासमण्डलमण्डनाभिः कृतं "कस्याश्चित् पूतनायन्त्या" इत्यादिलीलानुकरणमपि न सङ्गच्छते। इदानीमाविर्भूतविप्रयोगसंयोगात्मकस्वरूपेण तत्तल्लीलाया अकृतत्वात्। स्वप्रियकृतलीलानुकरणस्यैव लीलाहावरूपत्वमिति रसशास्त्रसिद्धान्तात्।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए श्रीगुसाईंजी ने अपनी टिप्पणी में "एतावत्काल(इस समय तक)" एवं "अधुना(अब तक)" ये दो बातें कही हैं। इसमें "इस समय तक" का अर्थ है - ब्रह्मकल्प से लेकर सारस्वतकल्प तक पूर्णपुरुषोत्तम का आविर्भाव हुआ। "इस समय तक" का अर्थ "अंतर्धान होने तक पूर्णपुरुषोत्तम का आविर्भाव नहीं हुआ" एवं "अब हुआ" का अर्थ "अंतर्धान होने के पश्चात् पुनः प्रकट होने पर पूर्णपुरुषोत्तम का आविर्भाव हुआ"- इस प्रकार से नहीं है, जो पूर्वपक्षी कह रहा है। सारस्वतकल्प में प्रकटे भगवानश्रीकृष्ण को पूर्णपुरुषोत्तमका अवतार मानने पर ही श्रीकृष्ण की बाललीला से लेकर समस्त लीलाएँ रसयुक्त मानी जा सकेंगी। और यदि पूर्वपक्षी का प्रकार मानें, तो रासलीला के पहले की गई सभी लीलाएँ पूर्णपुरुषोत्तम से भिन्न किसी अन्य श्रीकृष्ण के स्वरूप द्वारा की गई माननी पड़ेंगी जिससे रसाभास हो जायेगा। और भी, रासमंडल की गोपिकाओं ने जो "कस्याचित् पूतनायन्त्या (श्री०भा० १०-३०-१५)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवान की लीला की नकल की है , वह बात भी संगत नहीं हो पायेगी क्योंकि यदि प्रभु रास में ही पूर्णविप्रयोगसंयोगात्मक पूर्णपुरुषोत्तमरूप से प्रकट हुए बता रहे हो , तो यह मानना पड़ेगा कि इसके पहले की जितनी भी लीलाएँ हैं , वे पूर्णपुरुषोत्तम ने की ही नहीं ! और रसशास्त्र का भी यही सिद्धांत है कि नायिका अपने प्रेमी नायक की ही लीलाओं का अनुकरण करती है ; और यदि रास में प्रकट होने से पहले श्रीकृष्ण वह पूर्णपुरुषोत्तम नहीं थे जिनकी चाहना गोपिकाओं ने की थी, तो फिर गोपिकाएँ भला उन अपूर्णश्रीकृष्ण के स्वरूप का अनुकरण क्यों करने लगीं ये बताईये ?

अपरञ्च। विचयनसामयिकनन्दसूनुर्गतो हत्वा रामानुजो मानिनीनां, गोविन्दचरणप्रिये इत्यादिषु नन्दसुतबलभद्रानुजगोकुलेन्द्रादिनामकथनस्याथ च "विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसा"दित्याद्युक्तकालीयादिभयरक्षितत्वगोचारणगमनकर्तृत्वादिकथनस्य तत्समयप्रकटस्वरूपे सम्भवाभावेन भ्रमरूपत्वापातात्।

और भगवान के अंतर्धान होने के समय जब गोपिकाएँ भगवान को ढूँढ रही थीं, तब ढूँढते-ढूँढते उन्हें एक स्थान पर ऐसा लगा कि, यहाँ भगवान ने कुछ पुष्प चुन कर किसी गोपी का श्रृंगार किया है एवं उसे अपने संग ले गये अतः विरहावस्था में उन्होंने आपस में ही नन्दसूनु-श्रीकृष्ण के बारे में पूछा था कि, भगवान हमें छोड़कर कहाँ चले गये हैं ? तो फिर इस कथा को भी भ्रम ही मान लेना पड़ेगा क्योंकि गोपिकाएँ भला अपूर्णपुरुषोत्तम की चाहना क्यों करेंगी ? उपर्युक्त वाक्य में एवं "गोविंदचरणप्रिये(श्री०भा० १०-३०-७)" इस वाक्य में भी जो गोपिकाओं ने भगवान को "नंदपुत्र" , "बलराम के भाई" , "गोकुल के स्वामी" इत्यादि-इत्यादि नामों से संबोधित किया है, तो यह नाम भी असंगत हो जायेंगे क्योंकि ये सभी नाम अपूर्णपुरुषोत्तम के लिये तो उपयोग किये नहीं जा सकते। एवं गोपीगीत में "विषजलाप्ययात्" इत्यादि वाक्यों में यह भी कहा था कि - "श्रीकृष्ण कालियानाग से हमारी रक्षा करने वाले हैं(श्री०भा० १०-३१-३)" ; "प्रभु गोचारण के लिये वन में पधारते हैं" इत्यादि सभी बातें भ्रम सिद्ध हो जायेंगी यदि ये मान लिया जाय कि पूर्णपुरुषोत्तम का आविर्भाव तो केवल रास के समय अंतर्धान होने के पश्चात् पुनः प्रकट होने पर हुआ है।

न चास्तु भ्रमरूपत्वमिति वाच्यम्। तथा सति रासमण्डलमण्डनायमानानां भावानुसारेणेदानीन्तनभजनकर्तृभिरेतादृश-भवत्सिद्धान्तस्य ज्ञायमानत्वेन नन्दसून्वादिनामाग्रहणस्य बाललीलामारभ्य रासलीलाप्रारम्भपर्यन्तकृतलीलानामभावनाप्रसक्तेः।

और यह कहना तो नितांत गलत होगा कि उपर्युक्त सभी बातें भ्रम सिद्ध होती हों तो भले ही भ्रम मान ली जाएँ क्योंकि इस पुष्टिमार्ग में आधुनिक जीवों को तो वारंवार यही उपदेश/सीख दीं जाती है कि, रासमंडल की गोपिकाओं जैसे भाव विकसित करो। अब यदि आधुनिक जीवों के मन में आपका गलत सिद्धांत बैठ गया, तो गोपिकाओं की बातों को भ्रम मानकर फिर वे बाललीला से लेकर रासलीला तक की सारी की सारी भावनाएँ करेंगे ही नहीं !!!

अन्यच्च। श्रीमन्नवनीतप्रियश्रीमद्गोवर्धनोद्धरणस्वरूपभजनाप्रसक्तेश्च महाननर्थः प्रसज्जेत। न च तदन्तर्गतमिदमपि स्वरूपं वर्तत एवेति वाच्यम्। तथा सति तत्तल्लीलाविशिष्टस्वरूपाणां तत्तल्लीलाश्रवणादिनां तत्तत्स्वरूपभजनस्य च गौणलीलात्वगौणश्रवणादित्वगौणस्वरूपभजनत्वापत्तेश्च। अपरञ्च। "जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्। तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधा" इतिपद्येन श्रीमदाचार्यैर्यशोदोत्सङ्गलालितस्य सिद्धान्तितायाः परमतत्त्वताया भङ्गप्रसङ्गश्च। न हीदानीमाविर्भूते स्वरूपे यशोदोत्सङ्गलालितत्वमस्तीति तद्विरुद्धा भवद्राद्धान्तपद्धतिः कथं भव्यतामुपेयात्।

और इसमें महान अनर्थ तो तब होगा कि भ्रम मानने से श्रीनवनीतप्रियाजी एवं श्रीगोवर्धननाथजी के स्वरूप की सेवा/ भावना करनी भी व्यर्थ सिद्ध हो जायेगी। यदि पूर्वपक्षी ये कहे कि - नहीं नहीं ! मैं यह कह रहा हूँ कि रासलीला में अंतर्धान होने के पश्चात् जब पुनः प्रभु पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूप से प्रकट हुए , उस स्वरूप में बाललीला आदि समस्त स्वरूप अन्तर्निहित थे - तो फिर मुसीबत ये उठ खड़ी होगी कि बाललीला से लेकर रासलीला तक के स्वरूप वाले श्रीकृष्ण, उनकी लीलाओं का श्रवण एवं उनके स्वरूप का भजन करना फिर गौणलीला, गौणश्रवण और गौणस्वरूप का भजन किया कहना पड़ेगा। और फिर यह भी तो है कि, आचार्यचरणों का "इस यशोदोत्संगलालित श्रीकृष्ण के स्वरूप को परमतत्व जान लो। यदि कोई इन्हें परमतत्व न जानकर कुछ और कहता है, तो वह आसुरी है (अणुभाष्य-४-४-२२- श्रीगुसाईंजी)" इस वाक्य में यशोदाजी की गोद में लालित श्रीकृष्ण को परमतत्वरूप से मानने का सिद्धांत भी खंडित हो जायेगा। अतः पूर्वपक्षी के सिद्धांतानुसार यदि रासमंडल में आविर्भूत होने के समय ही श्रीकृष्ण में पूर्णपुरुषोत्तम का अवतार प्रकट हुआ है, तो उस रासमंडल के स्वरूप में तो श्रीकृष्ण का यशोदोत्संगलालितस्वरूप तो है ही नहीं ! अतः आप ही बताइये कि खुद आचार्यचरणों के ही सिद्धांत के विपरीत जानेवाली आपकी बात को हम कैसे मान लें ?

अथ च "सखि कापि सापि सम्प्रति वरिवर्ति किमु व्रजाधिपप्राणा। या नन्दसूनुमुरलीतरलं चेतः समादध्या"दिति तत्तनुजराजोक्ता स्वस्य तरलचेतस्त्वे नन्दसूनुमुरल्या हेतुत्वोक्तिरपि कथं समञ्जसा स्यात्। श्रीमदाचार्यरत्नानां तत्तनुजराजानां च व्रजभक्तभावात्मकभगवत्स्वरूप एव निष्ठावत्त्वात्।

इसके साथ-साथ आचार्यचरणों के पुत्ररत्न श्रीगुसाईंजी के " हे सखि ! नन्दसूनु श्रीकृष्ण की मुरली ने मेरे चित्त को द्रवित कर दिया है अतः मेरे द्रवित चित्त का समाधान करने वाली व्रजाधिप श्रीकृष्ण की वह प्राणप्रिय सखी कहाँ है ?" इस कथन में **श्रीगुसाईंजी** ने यह कहा है कि - मेरे चित्त को नन्दसूनु(नंदबावा के पुत्र)की मुरली ने द्रवित कर दिया है। अतः इस वाक्य से भी **यही सिद्ध होता** है कि, श्रीगुसाईंजी एवं आचार्यचरण दोनों की निष्ठा व्रजभक्तभावात्मक भगवत्स्वरूप में ही है।

ननु तर्ह्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यास्मत्प्रभुकृततथात्र काल इत्यत्रत्यकालपदव्याख्यानस्य का गतिरिति चेत्। अत्रोच्यते। पृ पालनपूरणयोरितिधात्वर्थानुसारात् सम्पूर्तिशब्दस्य सम्पूर्णता ह्यर्थः, सा च केनचित् प्रकारेण न्यूनस्य भवति। तत्रास्मदाचार्योक्तमार्गो हि फलमार्गः। तत्र फलरूपो भगवानेव साधनम् , फलरूपो भगवानेव च फलम्। तत्र परमकाष्ठापन्नस्य फलरूपभगवतो "रसो वै स" इति श्रुते रसरूपत्वात् स्वप्नादिसंयोगविशिष्टप्रेमासक्तिव्यसनपर्यन्तावस्थासंवलितपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपेण साधनता।

अब पूर्वपक्षी का प्रश्न यह है कि – फिर गुसाईंजी द्वारा कहे "अवतारसम्पूर्तिकाल" एवं आचार्यचरणों द्वारा कहे "तथात्र कालः(सु० १०-२७-१)" इत्यादि शब्दों का अर्थ क्या है ? तो अब मैं इन शब्दों का अर्थ कह रहा हूँ। सम्पूर्ति शब्द का अर्थ है – संपूर्णता। संपूर्णता कहने का अवकाश तो तभी मिलेगा, जहाँ कहीं कोई न्यूनता होगी। हमारे आचार्यचरणों द्वारा बताया गया यह पुष्टिमार्ग फलमार्ग है , जिसमें फलरूप भगवान ही भगवत्प्राप्ति के साधन हैं एवं फलरूप भगवान ही फल हैं। और, परमकाष्ठापन्न फलरूप भगवान "निश्चितरूप से भगवान ही रस हैं(तैति० २-७-१)" इस श्रुति के अनुसार स्वयं रसरूप हैं। अतः भगवान व्रजभक्तों को पहले तो स्वप्न आदि में संयोग देते हैं , फिर उनमें प्रेम-आसक्ति-व्यसन दशाएँ सिद्ध कराते हैं , फिर उनमें पूर्व में रहे भगवत्प्रेम के कारण उन्हें अपना विप्रयोग देते हैं – यह स्वयं भगवान ही करते हैं ताकि व्रजभक्त उन्हें प्राप्त कर सकें अतः यह भगवान की साधनता है या उनका साधनरूप से प्रकट होना है।

तदनन्तराविर्भूतपरस्परपोष्यपोषकभावविशिष्टविप्रयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमसंयोगतादृशसंयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमविप्रयोगपरम्परारूपेण च फलता। तत्रापि परम्परायां परमफलता तु संयोगरूपस्यैव।

इसके पश्चात् भगवान परस्पर पोष्य-पोषक भाव से विशिष्ट होकर अतिपुष्ट पूर्णपूर्णतरपूर्णतमसंयोग स्वरूप से आविर्भूत हुए ; और ऐसे प्रकार के संयोग से अतिपुष्ट होकर पूर्णपूर्णतरपूर्णतमविप्रयोग स्वरूप से आविर्भूत हुए- इस प्रकार की परंपरा से भगवान का आविर्भूत होना उनका फलरूप से प्रकट होना है, यह समझिए। फिर भी यदि संयोग-विप्रयोग को परंपरा से देखें तो परमफलता तो संयोग की ही कही जाएगी।

इदं यथा तथानुपदमेव प्रतिपादयिष्यते। एवं च बाल्यमारभ्य पौगण्डान्तं पूर्वोक्तप्रकारकपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपसाधनविशिष्टत्वमेव व्रजभक्तानाम्। तत्र फलात् साधनं न्यूनमेवेत्यनुभवसिद्धम्। अन्यथा साधने प्राप्ते फलाकांक्षा न स्यात्। तथा चैतासां पूर्वानुरागविशिष्टस्वप्नादिसंयोगसुखे प्राप्तेपि बाह्यसंयोगसुखस्याभिलषितस्याजातत्वादेतावत्पर्यन्तं साधनरूपत्वमात्रेणैव भगवत आविर्भावात् पुरुषोत्तमावतारो न्यून एव स्थितः।

मैं संयोग को परमफल क्यों/कैसे मान रहा हूँ , यह अभी बताए देता हूँ। प्रभु की बाललीला से लेकर पौगंडलीला तक व्रजभक्त पूर्व में कहे अनुसार पूर्वानुराग से उत्पन्न हुए विप्रयोगरूपी विशिष्टसाधन से ही युक्त रहे। और, यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि फल की तुलना में साधन हमेशा न्यून ही होता है। यदि साधन न्यून न होता तो बताईये कि साधन करने के पश्चात् फल की आकांक्षा क्यों रहती है ? यद्यपि इन व्रजभक्तों को पूर्व में रहे भगवत्प्रेम के कारण स्वप्न आदि में संयोगसुख तो प्राप्त होता है तथापि उन्हें बाह्यसंयोगसुख की अभिलाषा तो होती ही है अतः जब तक प्रभु उन्हें बाह्यसंयोगसुख न दें, तब तक भगवान साधनरूप से ही आविर्भूत हुए अतः तब तक पुरुषोत्तम का अवतार न्यून ही रहा।

अतःपरं तु "बाहुप्रसारपरिरम्भे"त्याद्युक्तेन तदभिलषितपूर्णबाह्यसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरमेतत्संयोगसुखपोषार्थमुक्तसंयोगपुष्टान्तर्हिते भगवती"त्याद्युक्तेन पूर्णविप्रयोगस्वरूपेण, तदनन्तरं "तासामाविर्भू"दित्याद्युक्तेन रासावसानपर्यन्तं पूर्वपूर्णसंयोगसुखस्वरूपादपि कोटिगुणेन पूर्णविप्रयोगपुष्टेन पूर्णतरसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरं च गोप्यः कृष्णे वनं यात इत्याद्युक्तेन पूर्वोक्तपूर्णतरसंयोगसुखपुष्टेन परार्धगुणभाविसंयोगसुखपोषार्थं पूर्णतरविप्रयोगस्वरूपेण, ततः पुनः पूर्वोक्तपूर्णतरविप्रयोगपुष्टेन गोचारणपरावृत्तिजनितबहुपरार्धगुणपूर्णतमसंयोगसुखरूपेणाविर्भूतः,ततः पुनरप्यक्रूरकृतमथुरानयनजनितेन पूर्णतमसंयोगसुखपुष्टेन पूर्णतमविप्रयोगरूपेण पुनरपि भावभरेणानन्तगुणान्तरबाह्यसंयोगसुखस्वरूपेण चेत्येवं संयोगपरम्परारूपेणाविर्भविष्यति भगवान्।

**** आगे बढ़ने से पहले टीकाकार की योजना समझ लें। टीकाकार का कहना है कि भगवान स्वयं ही रस हैं। अतः वे रस दोनों अवस्थाएँ अर्थात् संयोग एवं विप्रयोग स्वरूप से प्रकट होते हैं। आगे टीकाकार ने संयोग एवं विप्रयोग दोनों के तीन-तीन कर दिये हैं। पूर्णसंयोग,पूर्णतरसंयोग,पूर्णतमसंयोग एवं इसी प्रकार पूर्णवियोग, पूर्णतरवियोग, पूर्णतमवियोग। इनका कहना है कि संयोग की प्रत्येक अवस्था उसके पश्चात् आने वाले विप्रयोग को पुष्ट करती है और विप्रयोग की प्रत्येक अवस्था उसके आने वाले संयोग को पुष्ट करती है। उदाहरण के लिये पूर्णसंयोग इसलिये होता है ताकि पूर्णविप्रयोग पुष्ट हो सके या परिपक्व

हो सके। तत्पश्चात् पूर्णवियोग उसके आगे आने वाले पूर्णतरसंयोग को पुष्ट करता है। यों क्रमशः भगवान संयोग एवं विप्रयोग की अवस्थाओं द्वारा प्रकट होते रहते हैं। ये अवस्थाएँ क्रमशः कैसे आयीं, यह टीकाकार आगे बता रहे हैं।****** इसके पश्चात् “बाहुप्रसारपरिरम्भ(श्री०भा० १०-२९-४६)” इस श्लोक में कहे अनुसार व्रजभक्तों की अभिलाषा के अनुसार भगवान पूर्णबाह्यसंयोगसुख स्वरूप में आविर्भूत हुए। इसके पश्चात् उस बाह्यसंयोगसुख को पुष्ट करने के लिये “अन्तर्हिते भगवति(श्री०भा० १०-३०-१)” इस श्लोकानुसार भगवान अन्तर्धान हो गये अर्थात् दूसरे शब्दों में यों कहें कि भगवान पूर्णविप्रयोगस्वरूप से प्रकट हुए। ******(अर्थात् भगवान अंतर्धान हो गये अर्थात् भगवान का अंतर्धान होना विप्रयोगस्वरूप से प्रकट होना है)******* । इसके पश्चात् “तासामाविर्भूच्छौरिः (श्री०भा० १०-३२-२)” इस श्लोक में कहे अनुसार भगवान फिर प्रकट हुए ; तात्पर्य यह कि रासलीला की समाप्ति तक पूर्व में कहे गये पूर्णसंयोगसुख से भी करोड़ों गुना अधिक पूर्णविप्रयोग से पुष्ट होकर पूर्णतरसंयोगसुखरूप से भगवान प्रकट हुए। इसके पश्चात् पूर्व में कहे पूर्णतरसंयोगसुख से पुष्ट होकर आगे जो व्रजभक्तों को अनंतगुना संयोगसुख मिलनेवाला है, उसे देने के लिये “गोप्यः कृष्णे वनं याते (श्री०भा० १०-३५-१)” इस श्लोक में कहे अनुसार भगवान वन में पधार गये अर्थात् दूसरे शब्दों में कहा जाय तो भगवान् फिर से पूर्णतरविप्रयोगरूप से प्रकट हुए। इसके पश्चात् जब भगवान गोचारण करके पुनः वापस पधारते हैं, तब होने वाला प्रभु का संयोगस्वरूप पूर्व में कहा पूर्णतरविप्रयोगस्वरूप के कारण पुष्ट होकर करोड़ों गुना अधिक पूर्णतमसंयोगसुख से आविर्भूत होता है। इसके पश्चात् पूर्णतमसंयोगसुख से पुष्ट होने के बाद पुनः जब अक्रूरजी भगवान को मथुरा ले गये, तो प्रभु तब पूर्णतमविप्रयोगस्वरूप से प्रकट हुए और भगवान जब मथुरा पधार गये तो भावभरी गोपिकाओं को कभी अन्तर में तो कभी बाहर भगवान की अनुभूति होती थी ; इस प्रकार संयोगपरंपरा से भगवान आविर्भूत होते रहते हैं।

एवं चेदानीमेव रसरूपावतारस्य पूर्वं बाहुप्रसारेत्यादिना एकदलरूपसंयोगावतार उक्तः, इदानी“मन्तर्हिते भगवती”त्यादिना द्वितीयदलरूपविप्रयोगावतार उच्यते इति सम्पूर्णता जायत इत्यवतारसम्पूर्तिकाल इत्यत्रत्यसम्पूर्तिशब्देन सम्पूर्णतोक्ता, न तु पूर्वावतारसमाप्तिजातित्युच्यते। समाप्तिरूपार्थस्यैव विवक्षितत्वे “अवतारसमाप्तिकालः” इत्येवोक्तं स्यात्। तस्मादवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यावतारसम्पूर्णताकाल इत्यर्थः सम्पन्न इति नन्वित्यादिभवत्प्रश्नोत्तरस्य सिद्धेरिति सर्वं भव्यम्।

अब, इस समय रासमंडल में जो भगवान एक बार अंतर्धान होने के पश्चात् प्रकट हुए हैं , उस स्वरूप-अवतार को तो “बाहुप्रसारपरिरम्भ(श्री०भा० १०-२९-४६)” इस श्लोकानुसार भगवान का एकदलरूप संयोगावतार कहा गया है , और इस समय जब वह “अन्तर्हिते भगवति(श्री०भा० १०-३०-१)” इस वाक्यानुसार पुनः प्रकट हुए तब वह स्वरूप उनका द्वितीयदलरूपी विप्रयोगावतार कहा गया है अतः संयोग-विप्रयोग दोनों स्वरूप प्रकट हो जाने के कारण अब भगवान के स्वरूप में संपूर्णता आयी। इसलिये सम्पूर्तिकाल शब्द का अर्थ भगवान के इस प्रकार से अवतार की सम्पूर्णता है ; यह अर्थ नहीं है कि भगवान के अपूर्णपुरुषोत्तम का काल सम्पूर्ण हुआ और पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूप का प्रारंभ हुआ। यदि सम्पूर्ति शब्द से श्रीगुसाईंजी का अभिप्राय अपूर्णपुरुषोत्तमावतार की समाप्ति हो जानी ही होता, तो वे खुद भी “सम्पूर्ति” शब्द न लिखकर क्या “सम्पूर्ण” शब्द ही न लिख देते ? इसलिये पूर्वपक्षी ने जो - “अवतारसम्पूर्तिकाल” का अर्थ “अवतारसमाप्तिकाल है” - यह कह कर प्रश्न किया था , उसका उत्तर मैं दे चुका।

यत्पुनर्विप्रयोगस्यैव फलत्वम् , न संयोगस्य, संयोगस्तु तडिल्लतावत् किञ्चित् कालं मध्ये मध्ये जायमानो भक्तानां देहस्थित्यर्थमुपयुक्तो भवति। भगवद्विषयकविप्रयोगस्यातिदुःसहत्वात्। अत एव भगवतो मथुरातः परावृत्त्यानागमनम् , संयोगस्यैव फलत्वे मथुरातः परावृत्त्यागमनमेव स्यात्।

****** अध्येता ध्यान में रखें कि यहाँ से पूर्वपक्ष आरंभ हो रहा है अर्थात् टीकाकार के विरोधी पक्ष का मत आरंभ हो रहा है। यह पूर्वपक्ष बड़े विस्तार से किया गया है अतः पढ़ते-पढ़ते भ्रम हो जाता है कि पूर्वपक्ष क्या, कहाँ से , कितना है और उत्तरपक्ष यानि कि टीकाकार का पक्ष क्या, कहाँ से और कितना है ? अतः अध्येताओं की सुविधा के लिये मैंने पूर्वपक्ष आरंभ होने से पहले “पूर्वपक्ष” यों लिखकर संकेत दे दिया है एवं जब उत्तरपक्ष आरंभ होने वाला होगा, तब भी “उत्तरपक्ष” यों लिखकर संकेत दे दिया जायेगा। पुनः ध्यान रखें कि जब तक उत्तरपक्ष का संकेत नहीं आता, तब तक पूर्वपक्ष ही चलेगा।*****

पूर्वपक्ष= अब पूर्वपक्षी ने जो पुनः विप्रयोग को ही फल मानने की बात कही , संयोग को नहीं एवं संयोग के लिये ये कहा कि. बिजली की चमक की तरह संयोग तो कभी-कभार विप्रयोगकाल में प्राप्त हो जाता है ; और वह इसलिये क्योंकि विप्रयोगावस्था का दुःख तो अति दुःसह्य होता है और विप्रयोगावस्था में कहीं भक्तों के प्राण ही न निकल जाएँ अतः कभी-कभार संयोग भी प्राप्त

होना आवश्यक है। और, विप्रयोग को ही परमफल मानने के लिये पूर्वपक्षी यह उदाहरण देते हैं कि, इसी कारण भगवान मथुरा जाने के पश्चात् पुनः व्रज में नहीं लौटे। यदि संयोग ही परमफल होता तो क्या भगवान मथुरा जाकर पुनः व्रज में न लौटते ?

नन्वत्र किं प्रमाणमिति चेत्। "भवतीनां वियोग" इति पद्यव्याख्यानसुबोधिन्याम् [[अथ देहभावेनात्मा गौण इति देहेन सह वियोग आविर्भूतस्योच्येत। तदपि न घटते। समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तत इति। अन्यथा देहा निःस्वभावाः स्युः। आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी। अन्यथा स्वरूपनाश एव स्यात्। यथाग्निकाष्ठयोः। पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात्। सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवत् स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या। सर्वथाभिव्यक्तौ काष्ठांशो ज्वलिष्यतीति न सम्बध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्ता]] इत्यादिप्रघट्टकपर्यालोचने काष्ठान्तःस्थिताग्नेरभिव्यक्तिर्यथा बाह्योपाधिसम्बन्धाभावे किञ्चित्कालिकी, एवं स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्तिरपि तडिल्लतावद्भगवत्संयोगादिविप्रयोगस्यैव सार्वकालिकत्वाद्विप्रयोगस्यैव फलत्वं न संयोगस्येति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव प्रमाणत्वात् ,

और इस बात को प्रमाणित करने के लिये पूर्वपक्षी का कहना यह है कि "भवतीनां वियोगो मे(सुबो० १०-४४-२९ ,३०)" इस पद्य की व्याख्या करने वाली सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने यह कहा है कि -[[यदि ये कहा जाय कि जिसके लिये देह मुख्य है एवं आत्मा गौण, अर्थात् जिनका देहाध्यास अभी छूटा नहीं है , उनके लिये आत्मासंबंधी वस्तुएँ बेमानी हैं अतः आविर्भूत भगवान का गोपिकाओं की देह से वियोग हो सकता है। किंतु वास्तव में देखा जाय तो यह भी संभव नहीं क्योंकि भगवान तो देह-आत्मा-जड़-पदार्थ-प्रपंच सभी में समवायिकारण से सर्वदा विद्यमान हैं अतः देह तो क्या किसी भी वस्तु से भगवान का कभी वियोग नहीं हो सकता। यदि परमात्मा ही गोपिकाओं के देह के भीतर न हों, तो उनकी देह भगवान के रसरूपस्वभाव से रहित हो जायेगी,उनमें रसस्वरूप का प्रादुर्भाव ही न होगा ! प्रश्न यह है कि , फिर उन्हें भगवान का वियोग होने का कारण है ? तो समझिए कि , आविर्भूत हुए भगवान का वियोग ही उनके लिये हितकारी है क्योंकि संयोग होते ही उनका स्वरूपनाश ही हो जायेगा। वह इस प्रकार कि , जैसे अग्नि लकड़ी के भीतर सुषुप्त अवस्था में रहे, तभी तक लकड़ी बची रह सकती है , यदि अग्नि बाहर प्रकट हो जाए तो लकड़ी को ही भस्मीभूत कर देगी। ठीक इसी प्रकार समझिए कि गोपिकाएँ तो प्रादुर्भाव के पूर्व भगवान का उनके हृदय में विराजना,फिर वसुदेवजी के पुत्र के रूप में प्रकट होना, फिर भगवान का वन में पधार जाने से उनका विप्रयोग होना,इसके पश्चात् लौटने पर पुनः संयोग होना,फिर रास में संयोग-विप्रयोग इत्यादि परिस्थितियों के कारण भगवान के विप्रयोग में पहले ही अर्धदग्ध हैं ,अब कहीं भगवान सचमुच ही प्रकट हो जाएँ तो आनंदातिरेक में वे पूरी की पूरी ही जल जाएँ। अतः हम कह रहे हैं कि वियोग ही हितकारी है एवं परमफल है। और यदि आप यह पूछें कि विप्रयोग में फिर भगवत्सुख का अनुभव कैसे होगा ? तो उत्तर यह है कि, जैसे लकड़ी के भीतर अग्नि अवस्थित है, उसी प्रकार जीव को अपने अन्तःकरण में विराजमान भगवान की उपस्थिति से सुख का अनुभव होता ही है। इसलिये यदि भगवान विप्रयोग देने के पश्चात् सर्वथा प्रकट हो जाएँ तो गोपिकाएँ उनके प्रत्यक्षसंयोग को सहन नहीं कर पायेंगी एवं उनके प्राण निकल जायेंगे ; ठीक उसी प्रकार जैसे कि काष्ठ के भीतर रही अग्नि यदि सर्वथा बाहर प्रकट हो जाये तो खुद काष्ठ को ही भस्मीभूत कर देगी अतः भगवान गोपिकाओं को विप्रयोग में ही रहने देते हैं , संयोग नहीं देते क्योंकि भगवान प्रलयकर्ता अर्थात् वियोगकर्ता हैं]] इत्यादि वाक्यों की सुबोधिनी को ध्यान से पढ़ेंगे तो समझेंगे कि, जैसे काष्ठ में रही अग्नि यदि बाहर प्रकट हो जाये और उसे प्रज्वलित रहने के लिये कुछ घास या तिनका इत्यादि न मिले तो वह कुछ समय के लिये ही जली रह पाती है और बाद में स्वतः ही बुझ जाती है , ठीक उसी प्रकार जीव के अन्तःकरण में बसी हुई भगवान की अभिव्यक्ति यदि बाहर प्रकट हो जाए, तो एक बिजली की चमक की भाँति वह कुछ देर ही टिक पाती है (क्योंकि संयोग कुछ समय के लिये ही होता है) अतः संयोग की तुलना में विप्रयोग ही सर्वदा बना रहता है इसलिये विप्रयोग ही परमफल है, संयोग नहीं - यह खुद आचार्यचरणों द्वारा ही प्रमाणित बात है।

आविर्भूतेन वियोगस्त्वित्यादेरयमर्थः। यद्याविर्भूतस्वरूपेण संयोगः स्यात् तदा मथुरात आगमनज्ञानेऽस्मान् विहाय गत इति निश्चयजनितमहादुःखेन देहपातः स्यात् , तदेवोक्तमन्यथेत्यादिना सदृष्टान्तमतोयं वियोगो हितकारीति भावः।

और यदि आप ऊपर सुबोधिनी के अंतर्गत आये "आविर्भूतेन वियोगः" इत्यादि वाक्यों का अर्थ जानना चाहें तो यह है कि - यदि गोपिकाओं के अन्तःकरण में बसा हुआ भगवत्स्वरूप बाहर प्रकट हो जाए एवं गोपिकाओं से उसका संयोग हो जाए , तो संयोगावस्था में जीव को यह विचार आता है कि, यह वही निर्मोही भगवान हैं जो हमें रोता-बिलखता छोड़ कर मथुरा चले गये थे ;

यह निश्चित करके एवं अपनी उस पीड़ा का स्मरण करते-करते महान दुःख के कारण उसका देहपात हो सकता है। इसी बात को बताने के लिये आचार्यचरणों ने उक्त सुबोधिनी में "अन्यथा" इत्यादि शब्दों द्वारा दृष्टांत देते हुए कहा है कि - "इसलिये गोपिकाओं के लिये वियोग ही हितकारी है"।

पूर्वसम्बन्धेनेत्यादेरयमर्थः। राससामयिकवियोगोत्तरसञ्जातसम्बन्धेनैवैताः स्वत्यागजनितमहादुःखेन स्मरणपथगतेनार्धदग्धाः, अतःपरमिदानीन्तनसम्बन्धे मथुराविषयकगमनज्ञानेन कोटिगुणे दुःखे जाते सर्वदाहः स्यादिति ज्ञेयाद्ये स्पष्टोर्थ इति वदन्ति।

आचार्यचरणों के "पूर्वसंबधेनेव" इत्यादि शब्दों का अर्थ है - "पूर्व में रास के समय भगवान के वियोग के पश्चात् जब भगवान पुनः प्रकट हुए थे, तब ही गोपिकाएँ - "भगवान हमें त्याग कर चले गये थे" - यह स्मरण कर-कर के महान दुःख से विरहाग्नि में आधी जल चुकी थीं ; अब यदि इस समय(अर्थात् भगवान के मथुरा पधार जाने के पश्चात् की विरहावस्था में)भगवान पुनः प्रकट हो जाएँ , तो ये गोपिकाएँ - "यह वही भगवान हैं जो हमें फिर से रोता-बिलखता छोड़कर मथुरा पधार गये थे" - यह सोच-सोच कर रास के समय हुए विप्रयोग की तुलना में करोड़ गुना अधिक दुःखी होकर पूरी की पूरी ही जल जायेंगी"- आचार्यचरणों के इस कथन पर हम कह रहे हैं कि, संयोग नहीं अपितु विप्रयोग ही परमफल है।

तत्रापि वदामः। भगवद्रूपरसो ह्यग्निरूपः। तत्र यथाग्निस्तापजनकः शीतलताजनकश्चेति द्विविधः। तत्रान्नादिपरिपाकजनकोग्निस्तु तापजनकः। हिमादिरूपोग्निस्तु शीतलताजनकः। तत्र यावत्पर्यन्तं देहादिषु तापस्तावत्पर्यन्तं हिमरूपोग्निः स्वसम्बन्धेन देहादिस्थितिकारकः। सर्वथा स्वसम्बन्धेन देहादिनिष्ठतापनिवृतौ शीतलतागुणेन देहादिनाशकरश्च।

उत्तरपक्ष = ***** इससे पूर्व कि अध्येता उत्तरपक्ष अर्थात् टीकाकार के पक्ष को पढ़े, यह जान लेना अति आवश्यक है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार संयोग-विप्रयोग क्या है एवं सिद्धांतपक्षी के अनुसार संयोग एवं विप्रयोग का अर्थ क्या है। सर्वप्रथम पूर्वपक्षी के अनुसार संयोग-विप्रयोग का अर्थ क्या है , यह समझें। ध्यान दें कि, पूर्वपक्षी के अनुसार गोपिकाओं को कुल मिलाकर भगवान से दो बार संयोग एवं दो बार विप्रयोग हुआ है। गोपिकाओं को पहला संयोगसुख रास के समय मिला, जब वे भगवान का वेणुवादन सुनकर दौड़ी चली आयीं। इसके पश्चात् जब गोपिकाओं को अभिमान हुआ तो भगवान अंतर्धान हो गये। यह पहला विप्रयोग था। इसके पश्चात् जब कुछ समय बाद भगवान पुनः प्रकट हुए , तब उन्हें फिर से संयोग मिला। और जब भगवान मथुरा पधार गये, तब उन्हें दूसरी बार विप्रयोग हुआ। पूर्वपक्षी के अनुसार विप्रयोग में भगवान उन गोपिकाओं के अन्तःकरण में विराजे एवं उन्हें ताप करवाया। टीकाकार का पूर्वपक्षी से मतभेद केवल यहीं पर है। टीकाकार अपना सिद्धांतपक्ष यों कहते हैं कि, भगवान का गोपिकाओं के अन्तःकरण में विराजना विप्रयोग का नहीं परंतु संयोग का द्योतक है क्योंकि भगवान के के लिये सुध-बुध खो बैठी गोपिकाओं के अन्तःकरण में विराजकर भगवान उन्हें समस्त सुख दे रहे हैं अतः उन्हें भान ही नहीं है कि भगवान उन्हें छोड़कर चले गये हैं। इस अवस्था में भी वे वही के वही भगवत्सुख का अनुभव कर रही हैं , जो उन्होंने रास के समय किया। अब यदि ऐसे समय में भगवान उनके अन्तःकरण से बाहर प्रकट हो जाएँ , तो तुरंत उनका यह भ्रम टूट जायेगा और उन्हें यह स्मरण आ जायेगा कि यही भगवान हमें रोता-बिलखता छोड़कर चले गये थे और थोड़े समय के बाद फिर से चले ही जाने वाले हैं अतः अपने पहले के विप्रयोग की अत्यंत पीड़ा को याद करके एवं अब फिर से छोड़कर चले जाने की करोड़ गुना अधिक पीड़ा के बारे में सोच-सोचकर उनकी तो देह ही छूट जायेगी। इसलिये टीकाकार आचार्यचरणों की सुबोधिनी का अभिप्राय समझाते हुए कहते हैं कि, भगवान का गोपिकाओं के अन्तःकरण में बिराजना ही ठीक है , जो कि संयोग है। जबकि पूर्वपक्ष इस परिस्थिति को विप्रयोग मान रहे हैं। उपर्युक्त मुद्दे को ध्यान में रखकर जहाँ-जहाँ टीकाकार द्वारा संयोगपक्ष को परमफल मानने की बात पढ़ें, तो यह ध्यान में रखें कि टीकाकार गोपिकाओं के अन्तःकरण में बिराजे हुए भगवान के संयोग की बात कर रहे हैं एवं इसी अन्तररमण को संयोग कह रहे हैं। टीकाकार जहाँ -जहाँ विप्रयोग को परमफल अस्वीकार करने की बात कह रहे हैं , वहाँ-वहाँ अन्तःकरण से निकल कर बाहर प्रकट होने की बात के विषय में कह रहे हैं, जब भगवान रास में अन्तर्ध्यान हुए या व्रज छोड़ कर मथुरा पधार गये और गोपिकाओं को विप्रयोग हुआ।********* पूर्वपक्षी की उपर्युक्त दलीलों का उत्तर देने से पूर्व मैं कुछ समझाना चाहता हूँ। वह यह कि, भगवद्-रस अग्नि की भाँति होता है। शास्त्रों में बताया गया है कि अग्नि दो प्रकार की होती है - एक तापजनक और दूसरी शीतलताजनक। जिस जठराग्नि से खाए हुए भोजन का पाचन होता है, वह अग्नि तापजनक होती है और देह में रही अन्य बर्फरूपी अग्नि शरीर को शीतलता देती है। जब तक देह में जठराग्निवाली तापकारक अग्नि विद्यमान है, तब तक बर्फरूपी अग्नि

भी शरीर की स्थिति बनाये रखती है जो कि गौणरूप से शरीर में विद्यमान रहती है। किंतु जिस क्षण यदि बर्फरूपी अग्नि पूरे के पूरे शरीर में सर्वांश में प्रसरित हो जाये, तो अपने शीतलतागुण के कारण शरीर के ताप को संपूर्णतया मिटा देगी और शरीर का नाश कर देगी।

एवं रसरूपी भगवद्रूपोग्निरपि विप्रयोगसंयोगरूपेण द्विधः। तत्र विप्रयोगात्मको रसरूपो वह्निस्तापकारकः, संयोगरूपो वह्निस्तु शीतलताकारकः। तत्र यावत्पर्यन्तं देहे विप्रयोगजनितस्तापसम्बन्धस्तावत्पर्यन्तं तापनिवर्तकस्वशीतलतागुणेन देहजीवात्मनोः स्थितिकारकः। स्वसम्बन्धेन सर्वथा तापनिवृतौ संयोगरूपो वह्निस्तु जीवलयसम्पादकस्वभावत्वात् स्वसम्बन्धेन सर्वथा जीवस्य लये सम्पन्ने स्थितोपि भक्तिमार्गीयजीवात्मा रसानुभवाभावान्नष्ट एव भवतीति तन्नाशकारकः।

ठीक इसी प्रकार भगवद्-रसरूपी अग्नि भी दो प्रकार की होती है – विप्रयोगरूपी अग्नि एवं संयोगरूपी अग्नि। विप्रयोगरूपी भगवद्-रसाग्नि तापकारक होती है एवं संयोगरूपी अग्नि शीतलताकारक होती है। इसी अनुसंधान में समझिए कि, जब तक जीव के हृदय में भगवान का विरहताप होता है, तब तक भगवद्-रस की शीतलता वाली संयोगरूपी अग्नि जीव से जुड़ी रहकर उसकी देह को मृत्यु से बचाती हुई टिका कर रखती है। अब यदि जीव का भगवान से पूर्णरूपेण संबंध हो जाये अर्थात् पूर्णसंयोग हो जाय, तो उसकी देह में रहा हुआ विरहताप निवृत्त हो जायेगा एवं भगवद्-रस की संयोगरूपी शीतलताजनक अग्नि जीव की देह का लय करा देगी। और यदि जीव का भगवान में लय ही हो गया, तो भक्तिमार्ग में रहते हुए भी जीवात्मा को भगवान के रस का अनुभव होगा ही नहीं अतः जीव तो नष्ट ही हो गया समझो। अतः संयोगरूपी शीतलताजनक अग्नि को नाशकारक कहा है।

अस्मिन्पक्षे श्रीमदाचार्योक्तसर्वदाह एव स्यादित्यत्रत्यदाहपदेन स्वरूपनाश एव स्यादित्यत्राप्याचार्योक्तनाशपदेनापि लय एव ज्ञेयः। जीवस्याविकृतत्वान्नित्यत्वात् काष्ठादिदाहवद्दाहस्य देहादिनाशवन्नाशस्य वाऽसम्भवात्। एवं च सति यदि भगवानेताभिः सह संयुज्येत तदा पूर्वानुभूतानन्दात् कोटिगुणानन्दप्रादुर्भावे सर्वथा तापनिवृतौ भक्तात्मनां लय एव भवेद् , एवं च रसमार्गीयफलाभावः सम्पद्येतेत्याविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः।

इस पक्ष में आचार्यचरणों द्वारा कहे "सर्वदाह एव स्यात्" इस वाक्य में "दाह" शब्द से आपश्री ने "स्वरूपनाश हो जाता है" यह कहा है। यहाँ भी नाश पद का अर्थ भगवान में लय हो जाना ही है। क्योंकि जीव तो अविकृत है एवं नित्य है अतः जीव का न तो लकड़ी की भाँति दाह हो सकता है और न ही देह की भाँति नाश ही हो सकता है। अतः यहाँ जीव के नाश हो जाने का अर्थ जीव का भगवान में लय हो जाना ही है। सो, उपर्युक्त प्रकार के अनुसार यदि भगवान का मथुरा पधार जाने के पश्चात् पुनः इन गोपिकाओं से संयोग हो जाय, तो पूर्व में रास के समय भगवान के अंतर्धान होने के पश्चात् पुनः प्रकट होने पर जो इनको आनंद हुआ था, उस आनंद की तुलना में अब इन्हें करोड़ गुना और अधिक आनंद की अनुभूति हो जाय और देह का ताप सर्वथा निवृत्त होकर इन भक्तों की आत्मा का भगवान में लय ही हो जाय। ऐसा हो जाय तो पुष्टिमार्ग में देहसहित समस्त इंद्रियों से भगवत्स्वरूप का रसपान करने वाली बात संभव न बन पाये एवं उन्हें इस रसमार्ग का फल न मिल पाये। अतः आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, गोपिकाओं के अन्तःकरण में बसा भगवत्स्वरूप बाहर आविर्भूत हो जाय तो उससे वियोग होना ही गोपिकाओं के लिये हितकारी है। क्योंकि आनंदातिरेक में देह छूट जाने की प्रबल संभावना है।

न च लयसम्भावनायामेव पुनरपि विप्रयोगाविर्भावे पूर्वोक्तफलसम्भव इति वाच्यम्। यदि पुनरपि बहिराविर्भूतस्वरूपविप्रयोगाविर्भावावश्यकत्वम् , तदेतेनैव विप्रयोगेण चारिताथ्यात् पिष्टपेषणन्यायप्रसक्तेः। न च सुखानुभवार्थं बहिराविर्भूतस्वरूपेण संयोगो देय एवेति वाच्यम्। अन्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या सुखानुभवसिद्धिरिति श्रीमदाचार्यैरेवोक्तत्वाद्बहिराविर्भूतस्वरूपसंयोगस्य निःप्रयोजनकत्वादिति दिक्।

अब यहाँ पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि , जीव का लय तो भगवान में हो गया परंतु लय की अवस्था में भगवद्-रस भोगना संभव नहीं है अतः यदि कालांतर में भगवान पुनः विप्रयोग करायें तो पुनः अपनी समस्त इंद्रियों से भगवत्स्वरूप के रसपान का सुख मिल सकता है ! नहीं ! ! पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता क्योंकि जब भगवान को जीव के बाहर प्रकट हो चुके भगवद्-स्वरूप से भी पुनः विप्रयोग ही दिलाना हो , तो पहले के विप्रयोग से ही बात बन गयी होती ; ये वारंवार विप्रयोग-संयोग और फिर विप्रयोग कराने वाली बात तो पिसे हुए को पुनः पीसने वाली बात है अतः युक्तिसंगत नहीं बैठती। और ऐसा भी नहीं है कि, जीव को भगवद्-सुख का अनुभव कराने के लिये भगवान के लिये यह आवश्यक है कि उनके अन्तःकरण से बाहर प्रकट होकर अपना संयोग दें ही ; नही

यह आवश्यक नहीं ,क्योंकि जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि अभिव्यक्त रहती है , उसी प्रकार जीव के अन्तःकरण में स्थित भगवद्-स्वरूप की अभिव्यक्ति से उसे भगवद्-सुख का अनुभव होता रहता है – यह स्वयं आचार्यचरण ही कह रहे हैं। अतः "अन्तःकरण से बाहर प्रकट हुए स्वरूप से संयोग होकर ही सुख का अनुभव प्राप्त हो सकता है" , यह बात निरर्थक है।

यद्वा। बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगस्तु हितकारीत्यस्यायमर्थः। प्रपञ्चप्रादुर्भूतमथुरागतभगवत्सम्बन्धे महासुखानुभवे जाते पुनरपि रसरूपभगवत्स्वभावाद्विप्रयोगे जाते यथा यथा संयोगानन्दाधिक्यम् , तथा तथा विप्रयोगे तापाधिक्यम् , यथा यथा विप्रयोगे तु दुःखाधिक्यम् , तथा तथा संयोगे आनन्दाधिक्यम् , इत्यनुभवान्मथुरागतस्वरूपेण विप्रयोगे पूर्वतापादपि कोटिगुणे तापे जाते देहनाश एव स्यात् , एतत्तापस्य प्रलयाग्नितापादपि प्रबलत्वात्। यथा बाह्याग्निकाष्ठसम्बन्धे काष्ठनाशः।

अथवा तो आचार्यचरणों के "अन्तःकरण से बाहर प्रकट हुए स्वरूप से वियोग रहे तो ही अच्छा/हितकारी है" इस वाक्य का यह अर्थ है कि – प्रपंच या सामान्य जीव को दिखाने मात्र के लिये भगवान जब मथुरा पधारे थे, तो मान लो कि भगवान मथुरा से लौट कर वापस आकर गोपिकाओं को संयोग दें , तो उन्हें पहले तो महान सुख का अनुभव होगा परंतु भगवान चूँकि रसरूप हैं अतः उनके रसस्वभावानुसार संयोग के पश्चात् विप्रयोग तो देते ही हैं अतः फिर उन्हें फिर से विप्रयोग होगा ही। तो जैसे-जितना संयोग में आनंद की अधिकता होती जायेगी, वैसे–उतना विप्रयोग में दुःख की अधिकता भी होती जायेगी। इसी ढंग से फिर से होने वाले संयोग में भी आनंद की अधिकता बढ़ेगी, यह अनुभवसिद्ध बात है ; इसलिये मथुरा से वापस लौटकर आए भगवत्स्वरूप से जब संयोग होकर पुनः गोपिकाओं को विप्रयोग होगा, तो इस विप्रयोग का ताप पहले के विप्रयोग की तुलना में करोड़ों गुना अधिक होगा, जिससे उनका देहनाश ही हो जायेगा क्योंकि इस वाले विप्रयोग का ताप तो प्रलय की अग्नि से भी अधिक प्रबल है। देहनाश ठीक उसी प्रकार कि, जिस प्रकार काष्ठ का बाहरी अग्नि से संपर्क हो जाय तो वह जलकर खाक हो जाय।

अस्मिन्पक्षे पूर्वसम्बन्धेनैवेता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव स्यादित्यत्रत्यपूर्वसम्बन्धेनेत्यस्य पूर्वविप्रयोगसम्बन्धेनेति पुनः सम्बन्धे इत्यस्य च पुनर्विप्रयोगसम्बन्धे इति चार्थो बोध्यः। तस्माद्बहिराविर्भूतस्वरूपेण भगवान्न सम्बध्यते। सुखानुभवस्त्वन्तरनुसन्धानेन्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवदन्तःस्थितभगवत्स्वरूपाविर्भावेनान्तर्बहिरनुसन्धाने भगवत्सङ्गमाकांक्षायामप्यन्तःस्थितस्यबाह्यप्राकट्यादेव बहिरपि भविष्यत्येवेति बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यैः।

इसी बात को बताने के लिये आचार्यचरणों ने सुबोधिनी (पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात् – १०-४४-३०)में कहा कि– [["जब पूर्व में रास के समय अंतर्धान होकर भगवान पुनः प्रकट हुए , तब तक उनके विप्रयोग में गोपिकाएँ आधी जल चुकी थीं ; अब यदि मथुरा पधार जाने के पश्चात् हुए विरह में सुध–बुध खो बैठी गोपिकाओं के समक्ष भगवान पुनः प्रकट होकर संयोग दे दें, तो वे पूरी की पूरी ही जल जाएँ। इसलिये भगवान मथुरा पधार जाने के पश्चात् उनके अन्तःकरण से पुनः बाहर प्रकट होकर उन्हें संयोग नहीं देते"]]। और जहाँ तक विप्रयोग में भगवत्सुख की अनुभूति कैसे होगी ? यह प्रश्न है, तो समझिए कि जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि रहती है, वैसे ही अन्तःकरण में उन्हें भगवान की अभिव्यक्ति अनुभूत होगी। अब जब वह अन्तःकरण एवं बाहर दोनों तरफ भगवान का अनुसंधान करेंगी, तो उन्हें भगवत्संग की आकांक्षा होगी। और ऐसी आकांक्षा होने पर उनके अन्तस्थित भगवान बाहर भी प्रकट होकर उन्हें सुख देंगे ही। इसलिये आचार्यचरणों ने कहा कि "बाहर आविर्भूत हुए स्वरूप से गोपिकाओं का वियोग होना ही उनके लिये हितकारी है"।

न चान्तःस्थस्वरूपप्राकट्येन तत्सम्बन्धजनितसुखातिशयोत्तरसञ्जातविप्रयोगादपि देहनाशप्रसक्तिर्भविर्त्र्यैवेति वाच्यम्। बाह्यतृणतूलरूपोपाधिसम्बन्धाभावे मथनाविर्भूतकाष्ठान्तःस्थवह्निर्न काष्ठदहनसमर्थः, तथात्र बाह्योपाधिरूपसर्वमुक्तिदानसम्बन्धाभावे बहिराविर्भूतस्वरूपमप्यग्नित्वान्न देहनाशकरं, किन्तु प्रपञ्चातीततापक्लेशनाशरूपरसधर्मपुरस्कारेणैव प्रकटमिति तदेव करोतीति भवदुत्त्यप्रसक्तेः।

पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि, गोपिकाओं के अन्तःकरण में स्थित भगवत्स्वरूप यदि बाहर प्रकट हो जाए , तो आनंदातिरेक के पश्चात् होने वाले पुनः विप्रयोग से भी उनका देहनाश हो जायेगा क्योंकि जैसे अग्नि को जब तक बाहर कोई घास या तिनका न मिले, तब तक केवल घर्षण करने से उत्पन्न हुई सामान्य अग्नि काष्ठ को जला नहीं सकती ; ठीक वैसे ही भगवान गोपिकाओं को सर्वमुक्तिदान तो देते नहीं हैं अतः सर्वमुक्तिदान का कारण उपलब्ध न होने के कारण बाहर आविर्भूत स्वरूप से भी

गोपिकाओं के देह का नाश होने वाला नहीं है , यह समझिए। किंतु भगवान का बाहर प्रकट होना तो अलौकिक तापक्लेश का निवारण करने के लिये है अतः तापक्लेश का ही निवारण होता है, देहनाश नहीं होता, सो पूर्वपक्षी के कथन को यहाँ कोई भी स्थान नहीं है।

यद्वा। आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्यादेरयमभिप्रायः। प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपं हि सर्वमुक्तिदानाय प्रकटम् , तत्र सर्वमध्ये गोपिकानामपि सत्त्वादेतासामपि लयरूपमुक्तिमेव प्रतिक्षणं ददाति भगवान् , परं तस्मात् पृथक्कृत्य भजनानन्दमनुभावयति। "ये यथा मा"मिति प्रतिज्ञातः।

अथवा तो आचार्यचरणों के "आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी(सुबो० १०-४४-३०)" इस वाक्य का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि, प्रपंच या सामान्य जीवों को दिखाने के लिये भगवान जिस स्वरूप से प्रकट होते हैं, वह स्वरूप तो सभी को मुक्ति देने के लिये प्रकट होता है। सभी में तो गोपिकाएँ भी आ गयीं अतः भगवान गोपिकाओं को भी प्रतिक्षण लयरूप मुक्ति ही देते हैं। परंतु भगवान को जब भजनानंद देना होता है, तब वे गोपिकाओं को अन्य जीवों से अलग करके भजनानंद का अनुभव कराते हैं ; जैसा कि भगवान ने "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, उसे मैं वैसे ही प्राप्त होता हूँ(भ०गी० ४-११)" इस वाक्य में प्रतिज्ञा भी की ही है।

अत्रोपष्टम्भकरूपा 'यत एतद्विमुच्यत'इतिफलप्रकरणीयपञ्चाध्यायीपद्यव्याख्यानसुबोधिनी द्रष्टव्या। एवञ्च तस्मात् पृथक्करणक्लेशः प्रतिक्षणं प्रभोर्भवतीति प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्येति न्यायाद्बहिःप्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण भगवान् न सम्बध्यते, तेन गोपिकानां लयनिवृत्तेर्हितं भवतीति प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्याचार्यैरुक्तम्। बाह्याननुसन्धानेनुसन्धाने वा भावभरेणान्तर्बहिःप्रकटरसरूपस्वसंयोगं तु करोत्येव प्रभुः। तासामभिलषितत्वाद्रसमार्गीयपरमफलरूपत्वाच्च। तस्मान्न विप्रयोगस्य परमफलत्वम् , किंतु संयोगस्यैव।

यदि मेरी कही बात का प्रमाण देखना हो तो "यत एतद्विमुच्यते(सुबो० १०-२६-१६) इस फलप्रकरण के अंतर्गत पंचाध्यायी के पद्य की सुबोधिनी देख लें, जिसमें भगवान मुक्ति कैसे/कब और भजनानन्द कैसे/कब देते हैं इसका संपूर्ण विवेचन है। इसलिये अब बार-बार भगवान उनका लय करायें और फिर बार-बार उन्हें भजनानंद का दान करें, तो भगवान को वारंवार परिश्रम होगा अतः समझने की बात है कि, कीचड़ में पैर डालने के पश्चात् धोने से तो अच्छा यही है कि कीचड़ में पैर डाला ही न जाये। अतः भगवान प्रापंचिकलीला या सामान्यजीवों के लिये की गयी लीलाओं(मथुरा पधार जाना इत्यादि लीलाएँ)से उन्हें दूर ही रखते हैं और इस प्रकार से गोपिकाओं का लय भी नहीं होता। इसी कारण आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, प्रपंच के लिये आविर्भूत हुए स्वरूप से गोपिकाओं का वियोग रहना ही उनके लिये हितकारी है। अब भगवान वास्तव में भले ही बाहर प्रकट हों या नहीं , गोपिकाओं के भाव के कारण वे उनके अंतर में बाह्यप्रकटरसरूपसंयोग तो उन्हें कराते ही हैं। खुद गोपिकाएँ भी तो यही चाहती हैं और यही रसमार्गीय परमफलरूप भी है। अतः विप्रयोग परमफल नहीं है अपितु संयोग ही परमफल है।

संयोगसाधनत्वात् पूर्वानुरागजनितविप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वात् संयोगानन्तराविर्भूतस्य विप्रयोगस्य च परमफलत्वमुच्यते। अन्यथा भगवत्संयोगोस्माकं भवत्वितीच्छोदयवद्व्रजभक्तानां भगवद्विप्रयोगोस्माकं भवत्वितीच्छोदयोपि श्रीभागवते श्रुतः स्यात्। इदानीन्तनानां भगवद्विप्रयोगेच्छोदयस्तु भगवत्संयोगसाधकत्वपोषकत्वज्ञानादेव भवतीति न काप्यनुपपत्तिः।

विप्रयोग तो संयोग प्राप्त करने का साधन है। अतः भगवान के प्रति पूर्व में रहे हुए प्रेम के कारण उत्पन्न हुआ विप्रयोग तो संयोग का साधन है एवं संयोग का पोषक है अतः इस दृष्टि से मात्र कहने के लिये विप्रयोग को परमफल कह दिया जाता है परंतु वह परमफल है नहीं। यदि विप्रयोग ही परमफल होता, तो जैसे व्रजभक्तों के मन में यह इच्छा जागी थी कि, हमें भगवान का संयोग प्राप्त हो, वैसे यह इच्छा भी जागनी चाहिए थी कि हमें भगवान का विप्रयोग हो ; किंतु किसी भी व्रजभक्त को कभी भगवान के विप्रयोग की इच्छा जागी हो, ऐसा कहीं भी भागवत में देखने-सुनने में अभी तक नहीं आया। इस समय के जीवों को भगवान के विप्रयोग की इच्छा जागती है तो केवल इसलिये कि विप्रयोग संयोग प्राप्त करने का साधन है एवं संयोग का पोषक भी है अतः मेरे कहे में कुछ भी अनुचित नहीं है।

यद्यपि भगवतो रसरूपत्वात् संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्रसरूपभगवत्प्राप्तौ विप्रयोगोप्याम्रादिफले त्वग्बीजादिवदन्तर्गतोभवति तथापि त्वग्बीजादिप्राप्त्या यथाम्रफलरसाकांक्षा भवत्येव, तद्रसप्राप्त्या तु त्वग्बीजाद्याकांक्षा न भवति, तथा विप्रयोगप्राप्त्या संयोगाकांक्षा भवत्येव, संयोगप्राप्त्या तु विप्रयोगाकांक्षा तु न भवतीति संयोगस्यैव परमफलत्वं वक्तुं शक्यते। ज्ञाते सति स्ववृत्तितयेष्यमाणस्यैव फलत्वात्। न त्विदं विप्रयोग इति न विप्रयोगस्य फलत्वम्।

यद्यपि भगवान रसरूप हैं अतः उनमें संयोगविप्रयोग दोनों प्रकार के रस हैं ; तो रसरूप भगवान की जब प्राप्ति होती है, तब विप्रयोग भी उसमें समाया हुआ ही होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे आम के फल में छिलका एवं गुठली भी समायी होती है। यदि आम का छिलका एवं गुठली मिल जाय तो मन में आम का रस प्राप्त करने की इच्छा तो होती ही है किंतु उसके छिलके एवं गुठली की आकांक्षा नहीं होती ; उसी प्रकार विप्रयोग प्राप्त होने पर भगवान के संयोग की इच्छा तो सबको होती ही है किंतु भगवत्संयोग प्राप्त होने पर किसी को विप्रयोग की इच्छा कभी नहीं होती अतः संयोग ही परमफल माना जायेगा। एक बार ज्ञात हो जाये कि भगवत्संयोगसुख क्या है , तब तो जीव संयोग के लिये ही पुरुषार्थ करता है अतः संयोग की ही फलता सिद्ध होती है। विप्रयोग के लिए ऐसा नहीं है ; विप्रयोग की पीड़ा सहन करने के पश्चात् कोई भी विप्रयोग के लिये पुरुषार्थ नहीं करता अतः विप्रयोग की फलता सिद्ध नहीं होती।

अत एव फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भस्थाया"मतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्। बाह्याभ्यन्तरभेदेन ह्यान्तरं तु महाफल"मितिकारिकायां रमणपदवाच्यबाह्याभ्यन्तरसंयोगस्यैव फलत्वं महाफलत्वं च क्रमेणैवोक्तम्। एवमेव "स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता। स बाह्यो जनितः पुष्टौ यथान्तर्निर्विशेत्पुनः। तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोविशे"दित्येतद् द्वितीयाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भकारिकायां विप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वमेव, फलत्वं तु संयोगस्यैव श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम्। अत एव "मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठ" इति भ्रमरगीतपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यामपि फलसाधकत्वाद्भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राहेत्याभासे विप्रयोगस्य फलसाधकत्वमेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्न तु फलत्वमिति भवत्सिद्धान्तिता विप्रयोगस्यैव परमफलरूपता कथं सङ्गच्छेतराम्। फलप्रकरण की प्रथमाध्याय की सुबोधिनी के प्रारंभ में आचार्यचरणों ने "अतो हि भगवान्(१०-२६-१ ; का०-४)" इस कारिका में रमण पद से बाह्यसंयोग को फल एवं आभ्यांतरसंयोग को महाफल क्रमपूर्वक कहा है। यही बात द्वितीय अध्याय की सुबोधिनी की प्रारंभ की "स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता(सुबो० १०-२७-१ ; का०-१)" इस कारिका में आचार्यचरणों ने विप्रयोग को संयोग का पोषक ही बताया है एवं फल तो संयोग को ही बताया है। अतएव "मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे (सुबो० १०-४३-५)" इस भ्रमरगीत के पद्य की सुबोधिनी में भी आचार्यचरणों ने "विप्रयोग फलसाधक है अतः भक्तिमार्ग में विरह ही पुरुषार्थ है, इसलिये विप्रयोग को दूर करने की चेष्टा क्यों करते हो ?" इस वाक्य में विप्रयोग को फल का साधक ही बताया है , किंतु फल नहीं बताया अतः पूर्वपक्षी का यह सिद्धांत कि, "विप्रयोग ही परमफल है", कैसे युक्तिसंगत हो सकता है बताईये ??

अतःपरं विप्रयोगान्तर्गतभगवत्स्वरूपप्राकट्यं तडिल्लतावत् किञ्चित्कालिकमेव भवति, अन्यथा देहनाशः स्यादिति यदुक्तं, तदपि न विचारक्षमम्। ताभिः किञ्चित्कालिकसंयोगस्यानाकांक्षितत्वात् , बहुकालिकसंयोगस्यैव तदाकांक्षाविषयत्वात्। इदं तु दशमस्कन्धीयषट्-त्रिंशाध्याये "अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः। तांश्चाकृतार्थां वियुनंक्ष्यपार्थकं विचेष्टितं तेर्भकचेष्टितं यथे"त्यारभ्य श्लोकचतुष्टये "निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नो करिष्यन्कुलवृद्धबान्धवाः। मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजाद्दैवेन विध्वंसितदीनचेतसां, यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम्। नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्त"मितिश्लोकद्वये च प्रकटमेव। एवमपि सति यदि किञ्चित्कालिकमेव संयोगं दद्यात् तदा "ये यथा मा"मिति भगवत्प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। तडिल्लतावदेतासां संयोगो भवतीत्यादिप्रकारस्य श्रीमदाचार्यैस्तत्तनुजरत्नैश्च कण्ठरवेण कुत्राप्यनुक्तत्वाच्च। तस्मादन्तर्बहिर्दिवा रात्रौ चातृप्तिसंयोगरूपेण प्रकटः, पुनस्तत्संयोगपोषार्थं विप्रयोगरूपेण च प्रकटः, पुनः पूर्वप्रकार[illegible] एक बिजली की चमक की भाँति कुछ समय के लिये ही होता है , अन्यथा तो देहनाश हो जाय " -भी ठीक नहीं है। क्योंकि गोपिकाओं ने भगवान से क्षणिक संयोग नहीं चाहा था, उन्होंने तो दीर्घकालीन संयोग ही चाहा था। यह सभी कुछ तो दशमस्कंध के छत्तीसवें अध्याय में "अहो विधास्तव......(सुबो० १०-३६-१९)" से लेकर चार श्लोक तक एवं "निवारयामः(सुबो० १०-३६-२८,२९)" इन दो श्लोकों द्वारा बताया गया है कि गोपिकाओं को क्षणिक नहीं अपितु दीर्घकालीन संयोग ही चाहिए था। इतना सब होने पर भी यदि भगवान गोपिकाओं को क्षणिक मात्र ही संयोग दें, तब तो खुद भगवान की अपनी "जो मुझे जिस भाव से शरणागत होता है, उसे मैं वैस

ही भाव से प्राप्त होता हूँ (भ०गी० ४-११)" यह प्रतिज्ञा भंग हो जाती है। और भी, पूर्वपक्षी के "संयोग तो बिजली की चमक की भाँति कुछ देर के लिये ही होता है" ऐसा आचार्यचरणों ने या उनके पुत्ररत्न श्रीगुसाईंजी ने कहीं भी नहीं कहा है। इसलिये समझिए कि गोपिकाओं के लिये भगवान दिन में आन्तरिक संयोग एवं रात्रिकाल में बाह्यसंयोग के रूप में प्रकट होते हैं ; ऐसे संयोगस्वरूप जिससे उन्हें आकण्ठ तृप्ति हुई। पुनः उसी संयोग को पोषण देने के लिये विप्रयोग करवाते हैं, फिर पहले की भाँति संयोग और पुनः विप्रयोग ; इसी क्रमानुसार भगवान गोपिकाओं के संग क्रीड़ा करते हैं , यह जान लीजिए।

ननु तथापि नान्तर्गृहगतानामेवंविधसम्पूर्णरसरूपभगवत्प्राप्तिरेतासां मुक्त्यनन्तरमेवैतादृशरसलीलाप्राकट्यादिति तत्प्राप्तफलस्य मध्यमफलत्वमस्माभिरुच्यत इति चेत्, अत्रोच्यते। सगुणशरीरत्यागोत्तरतत्क्षणप्राप्तगुणातीतदेहेन भगवन्निकटगतानामन्तर्गृहगतानामपि "ताभिः समेताभिरुदारचेष्टित" इत्यादिलीलासौभगजन्यमदमानलीलाप्राप्त्युत्तरसामयिकान्तर्धानलीलामारभ्य "वामबाहुकृतवामकपोले"त्याद्युक्तयुगलगीतलीलान्तसर्वलीलानामपि प्राप्तिरेतासामिति श्रीमदाचार्यतत्तनुजरत्नानां हि सिद्धान्तः। अत एव "ता दृष्ट्वान्तिकमायाता" इतिफलप्रकरणीयपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां "यास्तु समाहूताः समागतास्ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणा अन्यसम्बन्धिन्यस्ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति। करिष्यमाणलीला तु सर्वभ[illegible]

फिर भी यदि पूर्वपक्षी की यह शंका हो कि - अन्तर्गृहगताओं को तो ऊपर कहे क्रमानुसार संपूर्ण रसरूप भगवत्प्राप्ति हुई नहीं है , उन्हें तो उनकी मुक्ति के पश्चात् ही भगवान ने रसरूपलीला प्रकट की अतः इन्होंने जो फल पाया उसे तो हम मध्यमफल ही कहेंगे - तो मैं इस शंका का समाधान कह रहा हूँ। अन्तर्गृहगताओं ने भगवद्विरह में अपना सगुणशरीर त्याग दिया एवं तत्क्षण उन्हें गुणातीत अलौकिकशरीर की प्राप्ति हुई। जिस अलौकिकशरीर के द्वारा भगवान के निकट पहुँची अन्तर्गृहगताओं को भी श्रीभागवत के "ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः (१०-२९-४३)" इत्यादि श्लोकों में कही भगवल्लीला के अनुसार सौभगमद हुआ है, मानलीला भी हुई है एवं इसके पश्चात् भगवान की अंतर्धानलीला से लेकर "वामबाहुकृतवामकपोलः (श्री०भा० १०-३५-२)" इस युगलगीत में कही समस्त लीलाओं की भी प्राप्ति हुई है - यह स्वयं आचार्यचरणों के पुत्ररत्न श्रीगुसाईंजी का निश्चित सिद्धांत है। इसी कारण "ता दृष्ट्वान्तिकमायाताः (सुबो० १०-२६-१७)" इस पद्य की सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने [["जो गोपिकाएँ भगवान के बुलावे पर आयीं, उन्हें भगवान ने लौटने को नहीं कहा परंतु जो सगुण एवं अन्य गोपों से संबंधित अन्तर्गृहगता गोपिकाएँ थीं, वे केवल वेणु के शब्द सुनकर आ गयीं थीं अतः भगवान ने उन्हें कह कर लौट जाने को कहा। किसी और की होकर फिर भगवान का भजन करें , यह बात तो अयुक्त है। और आगे होने वाली लीला तो केवल भगवान के प्रति सर्वसमर्पण कर देने से ही सिद्ध हो सकती है अतः भगवान ने उन्हें लौट जाने को कहा]]" इस प्रकार से कहा है।

विवृतं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृतटिप्पण्यां "यदन्तर्गृहगता अनाकारिता एव नादं श्रुत्वोद्युक्ता इति प्रतिबन्धोभूदिति शङ्कानिरासायाहुः याः पूर्वोक्तास्ता अप्याहूताः, तत्रोपपत्तिमाहुः समागता इति। अन्यथा तथा न स्यादिति भावः। गेहस्य देहसम्बन्धित्वात् तस्य च नष्टत्वेनैत[illegible]

इसी बात को विवृत करते हुए आचार्यचरणों के पुत्ररत्न श्रीगुसाईंजी ने अपनी टिप्पणी में यह कहा है कि - "यह शंका कि अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को तो भगवान ने बुलाया ही नहीं था, वे तो केवल भगवान का वेणुनाद सुन कर वन में जाने लगीं। भगवान ने उनको बुलाया नहीं था इसी कारण उन्हें गृह में प्रतिबंध हुआ' इसका खंडन करते हुए लिखा कि - आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, अन्तर्गृहगताओं को भी भगवान ने बुलाया ही था। यदि भगवान ने बुलाया न होता तो वे भगवान के सन्मुख नहीं आ सकती थीं ; उनकी देह का संबंध तो उनके घर से है और जब उनकी सगुणदेह ही नष्ट हो गयी तो घर वापस जाने का प्रश्न भी कहाँ रहा ? इसलिये भगवान भी उन्हें घर वापस लौटने को भला क्यों कहने लगे ? अतः उनका भगवान के पास पहुँचना बाधित नहीं हुआ इसलिये भगवान ने उन्हें लौट जाने को नहीं कहा था]]"।

एवं चान्तर्गृहगता न निवार्यन्त इति स्फुटमेव प्रतीयते, तत्र तन्निवारणं च भगवन्निकटप्राप्तौ सति सम्भवति। भवदभिमतसिद्धान्ते त्वेतासामिदानीं लय इति तन्निवारणप्राप्तेरभावाच्छ्रीमदाचार्योक्तिस्तत्तनुजरत्नोक्तिश्चासमञ्जसा स्यात्। तस्मादन्तर्गृहगतानां गुणातीतदेहप्राप्त्या भगवन्निकटगमनं सिद्धम् ,तदा तन्निवारणप्रसजनं च सिद्धम्। एवं च तदुत्तरसामयिकी सर्वापि लीलैतासु सिद्धेति न मध्यमफलत्वमेतत्फलस्य, किन्तूत्तमफलत्वमेवेति व्यर्थं एवैतासां मध्यमफलप्राप्तिरिति सिद्धान्ताभिमानः केषाञ्चिदिति सर्वमवदातम्।

इस प्रकार गुसाईंजी की टिप्पणी से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि, भगवान ने अन्तर्गृहगताओं को वापस लौट जाने के लिये नहीं कहा। अरे ! भगवान उन्हें लौटने को भी तभी कहेंगे न जब वे भगवान के निकट पहुँची होंगी , पूर्वपक्षी का कहना तो यह है कि - अन्तर्गृहगताओं का तो भगवान में लय हो गया था। अब बताइये , जिसका भगवान में लय ही हो गया हो, उसे भगवान लौटने या ठहरने को कैसे कह सकते हैं , जो सन्मुख होगा उसे ही तो कहेंगे ! अतः आपकी(पूर्वपक्षी की) अन्तर्गृहगताओं की भगवान में लय हो जाने वाली बात आचार्यचरण एवं श्रीगुसाईंजी के कथन से मेल नहीं खाती। अतः सिद्ध होता है कि अन्तर्गृहगताओं को अलौकिकशरीर की प्राप्ति हुई थी, जिससे वे भगवान के निकट पहुँची थीं और इसीलिये भगवान द्वारा उनको लौट जाने को कहने की बात भी सिद्ध होती है क्योंकि वे भगवान के समीप पहुँचीं, तब ही तो भगवान ने उन्हें लौट जाने को कहा। इसी प्रकार इस प्रकरण के बाद की भगवान की समस्त लीलाएँ भी इन्हें प्राप्त हुईं अतः इन्हें मध्यमफल नहीं अपितु उत्तमफल ही प्राप्त हुआ था। इसलिये कुछ महानुभावों को "इन्हें मध्यमफल प्राप्ति हुई" - इस सिद्धांत का अभिमान रखना व्यर्थ ही है।

श्रीवल्लभतत्सुतवरविट्ठलनाथाङ्घ्रिरेणुलवबलतः।
जयगोपालः कृतवान् सविवृतिसेवाफलव्याख्याम्॥ १॥
मूर्ध्न्यञ्जलिं ननु निधाय निधाय भूयो
भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि।
यत्किञ्चिदत्र लिखितं मयका भवद्भिः
तत् पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम्॥ २॥

इतिश्रीवल्लभाचार्यचरणकमलैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविट्ठलेश्वरकृपाकटाक्षोद्बुद्धबुद्धिना सुबुद्धिना मठपतिजयगोपालेन विरचिता सविवृतिसेवाफलटिप्पणी समाप्ता॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

श्रीवल्लभसुतवर विट्ठलनाथचरणकमलों की रेणु के बल से
जयगोपाल ने विवृत्तिसहित सेवाफल की व्याख्या की॥ १॥
वारंवार मस्तक झुका कर कृपालु महद्-जनों से निवेदन करता हूँ कि,
मैंने इस टीका में जो कुछ भी लिखा है,
उसे आप पुष्टिमार्ग के पथिक संशोधित करें॥ २॥

श्रीवल्लभाचार्यचरणकमलों में एकनिष्ठ चित्तवाले एवं श्रीमन्महाप्रभु श्रीविट्ठलेश्वर के कृपाकटाक्ष द्वारा प्राप्त हुई सुबुद्धि-मठपतिजयगोपाल द्वारा विरचित विवृतिसहित सेवाफल की विवृति समाप्त हुई।

(यह विवृति श्रीकृष्ण को अर्पण हो)

---

१ इदं पद्यं जयगोपालकृतबहिर्मुखमुखध्वंसान्तेऽपि विद्यते। आरम्भस्तं "बर्हिर्बर्हलसन्निति"पद्यं तत्कृततैत्तिरीयभाष्यस्थम्। इदं पद्यद्वयं तत उद्धृत्यास्यां टीकायां ग्रन्थकृता पश्चान्निवेशितमिति प्रतिभाति।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

मठेशश्रीलक्ष्मणभट्टविरचितसेवाफलविवृतिविवरणसमेतम्।

* * *

विचार्य श्रीमदाचार्यप्रोक्तं सेवाफलाभिधम्।
ग्रन्थं तद्विवृतिं चापि विवृणोमि यथामति॥ १॥
[१]सांख्ययोगावभेदार्थौ भक्तिर्भेदकरी हरौ।
स्नेहासक्तिव्यसनिनी तत्सिद्ध्यै स्वाङ्गवित्तजा॥ २॥
व्यसनं मानसी सेवा[२] माहात्म्यज्ञानभक्तितः॥ ३॥

आचार्यचरणों के सेवाफल नामक ग्रंथ एवं उसकी विवृति का विचार करके यथामति विवरण कर रहा हूँ॥ १॥

सांख्य एवं योग में जीव और भगवान एकाकार हो जाते हैं परंतु भक्तिमार्ग में जीव भगवान से अलग रहते हुए उनके स्वरूपानन्द का लाभ लेता है।

जो स्नेह-आसक्ति-व्यसनात्मिका भक्ति तनुवित्तजा सेवा से सिद्ध होती है॥ २॥

भगवान के माहात्म्यज्ञानपूर्वक भक्ति द्वारा प्रभु में व्यसन होता है, जिसे मानसी कहते हैं॥ ३॥

अथातः श्रीवल्लभाचार्याः स्वसिद्धान्तमुक्तावल्यां "कृष्णसेवा सदा कार्ये"त्यादिना ब्रह्मवादसिद्धान्ततः सत्ये जगति कृष्णस्य सेवाभक्तिं निरूप्य तत्सिद्धौ मुख्यं फलं सपरिकरं निरूपयितुकामाः सेवाफलनिर्णयग्रन्थं सविवरणमाहुः।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

सेवना च प्रागुक्ता त्रिविधा, अत्यन्तरङ्गा अन्तरङ्गा बहिरङ्गा चेति प्रशब्देन सूच्यते, या नित्यश्रीस्वामिन्यन्तरङ्गस्य स्वस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य "प्रतिकृतिरूपस्य" काश्मीरचन्दनसुगन्धतैलाभ्यङ्गस्नापनपूर्वकश्रृंगारादिज्ञानक्रियारूपा साक्षादङ्गेषु मृदु संस्पृश्य लोकवत् सस्नेहं क्रियमाणा सैषा प्रथमा।

अब यहाँ श्रीवल्लभाचार्य सि०मु० में कहे "कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए(१)" इत्यादि वाक्य के अनुसार ब्रह्मवाद के सिद्धांत द्वारा सत्यजगत् में कृष्ण की सेवाभक्ति का निरूपण करके, वह सेवा सिद्ध हो जाने पर उस सेवा के मुख्यफल का अंगसहित निरूपण करने के लिये सेवाफलनिर्णयग्रंथ में विवरणसहित निम्नलिखित श्लोक से कह रहे हैं।

आचार्यचरणों ने यहाँ सेवना(सेवा) तीन प्रकार की कही है- अत्यन्तरंग, अन्तरंग एवं बहिरंग :- यह प्र उपसर्ग से सूचित होता है। अत्यन्तरंग नित्यस्वामिनियों द्वारा अपने प्रतिबिंबरूपी स्वामी पुरुषोत्तम की काश्मीरचंदन एवं सुगंधित तैल से अभ्यंग-स्नानपूर्वक श्रृंगार आदि का ज्ञान एवं तदनुसार उनकी सेवा करनी ; ठीक उसी प्रकार जैसे कि लोक में किया जाता है , उस प्रकार साक्षात् प्रभु के अंगों में कोमल स्पर्श करके प्रेमपूर्वक की जाने वाली सेवा अत्यन्तरंग है।

मन्दिरपात्रसम्मार्जनोपलेपनचित्रकरणपूर्वकसिंहासनादिशय्यास्तरणक्रीडनोपस्करणपीठखण्डाक्षिभृङ्गारादियोजनान्नादिपयः-पाकसामग्रीसाधनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या द्वितीया। पुष्पगन्धताम्बूलफलकन्दमूलशाकामान्नरससंशोधनधनवसनभूषणसम्पादनज्ञान-क्रियारूपा परिचर्या बहिरङ्गा तृतीयेति **यादृशपदस्यार्थः**।

मन्दिर के पात्र माँजना, अनेक प्रकार से लेपनपूर्वक सिंहासन -शैया बिछाने, प्रभु के लिये खिलौने सजाना, खंड-पाट-चौकी सजानी,चौपड़,झारीजी आदि पधरानी, अन्न-दूध से बनी सामग्रियों का ज्ञान होना एवं तदनुसार क्रिया करने जैसी परिचर्या अन्तरन्ग सेवा है। पुष्प, सुगंध, पान-सुपारी, कंदमूल, शाक, कच्ची-पक्की वस्तुओं का रस निकालना, प्रभुसेवा में धन-वस्त्र-आभूषण इत्यादि

---

[१] ज्ञानेति पाठः। [२] सैवेति पाठः।

की व्यवस्था करने जैसी सेवा का ज्ञान होना एवं तदनुसार क्रिया करनी बहिरंग सेवा है - इस प्रकार आचार्यचरणों ने जो **यादृशी** •सेवना पदों से कहा है, जिसके अर्थ में तीन प्रकार की सेवाएँ हैं

सेवकस्वतनुवित्तजेति सेवोक्ता। तत्सिद्धौ "तत्र प्रेमासक्तिव्यसनात्मना परिणतायां मानस्यां सत्यां" सेवकस्य **यादृक् फलं तदुच्यते**। यद्यपि तत्र "ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन"मिति फलमुक्तं तथापि तदवान्तरमेवेति मुख्यं फलमुच्यत इत्यर्थः।

इसी प्रकार की तनुवित्तजा सेवा वहाँ कही गयी है। **तत्सिद्धौ**(यह सेवा सिद्ध होने पर) - जब सेवा प्रेमासक्तिव्यसन में परिणित हो जाय और मानसी बन जाय तब सेवा करने वाले को जो फल मिलता है , वह आचार्यचरण यहाँ कह रहे हैं। यद्यपि सि०मु० में "मानसी सेवा सिद्ध हो जाने पर संसार के दुःखों का निवारण हो जाता है एवं ब्रह्म का बोध होता है(२)" इस वाक्य में मानसी सेवा का फल बताया है तथापि सि०मु० में बताया फल गौण फल है और यहाँ जो कहा जा रहा है, वह मुख्यफल है।

तदपि त्रिविधमिति सविवरणं निरूपयितुमाहुः।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

विवरणमत्र **सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति**। **अलौकिकसामर्थ्यं** प्रथमायाः फलम्। **सायुज्यं** द्वितीयायाः। **सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु** "अधिकृतः" तृतीयायाः। **तत्रालौकिकस्य** भगवत इवालौकिकमेव ज्ञानक्रियाभ्यां **सामर्थ्यं** जगद्व्यापारवर्जं यत् तत्तथा। स्वेच्छया देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैरेव सदा सेवापरैः सहितस्यात्मनो जीवनशक्तत्वं "श्रुति"कुमारिकाणामिव, तत्परित्यजने च स्वेच्छयाशक्तत्वमित्यैहिकमन्तर्गृहगतानामिव। तान्कादाचित्कीस्वेच्छया"मुत्र" भगवल्लोकगमनशक्तत्वमित्यामुष्मिकं ध्रुवादेरिव तत्तथा। "मृत्योः कृत्यैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पद"मितिवाक्यात् स्पर्शमणिन्यायेन तेषामप्राकृतत्वेन त्यागासम्भवात् भगवदानन्दानुभवसामर्थ्यं यत् तस्यालौकिकस्य **दानेनाद्यो मनोरथः** उत्पन्नः प्रमाणाननुरोधी प्रमेयैकसाध्यो **मनोरथः** स्वाभिलषितरूपो **"मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु"**रितिवाक्यात् तद्भजनानन्दानुभवश्च **सिध्येत्**। एतेन कालकर्मप्रकृत्यनधीनत्वं द्योतितम्।

और वह मुख्यफल तीन प्रकार का है , जिसे आपश्री विवरणसहित निम्नलिखित पंक्तियों से कह रहे हैं।

इस पंक्ति का विवरण सेवायां **फलत्रयम् .... वैकुण्ठादिषु** इत्यादि वाक्यों से किया गया है। प्रथम अत्यन्तरंग सेवा का फल है **अलौकिकसामर्थ्य**। दूसरी अन्तरंग सेवा का फल है - **सायुज्य**। तीसरी बहिरंग सेवा का फल है - अधिकाररूप से प्राप्त होने वाली **सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु**।*****अर्थात् जब-जब जैसे जैसे ये फल मिलेंगे, तब-तब वैसे वैसे ऊपर कही तीन प्रकार की सेवाएँ निभती चली जायेंगी।***** **अलौकिकसामर्थ्य** का अर्थ है - अपने ज्ञान एवं क्रिया द्वारा अलौकिकभगवान की भाँति ही अलौकिकसामर्थ्य मिल जाना, जिसमें जगत से संबंधित कोई कार्य न हो ऐसा अलौकिकसामर्थ्य। तात्पर्य यह कि स्वेच्छा से सदा प्रभुसेवा में तत्पर अपनी देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण आत्मासहित जीवन जीना, जैसा जीवन श्रुतिकुमारिकाओं ने जिया था। श्रुतिकुमारियों जैसा जीवन जिये बिना न रह पाना अलौकिकसामर्थ्य है। ऐसी अलौकिक सामर्थ्य अन्तर्गृहगता गोपिकाओं को मिली और जो जीव को इसी लोक में प्राप्त होती है। इनमें से कुछ को अपनी इच्छा से भगवल्लोक में जाने वाला अलौकिकसामर्थ्य मिलता है, जैसे कि ध्रुवजी जैसे भक्तों को मिला। श्रीभागवत में कहे "बालक ध्रुव नारदजी से हरिकथा सुनकर मृत्यु के मस्तक पर पैर रखकर भगवान के परमपद पर आरूढ़ हो गये(३-१४-५)" इस वाक्यानुसार स्पर्शमणिन्याय से (जैसे लोहे को पारस पत्थर छूकर सोना बना देता है, वैसे) जीव की देहइंद्रियाँ अलौकिक हो जाती हैं अतः ऐसी अलौकिक देह-इंद्रियों के त्याग की फिर आवश्यकता नहीं रहती। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि ऐसी अलौकिक देह-इंद्रियों के कारण होने वाली जो भगवान के आनंद को अनुभव करने की सामर्थ्य है, उस अलौकिक सामर्थ्य का **दान** होने से जो **आद्य मनोरथ** उत्पन्न होता है , वह सिद्ध होता है। जो मनोरथ प्रमाण से नहीं अपितु भगवत्कृपा से प्राप्त होता है और जिसके कारण "गोपिकाओं को कृष्ण के दर्शन से इतना आनंद हुआ कि, वे पूर्णकाम बन गयीं(श्री०भा० १०-३२-१३)" इस वाक्यानुसार भक्त ने जिसकी अभिलाषा की है, उस भजनानंद का अनुभव भी सिद्ध होता है। इससे यह बात पता चलती है कि, सेवा के ये सभी फल काल-कर्म-प्रकृति के अधीन नहीं हैं।

द्वितीयायाः फलं सायुज्यम् , तदपि द्विविधम् , रूढार्थकं यौगिकार्थकं च। तत्राद्यं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम् , अभेदरूपं भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यमित्यर्थः। "शुद्ध" भक्तानामपरम् , सह युनक्तीति सयुक् , सयुजो भावः सायुज्यम् , तद्भक्तानां भेदतस्तद्दत्तसखित्वतस्तदानन्दानुभवात् , पूर्वत्र देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि विहायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः, अपरत्र सहैव तैः स इति सार्थकतैषामन्यत्र नेति तारतम्यम्। तच्च स्पष्टमेव पार्षदानामसुरावेशिनां ज्ञानयोगिनां चोक्तम्।

द्वितीय अन्तरंगसेवा का फल है - सायुज्य। सायुज्य भी दो प्रकार का होता है - रूढ़ अर्थ वाला सायुज्य एवं यौगिक अर्थ वाला सायुज्य।***** प्रकृति और प्रत्यय से जिस शब्द का अर्थ निकले, उसे यौगिक अर्थ कहते हैं। और, प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ के अतिरिक्त जो शब्द लोक प्रचलन में किसी अन्य अर्थ में प्रयोग किया जाता हो या समझा जाता हो, उसे रूढ़-अर्थ कहते हैं। उदाहरण के तौर पर जैसे "पंकज" शब्द है। पंकज शब्द का यौगिक अर्थ है - पंकात् जायते इति पंकजः अर्थात् जो कीचड़ से पैदा हो उसे पंकज कहते हैं। अब पंकज का अर्थ कीड़ा भी हो सकता है क्योंकि कीड़ा भी कीचड़ से ही पैदा होता है। किंतु लोक प्रचलन में पंकज शब्द का अर्थ सर्वत्र कमल ही लिया जाता है अतः इसे कहेंगे - पंकज शब्द कमल के अर्थ में रूढ़ हो गया है। ठीक इसी प्रकार सायुज्य के भी दो अर्थ हैं, एक यौगिक-अर्थ एवं दूसरा रूढ़-अर्थ। टीकाकार आगे यह बताना चाह रहे हैं कि सायुज्य का रूढ़-अर्थ है अर्थात् सामान्यतया लोक में प्रचलित अर्थ है - मुक्ति। एवं यौगिक अर्थ है - संग में रहना।***** सायुज्य का रूढ़ अर्थ है - ज्ञानी भक्त का ब्रह्म में एकाकार हो जाना, ब्रह्म एवं जीव में कोई भी भेद न रहना। शुद्धभक्तों को दूसरा यौगिक-अर्थ वाला सायुज्य प्राप्त होता है....... जिसका अर्थ है -संग में जुड़ने को सयुक् कहते हैं एवं संग में जुड़ने के भाव को सायुज्य कहते हैं। इस दूसरे सायुज्य में भक्त एवं भगवान आपस में एकाकार नहीं होते अपितु अलग रहते हुए भगवान उन्हें अपना सखाभाव देते हैं , जिसके द्वारा वह भगवान के आनंद का अनुभव करता है। पहले वाले सायुज्य में देहइंद्रियप्राणान्तःकरण इत्यादि को छोड़ कर केवल आत्मा द्वारा ही भगवान के आनंद का अनुभव होता है। और दूसरे वाले सायुज्य में देहइंद्रियप्राणान्तःकरण के संग ही भगवद्-आनंद का अनुभव होता है , जिसमें देहइंद्रियों की सार्थकता भी सिद्ध होती है। पहले वाले में देहइंद्रियों की सार्थकता सिद्ध नहीं होती, इन दोनों सायुज्यों में यह भेद है। आसुरावेशी/ ज्ञानयोगियों को रूढ़ अर्थ वाला सायुज्य प्राप्त हुआ एवं भगवद्-पार्षदों को यौगिक अर्थ वाला सायुज्य प्राप्त हुआ- यह ग्रन्थों में स्पष्टतया कहा गया है। **** तात्पर्य यह कि जैसे भगवद्-पार्षद सदा भगवान के संग रहते हैं, वैसे प्रकार का सायुज्य।****

तृतीयायाः फलं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु। अप्राकृतभूतभौतिकतृणलतौषधिवृक्षपशुपक्ष्यादिदेहः अधिकारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्यः। पूर्वत्रापरोक्षमेवात्र च परोक्षमिति भेदः। वैकुण्ठे मुख्येऽमुख्ये च। आदिपदेन स्वर्गादिषु विष्णोः स्थानेष्वपि तथेति निरूपितम्। वेति चार्थे ज्ञेयः। अत्र फलत्रयेपि न कालो नियामकः। काल इत्युपलक्षणम् , कर्मप्रकृत्योरपि न नियामकतेत्यर्थः। अत एव श्रीभागवते द्वितीये "न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानं," तृतीये "न कर्हिंचित्मत्पराः शान्तरूपे" इति, कपिलेनोक्तं च 'नंक्ष्यन्ति नो निमिषो लेढि हेति'रित्यादि ॥ १॥

तीसरी सेवा का फल है- सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु। वैकुण्ठ में सेवोपयोगिदेह मिलने का अर्थ है - अधिकाररूप से अप्राकृत भौतिक तृण, लता, औषधि, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि की देह प्राप्त होनी, जो भगवान के वैकुण्ठ में उनकी सेवा में उपयोगी होती है। वैसे सेवा में उपयोगी देह तो पहले अलौकिकसामर्थ्य वाले फल में भी कही थी परंतु अलौकिकसामर्थ्य में प्रभु की प्रत्यक्षरूप से सेवा है एवं यहाँ वैकुण्ठ में जो सेवा है, वह परोक्षरूप से होती है। वैकुण्ठ का अर्थ मुख्यवैकुण्ठ भी है अमुख्यवैकुण्ठ भी। वैकुण्ठ में जुड़ा आदि पद का अर्थ है - वैकुण्ठ के संग-संग विष्णु के स्वर्ग इत्यादि स्थानों पर भी उनकी सेवा में उपयोगी देह प्राप्त होती है। वा शब्द "अथवा" के अर्थ में न होकर "और" के अर्थ में है, जिसका तात्पर्य यह है कि सेवा में अलौकिकसामर्थ्य का फल मिलता है, सायुज्य का फल मिलता है और वैकुण्ठ इत्यादि में सेवोपयोगिदेह का फल मिलता है अर्थात् तीनों फल मिलते हैं केवल एक या दो ही नहीं। इन तीनों फलों में काल नियामक नहीं है। काल तो वैसे केवल उदाहरण के रूप में आचार्यचरणों ने कह दिया है परंतु कर्म-प्रकृति भी इन फलों में नियामक नहीं होते, यह अर्थ है। इसी कारण भागवत के दूसरे स्कंध में "अन्तरात्मा को प्रभु में लीन करने के पश्चात् न सत्वगुण रहता है न रज न तम। अहंकार, महद्-तत्व और प्रकृति भी नहीं रहते और काल की भी दाल नहीं गलती(श्री०भा० २-२-१७)" इस प्रकार से एवं तीसरे स्कंध में कपिलजी ने भी "जिनका सब कुछ एकमात्र मैं ही हूँ , वे मेरे वैकुण्ठधाम में पहुँचकर दिव्यभोग करते हैं एवं उन्हें मेरा कालचक्र भी नहीं ग्रस सकता(३-२५-३८)" इस प्रकार से कहा है॥ १॥

तत्र सेवायां प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति प्रासङ्गिकं प्रतिबन्धमपि त्याज्यत्वेन निरूपयन्ति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥

अत्र **बाधक**मित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकतेत्याशंक्य विवृण्वन्ति, **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति**। **अत्रोद्वेगः** साधारणः स त्याज्य एव। एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तोऽनुरोधरूपस्य प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमतो भोगं विवृण्वन्ति **भोगो द्विविध** इति। **लौकिकोऽलौकिकश्च**। तत्र **लौकिकस्त्याज्य एव, अलौकिकस्तु न, तस्य फलानां** मुख्यमध्यमसाधारणानां **प्रथमे** प्रविशतीति **प्रथमे** फलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुस्वरूपानन्दानुभवभोगे प्रवेशात्। एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति **प्रतिबन्धोपीति**। स च साधारणोऽसाधारणश्च। साधारणः सेवासमये लौकिकवैदिककर्मानुरोधरूपस्त्याज्य एव, स्वाधीनत्वात्। असाधारणो भगवत्कृतः, स सह्य एवेति भावः।

सेवा तब सिद्ध होती है जब प्रतिबन्धक दूर होते हैं अतः प्रसंगोपात्त आचार्यचरण अग्रिम पंक्ति में प्रतिबन्धों को भी दूर करने का उपाय कह रहे हैं।

यहाँ **बाधकं** शब्द एकवचन में है अतः ये शंका हो सकती है कि, जब इस पंक्ति में कहे तीनों बाधक एकसाथ मिलकर रुकावट करें, क्या तब ही सेवा में बाधक करेंगे ? तो इसका स्पष्टीकरण आपश्री विवरण में **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इसमें आपने बताया है कि, **उद्वेग** साधारण प्रतिबन्ध होता है, इसका त्याग करना चाहिए। इसके पश्चात् प्रतिबन्ध एवं भोग का निरूपण करते हुए कारण किं रुकावट डालने वाला प्रतिबन्ध दूर नहीं किया जा सकता अतः पाठक्रम से न चलते हुए आपश्री अर्थक्रम द्वारा भोग का विवरण कर रहे हैं। आपश्री बताते हैं कि भोग दो प्रकार के हैं - लौकिक एवं अलौकिक। इसमें लौकिकभोग का त्याग करना चाहिए , अलौकिकभोग का नहीं। क्योंकि अलौकिकभोग सेवा के मुख्य-मध्यम-साधारण फलों में से **प्रथमफल** यानि अलौकिकसामर्थ्य द्वारा प्रभु के स्वरूपानंदानुभवरूपी भोग में प्रवेश करता है। इस भोग का निरूपण करके आचार्यचरण प्रतिबन्ध का निरूपण **प्रतिबन्धोपि** इत्यादि वाक्यों से कर रहे हैं। प्रतिबन्ध भी दो प्रकार के होते हैं - साधारणप्रतिबन्ध एवं असाधारणप्रतिबन्ध। साधारणप्रतिबन्ध का अर्थ है - सेवासमय में लौकिकवैदिककार्यों द्वारा रुकावट होनी, ये प्रतिबन्ध दूर करना चाहिए क्योंकि इनको दूर करना हमारे वश में है। असाधारण प्रतिबन्ध भगवान द्वारा उत्पन्न किया गया होता है, इसे तो सहन करना ही पड़ेगा, इसे दूर करना जीव के वश में नहीं है।

ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशंक्याहुः **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य** इति। **साधनमत्र तज्जननहेतुभूतं यत् तत्परित्याग** इत्यर्थः। नन्वावश्यकस्य लोकवेदसिद्धतया **अशक्यत्यागत्वात्** कथं त्याग इत्याशंक्य तदुपायं विवृण्वन्ति **तत्राद्यो बुद्धया त्याज्य** इति। सेवाया अवसरे त्याज्यः, अनवसरे विधेय इति चातुर्येणेत्यर्थः॥ २॥

परंतु शंका यह है कि, यदि ये सारे प्रतिबन्ध गहरे पैठ गये हों तो इनको कैसे दूर किया जाए ? इसका उत्तर आपश्री **त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः** (इन प्रतिबन्धों के साधनों का परित्याग करना चाहिए) इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। साधनों का परित्याग करने का अर्थ है - ये जिन कारणों से उत्पन्न होते हों, उन कारणों की ही जड़ काट दें , जिससे प्रतिबन्ध भी अपने आप दूर हो जायेंगे। दूसरी शंका यह है कि, लोकवेद में सिद्ध आवश्यक कार्यों का त्याग करना तो अशक्य है, ये यदि सेवा के बीच में आएँ तो इनका त्याग कैसे करें ? तो इसका उपाय आपश्री विवरण में **तत्राद्यो बुद्धया त्याज्य** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। तात्पर्य यह कि - इन लौकिकवैदिक कार्यों का सेवा के समय तो त्याग करें और अनवसर में कर लें, ऐसे बुद्धि की चतुराई द्वारा इनसे बचें॥ २॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ३॥

प्रभोरेव **अकर्तव्यं** स्वसेवाकारणमचिकीर्षितं **चेत्** तदा स्वस्य **गतिर्न** हीति निश्चयः। **तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति**। वक्ष्यन्ति चाग्रे **तदान्यसेवापि व्यर्थेति** भावः। नन्वासुरेष्वेवं न तु दैवे तथेत्याशंक्याहुः **तदा आसुरोऽयमिति**। एवंविधप्रतिबन्धरूपलिङ्गेन स्वस्यासुरत्वमनुमेयमितिभावः। तत्रासुरत्वमागन्तुकं वा साहजिकमिति निर्धारार्थं विवेकः, सांख्यज्ञानमिति केचित्। तेन शोकाभावमात्र न तु मोक्षः॥ ३॥

इस प्रकार साधारणप्रतिबन्ध का निरूपण करके आगे आचार्यचरण भगवत्कृतप्रतिबन्ध का निरूपण कर रहे हैं। इस श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं - जब प्रभु ही सेवा का फल न देना चाहें, तब अपनी(जीव की) तो कोई **गति** ही नहीं रह जाती है, ऐसा मन में निश्चय करें। आपश्री कहते हैं - तब ऐसी परिस्थिति में अपने शोक को दूर करने के लिये ज्ञानमार्ग में रहना चाहिए। इसी में आगे आपश्री यह भी कहेंगे कि, जब स्वयं भगवान ही प्रतिबन्ध करके फल देना नहीं चाहते, तब फलप्राप्ति के लिये कोई अन्यसेवा भी करेंगे तो वह व्यर्थ ही जाने वाली है। परंतु प्रश्न यह है कि, भगवान प्रतिबन्ध करेंगे तो आसुरी को ही तो करेंगे, दैवीजीव को थोड़े ही करेंगे ? तभी तो आपश्री कहते हैं कि - "जिसे ऐसा प्रतिबन्ध हो रहा है, उसे आसुरी समझ लेना चाहिए"। तात्पर्य यह कि, भगवत्कृतप्रतिबन्धरूप लक्षणों से ही अनुमान लगा लेना चाहिए कि - मैं आसुरी हूँ। अब यह असुरता आगंतुक है या सहज असुरता है , इसका निर्धारण कर लेना विवेक है। या कुछ लोग कहते हैं - सांख्यज्ञान है। किंतु ध्यान रखें कि विवेक रखने से मात्र शोक ही दूर होगा, मोक्ष नहीं मिल जायेगा ॥ ३॥

पूर्वोक्तमेव निगमयन्ति।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्।

भोगयोरपि पूर्वसमतामाशंक्य वैलक्षण्येनाहुः।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ४॥

प्रथमे अलौकिकसामर्थ्ये **भोगो** भजनानन्दानुभवरूपो **महान्** **सदा** स्वरूपतः साधनतः फलतश्चेत्यर्थः। पाठान्तरे अल्पो भोगः सविघ्नः सप्रतिबन्धः॥ ४॥

आगे आचार्यचरण पूर्व में कहे प्रतिबन्धों की ही चर्चा कर रहे हैं।

यदि दोनों प्रकार के भोग को एक ही मानते हो तो आचार्यचरण अग्रिमपंक्ति में दोनों का अंतर बता रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं -प्रथम अलौकिकसामर्थ्य में भजनानंदानुभवरूपी भोग महान है। अर्थात् स्वरूप की दृष्टि से, साधन की दृष्टि से एवं फल की दृष्टि से सदा महान है। ***** इसके आगे मूलग्रंथ में कहे "पाठान्तरे" इत्यादि शब्दों का अर्थ मैं समझ नहीं पाया।***** ॥ ४॥

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्यादिति।

सविघ्नोल्पो घातकः स्याद्बलादेतौ सदा मतौ।

अत एवैताविति विवृतौ। भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यफलचिन्तया शोकः कदाचित् तस्य स्यादिति तदभावार्थं चिन्ता न कार्येत्याशयेनाहुः।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

भगवत्कृतप्रतिबन्धे। तत्र हेतुः। स्वस्य **संसारनिश्चयादिति**। संसारोऽहंममतया जन्मकर्मप्रवाहमार्गस्वरूपः, तस्य निर्धारणादित्यर्थः॥ ५॥

इसी कारण विवृति में आचार्यचरणों ने **एतौ** कहा है, जिसका तात्पर्य है - भोग एवं प्रतिबन्ध दोनों बाधक हैं। भगवत्कृत प्रतिबन्ध होने पर कदाचित् जीव को मन में यह शोक होता हो कि- अब मुझे पुष्टिमार्गीयफल प्राप्त न होकर कुछ दूसरा ही फल प्राप्त होगा , तो उसके ऐसे शोक को दूर करने के लिये आचार्यचरण आगे के श्लोक में किसी भी प्रकार की चिन्ता न करने का उपदेश दे रहे हैं।

द्वितीये अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर। भगवत्कृतप्रतिबन्ध इसलिये होता है क्योंकि भगवान ने जीव के लिये सेवा का फल देना नहीं सोचा है अपितु संसार में ही डुबाये रखना सोचा है। संसार का अर्थ है - अहंताममतापूर्वक जन्मकर्म के प्रवाहमार्ग का स्वरूप॥ ५॥ ***** जब तक कर्म शेष रह जाते हैं, तब तक जन्म लेते रहना पड़ता है। पापकर्म किये हैं तो पाप भुगतने के लिये पुनः संसार में आना पड़ता है और पुण्यकर्म किये हैं तो पुण्य भोगने के लिये पुनः जन्म लेना पड़ता है। इसी का नाम संसार है। जब पापपुण्य दोनों समाप्त हो जाते हैं, तभी जीव मुक्त होता है।*****

एवं प्रतिबन्धं विचार्य उद्वेगरूपप्रथमं प्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दातृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

अत्र **आद्यफलाभाव** इति विवृतम्। आद्येन वा प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः। **नन्विति** विरोधोक्तौ। **आद्ये** उद्वेगरूपप्रतिबन्धे भगवतः सर्वसमर्थस्यापि सेवाया अमानसीत्वेन अनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः। एतदेव विवृण्वन्ति **तदा सेवा नाधिदैविकीत्यादि**। **तृतीये** लौकिकभोगे **गृहमेव बाधकम्**। **गृहमत्र** पत्न्यादिकं विष्णुबहिर्मुखमेव त्याज्यम्। अत एवोक्तमाचार्यैर्निबन्धे "गृहं सर्वात्मना त्याज्य"मित्यादि।

इस प्रकार प्रतिबन्धों के विचार करके अब आचार्यचरण आगे यह बता रहे हैं कि, उद्वेगरूप प्रथम प्रतिबन्ध के कारण फल न मिलने में मूलकारण भगवान की फल न देने की इच्छा है।

इस पंक्ति का विवरण में आपश्री ने अर्थ किया है - **आद्यफल** का अभाव होने पर भगवान की फलदान की इच्छा नहीं है **ननु** शब्द यहाँ विरोध-अर्थ में है, जिसका तात्पर्य यह है कि यदि भगवान की फलदान करने की इच्छा नहीं है तो जीव को उत्तमफल मिलने में विरोध आ जायेगा। अथवा यों अर्थ कर लें कि - आद्यप्रतिबन्ध के कारण फल नहीं मिला। **आद्ये** का अर्थ है - उद्वेगरूप प्रतिबन्ध होने पर ; तात्पर्य यह कि सेवा के मानसी न बनने के कारण अनाधिदैविकी रह जाने से सेवा में लगे हुए जीव को प्रभु सर्वसमर्थ होने पर भी फलदान नहीं करते। यही बात आपश्री विवरण में कह रहे हैं कि - भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर सेवा आधिदैविकी नहीं बन पाती। तीसरे प्रतिबन्ध लौकिकभोग को दूर करने में घर ही बाधक है। घर का अर्थ यहाँ भगवान से बहिर्मुख पत्नी आदि ही हैं इसी कारण आचार्यचरणों ने निबंध में "घर का सभी प्रकार से त्याग करना चाहिए(सर्व० २५१)" यह कहा है।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं च प्रासङ्गिकं निरूप्य एतद्विचारमावश्यकत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥

(इयं दातृता हरेः यद्वा भक्तितः मदुक्तिर्वा)। सेवा पूर्वोक्ता तत्त्रयी वा विचिन्त्येत्यर्थः। एतदतिरिक्तं **सर्वं मनोभ्रमः**। भक्तिमार्गे त्रिविधसेवाया एव पूर्वोक्तं फलत्रयं नान्यत् , प्रतिबन्धकं चोद्वेगादिकमेव न पापादिकं। "स्वपादमूलं भजतः प्रियस्ये"ति भागवतवाक्यादिति भावः॥ ६॥

इस प्रकार सेवा में तीन फल एवं तीन प्रतिबन्धक कह कर इनका विचार करना आवश्यक है , यह कहने के लिये अब आचार्यचरण इस ग्रंथ का उपसंहार कर रहे हैं।

इयं सदा भाव्या (इसका सदा विचार करते रहें) इत्यादि शब्दों से आचार्यचरणों का तात्पर्य है - हरि कब फल देते हैं या नहीं देते उनकी इच्छा का विचार करते रहें या मेरे द्वारा कही बात का भक्तिपूर्वक विचार करते रहें या फिर पूर्व में कही तीन प्रकार की सेवा (अत्यन्तरंग, अंतरंग, बहिरंग) का सदा चिंतन करते रहना चाहिए , यह अर्थ है। इसके अतिरिक्त सभी कुछ **मन का भ्रम** है। भक्तिमार्ग में त्रिविधसेवा के पूर्व में कहे तीन फल ही हैं, अन्य नहीं। और प्रतिबन्धक भी उद्वेग आदि ही हैं, पाप आदि भक्तिमार्ग में प्रतिबन्ध नहीं होते क्योंकि भागवत में "जो भक्त अपने भगवान के चरणकमलों का अनन्यभाव से भजन करता है, वह सर्वप्रथम पापकर्म तो कर ही नहीं सकता और यदि उससे पाप हो भी जाएँ तो भगवान उसके हृदय में बैठकर उसके हृदय को शुद्ध कर देते हैं(श्री०भा० ११-५-४२)" इस प्रकार के वाक्य हैं॥ ६॥

ननु भगवदीयैर्नेयं भाव्येत्युच्यतां किन्त्वन्यैरेवेत्याशंक्याहुः **तदीयैरपि तदित्यादि**।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।

कलौ देशादीनामसाधकत्वात् तथा। **पुष्टौ** स्थितः प्रभुस्तु **नैव विलम्बयेत्**। मध्यस्थैरेवेह तथेति भावः।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्युपदिशन्ति।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥

एतद्भावनेन मनसो भगवत्तत्वपरतायां गुणक्षोभेपि न भवितेति भावः। अत्र स्वसंमतिरेव मानमाहुः **इति मे मतिरिति**॥ ७॥

किंतु प्रश्न यह है कि, भगवदीयों को इन प्रतिबन्ध एवं फलों का चिंतन करने की आवश्यकता नहीं है अपितु दूसरों के लिये ही यह उपदेश है। तो इसका समाधान आपश्री **तदीयैरपि तत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

पश्री का तात्पर्य यह है कि, कलिकाल में देश-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र इत्यादि धर्म के अंग असाधक हो गये हैं अतः भगवदीयों को भी का चिंतन करते रहना है। जो पुष्टिमार्ग में हैं उनको तो फलदान में प्रभु विलंब नहीं करेंगे परंतु जो मध्य(मर्यादापुष्टि)में हैं, उनको अवश्य चिंतन करना है - यह भाव है।

इसी चिंतन करने की प्रक्रिया का आपश्री अन्यत्र भी करने का उपदेश अग्रिम पंक्ति में कह रहे हैं। चार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, इन प्रतिबन्धों एवं फलों की भावना करने से मन की भगवत्परता हो जाती है और जिससे गुणों क्षोभ भी नहीं होगा, यह भाव है। इसमें आचार्यचरणों की अपनी संमति ही प्रमाण है, जिसे आपश्री **इति मे मतिः** इत्यादि वाक्यों कह रहे हैं॥ ७॥

नन्वत्र काचित् कुतर्ककल्पना उत्पद्येत तदा कथं विचारणीयेत्याशंकायामाहुः।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

स्पष्टार्थः॥ ७॥

इति श्रीशाचार्यवर्यमतमार्गानुवर्तिना। सेवाफलं सविवृति विवृतं च यथामति॥ १॥

इतिमठेशश्रीनाथभट्टात्मजगोपीनाथसुतलक्ष्मणभट्टविरचितं सेवाफलविवृतिविवरणं समाप्तम्॥

अगली शंका यह है कि, उपर्युक्त प्रकार से भावना करने में मान लो कि कोई कुतर्ककल्पना होती हो, तो भावना े करें? इसका उत्तर आपश्री ने अगली पंक्ति में दिया है, जिसका अर्थ तो स्पष्ट ही है॥ ७॥

यह श्रीशाचार्यवर्यमत के अनुगामी ने विवृतिसहित सेवाफल की विवृति यथामति की॥ १॥

यह **मठेश** श्रीनाथभट्टात्मज गोपीनाथपुत्र लक्ष्मणभट्ट विरचित सेवाफलविवृति **का विवरण समाप्त** हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम्।

विवरणटिप्पणीसमेतम्[1]।

* * *

श्रीमदाचार्यचरणान् सेवारसफलप्रदान्।
नमामि तद्रजोलेशलवस्पर्शसमीहया॥ १॥
श्रीमदाचार्यचरणैस्त्रिधा सेवा फलत्रयम्।
निर्णीतं तत्र मे बोधस्तथाहि कृपयोच्यते॥ २॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।

यादृशी सेवनेत्यस्य विवरणे **सेवायां फलत्रयमिति**। अयं भावः। भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन जीवेषु भगवदङ्गीकारस्त्रिधा। तत्रापि पुष्टिमार्गफलार्थं यद्वरणं तत्पुष्टौ मर्यादायामेव, न तु प्रवाहमार्गेपीति विवरणे स्फुटीकरिष्यत इति। तेषां साधनरूपा सेवापि त्रिधा प्रोक्ता। अतस्तादृशतत्प्रकारकसेवासिद्धौ **फलमुच्यते**।

सेवारसफल प्रदाता श्रीमदाचार्यचरणों को
उनके चरणरज को किञ्चित् स्पर्श करने की इच्छा से नमन करता हूँ॥ १॥
श्रीमदाचार्यचरणों ने तीन सेवा के तीन फल निर्णीत किये हैं,
जिनका बोध मुझे उनकी कृपा से हुआ एवं उन्हें मैं यहाँ कह रहा हूँ॥ २॥

आचार्यचरण **यादृशी सेवना** इत्यादि शब्दों का विवरण **सेवायां फलत्रयम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। पुष्टिमर्यादाप्रवाह भेद से भक्तिमार्ग में जीवों को प्रभु तीन प्रकार से अंगीकार करते हैं। इसमें भी पुष्टिमार्ग का फल देने के लिये जो वरण होता है, वह पुष्टिपुष्टि एवं मर्यादापुष्टि में ही होता है, प्रवाहपुष्टिमार्ग में नहीं - यह आचार्यचरणों विवरण में स्पष्ट किया है। इन पुष्टि एवं मर्यादा सेवा की साधनरूप सेवा भी आपने तीन प्रकार की कही है। अतः पुष्टि एवं मर्यादा प्रकार की सेवा जब सिद्ध हो जाय, तब उस सेवा का फल यहाँ कहा जा रहा है - यह अर्थ है।

तत्किमित्याकांक्षायामुक्तम**लौकिकसामर्थ्यमि**त्यादि।तत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्य साधनदशायामाचार्योक्तप्रकारेण सेवाकरणे मानसीतत्सिद्धौ फलं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपं भवेदिति। तस्येदमेव **अलौकिकसामर्थ्यं** यदाधुनिकजीवस्य तादृशपूर्णालौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुणवता समं साम्येन रतिः रसोद्बोधश्च भवतीति तथोक्तं विवरणे, न हि साधारणस्य तादृशेन महता सममेतत् कर्तुं शक्यम् , रसाभासहेतुत्वात्।

और वे फल कौन से हैं , तो इसे आपश्री अपने विवरण में **अलौकिकसामर्थ्य** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इसमें यह समझें कि पुष्टिमार्ग में अंगीकृत जीव साधनदशा में आचार्यचरणों द्वारा कहे गये प्रकार से प्रभुसेवा करता है एवं जब वह सेवा सिद्ध हो जाती है, तब मानसी का फल प्राप्त होता है जो साक्षात् भगवत्संबंध कराने वाली होती है। और उस मानसी या साक्षात्भगवत्संबंध सिद्ध होने की यही अलौकिकसामर्थ्य है कि, ऐसे आधुनिक पुष्टिमार्गीय जीव को पूर्ण-अलौकिक ऐश्वर्य वीर्य इत्यादि गुणों से युक्त भगवान के संग बराबरी से रति एवं रस का उद्बोध होता है। जबकि कोई साधारण जीव ऐसे अलौकिक भगवान के संग बराबरी से व्यवहार थोड़े ही कर सकता है क्योंकि कहाँ तुच्छजीव और कहाँ पूर्णपुरुषोत्तम ? ये तो रसाभास हो जायेगा।

ननु पूर्वं मानससेवायाः सिद्धिः कथं तत्राहुः अलौकिकस्येति।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः॥ १॥

---

[1] यद्यप्येतद्विवरणकृतां नाम न ज्ञायते तथापि जयगोपालभट्टकृततदुपन्यासादस्य प्राचीनत्वं निश्चीयते।

"मानसी सा परा मते"त्युक्त्या सा सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपेत्यलौकिकस्य प्रभोर्दाने परमकाष्ठापन्नस्वरूपसम्बन्धाभिलाषरूपभावदाने सः आद्यः पुष्टिफलरूपः सर्वोत्कृष्टो **मनोरथः** सिध्येत्। मनोरथपदेन प्रेमासक्तिव्यसनसंकल्पादिरूपः सन् सिद्धिं प्राप्नोति, फलसम्मुखो भवतीत्यर्थः। अत एव मनोरथपदमुक्तम्। इयमेव मानसीतत्सिद्धिः। तदुक्तं "चेतस्तत्प्रवणं सेवे"ति। यद्यपि मानससेवासिद्धयै तनुजा वित्तजा च द्वे अङ्गे, तथापि मुख्यमङ्गं दानम् , यतस्तत्करणेपि यदा दानं भवति, तदैव तादृशी सा भवति, अन्यथा मर्यादामार्गीयभक्तानामपि निरन्तरं तत्करणे पुष्टिरूपायां तस्यां को विशेष इति तद्भावोदये नैव सा भवेदित्यर्थः। तेन तत्करणेपि दानेनैव तादृशभावः सिध्येन्नान्यथेति ज्ञेयम् , परन्तु तत्कृतिस्तु सर्वदा कर्तव्या, अकरणे भावः क उद्भवेद्, विषयाभावाद्, अत एवाङ्गभूते ते उक्ते॥ १॥

परंतु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, पहले तो मानसीसेवा का फल प्राप्त होना चाहिए , फिर आपश्री यहाँ अलौकिकसामर्थ्य को पहला फल क्यों बता रहे हैं ?

योजना = टीकाकार मूलग्रंथ में कहे अलौकिकस्य शब्द का तात्पर्य अलौकिक-भगवान मान रहे हैं।

जैसा कि सि०मु० में कहा है कि "मानसी श्रेष्ठ मानी गयी है(१)" अतः मानसी स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप सेवा है अतः अलौकिकप्रभु जब जीव को परमकाष्ठापन्न भगवान के स्वरूप से संबंध हो जाने की अभिलाषारूपी भाव का दान करते हैं, तब जीव को ऐसा आद्य **मनोरथ** अर्थात् पुष्टिफलरूपी सर्वोत्कृष्ट मनोरथ सिद्ध होता है। मनोरथ सिद्ध होने का तात्पर्य है - भगवान के लिये होने वाला प्रेमासक्तिव्यसनसंकल्प आदि रूपं मनोरथ होता है और वह फलरूप में सामने आ जाता है। इसी कारण आपश्री ने यहाँ मनोरथ पद कहा है। मन में ऐसा मनोरथ होना ही मानसी एवं मानसी से होने वाले फल की सिद्धि है। जो बात सि०मु० में "चित्त का भगवान में प्रवण होना सेवा है(२)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। यद्यपि मानससेवा को सिद्ध करने के लिये सि०मु० में तनुजा एवं वित्तजा ये दो अंग माने गये हैं , तथापि इसका मुख्य कारण तो भगवान का दान ही है। क्योंकि तनुजा वित्तजा करने पर भी जब भगवान दान करते हैं , तब ही मानसी सिद्ध होती है। क्योंकि मर्यादामार्गीय भक्त भी तो निरंतर तनुजा वित्तजा सेवा करते ही हैं अतः उन्हें भी मानसी सेवा सिद्ध हो जायेगी यंह कहना पड़ेगा ; तब फिर मर्यादा और पुष्टिरूप सेवा में क्या अंतर रह जायेगा ? इसलिये भले ही मर्यादामार्गी को तनुवित्तजासेवा करने का भाव उत्पन्न हो जाय, तथापि उसे मानसी तो नहीं सिद्ध होगी। इसलिये तनुजा-वित्तजा करने पर भी भगवान के दान से ही ऊपर कहा भाव सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ये समझिए। परंतु तनुजा-वित्तजा सदा करते रहनी चाहिए क्योंकि नहीं करेंगे तो किसी भी विषय के बिना प्रभु में भाव ही कौन सा उद्भव हो पायेगा ? अतः आचार्यचरणों ने इन दोनों सेवाओं को मानसी की अंगभूत सेवा बतायी है॥ १॥

ततः किमित्यत आहुः **फलमिति**।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः।

तादृशप्रचुरभावे सति फलं स्वरूपसम्बन्धरूपम् , अधिकारः अलौकिकदेहवयोगुणादिकं भवेत् , तत्राहुः **न काल** इति। अत्र कालः वयोवस्थादिसमयरूपः **नियामको न**, भगवदिच्छयैव सर्वं लीलोपयोगि तदैव भवेत् , न कालापेक्षा। तादृशं प्रति भगवतोपि विलम्बासहिष्णुत्वात्। एवं पुष्टिफलं निरूप्य मर्यादाफलं निरूपयन्ति। तथा हि, मर्यादामार्गाङ्गीकृतस्य माहात्म्यज्ञानपूर्वकसेवाकरणे भगवति माहात्म्यभावसहितस्नेहेन तदात्मतया सायुज्यं साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपे भवेन्न त्वक्षरे। तत्र तदालौकिकदानेच्छाऽभावात् स्वरूपसम्बन्धात्मकं फलं न भवेदित्यर्थः। यदा पुनः भगवान् कदाचिद् दातुमिच्छति तदा स्वस्वरूपात् पृथक्कृत्य तादृशं प्रचुरभावदानं कृत्वा फलं प्रयच्छति, यतोस्मिन्मार्गेपि दातृत्वाभिप्रायेणैव वरणकार्यत्वात्। एवं भक्तिहंसे स्फुटीकृतं श्रीमद्प्रभुचरणैः "भक्तिमार्गीयभक्तकृतेत्यारभ्य, अत्रापवर्गवर्त्मनी"त्यन्तम्।

तो तनुजा-वित्तजा सेवा करने से क्या होगा ? यह आपश्री अग्रिम कारिका में फलं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। कारिका में कहे फलं शब्द का तात्पर्य यह है कि, मानसी का प्रचुरभाव उत्पन्न होने पर भगवान के स्वरूप से संबंध होने का फल प्राप्त होता है। अधिकार का तात्पर्य है - अलौकिक देह, आयु एवं अलौकिकगुण इत्यादि प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, ये सब प्राप्त होने में काल नियामक नहीं है। काल के नियामक न होने का तात्पर्य यह है कि, ऊपर कहे फल एवं अधिकार प्राप्त करने में वय, अवस्था या समय इत्यादि का बंधन नहीं है क्योंकि भगवान की इच्छा मात्र से ही उनकी लीला में उपयोगी

समस्त वस्तुएँ उसी समय बन जाती हैं, इसमें काल की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि ऐसे जीव के प्रति भगवान भी लालायित रहते ह एवं उसके विलंब को सहन नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार से पुष्टि का फल निरूपित करके अब आगे आचार्यचरण पुष्टिमर्यादा का फल निरूपित कर रहे हैं। वह इस प्रकार कि, जिसको भगवान ने पुष्टिमर्यादामार्ग में अंगीकार किया है, वह जब भगवान के माहात्म्यज्ञान को समझ कर सेवा करता है तो भगवान में माहात्म्यभाव सहित हुए स्नेह से उसे साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप में सायुज्य प्राप्त होता है , अक्षरब्रह्म में नहीं। सायुज्य इसलिये क्योंकि पुष्टिमर्यादामार्ग में अंगीकार किया होने से भगवान की अलौकिक का दान करने की इच्छा नहीं है अतः उसे स्वरूपात्मकफल प्राप्त नहीं होता। जब पुनः भगवान कदाचित् अपने स्वरूप से संबंधित फल देने की इच्छा करते हैं , तब उसे अपने स्वरूप से अलग करके स्वरूपसंबंधी प्रचुरभाव का दान करके फल देते हैं। क्योंकि इस मर्यादामार्ग में भी यह नियम है कि, भगवान देने की इच्छा से ही वरण करते हैं। यही बात भक्तिहंस में प्रभुचरणों ने भक्ति... से लेकर वर्त्मनि... इत्यादि वाक्यों से कही है।

प्रवाहभक्तिमार्गलक्षणकथनेन व्यापिवैकुण्ठस्य लोकत्वेनाक्षरात्मकत्वादक्षरमुक्तिरेव फले, न तु पुरुषोत्तमसायुज्यम्। अक्षरमुक्तौ तु आद्यफलदानेच्छाऽभावात्तदर्थं वरणमेव नास्तीति नाद्यफलसम्भावनेति मर्यादातो हीनत्वमुक्तम्। पुरुषोत्तमसायुज्ये तत्सम्भावना वर्तत इति प्रवाहभक्तिमार्ग सेवाफलादुत्कृष्टत्वम्। यत एतत्फलदानेच्छया यद्वरणं तन्मार्गद्वये एव, न तु प्रवाहमार्गे, तदप्युक्तं भक्तिहंसे विवरणे "वरणे चास्ति प्रकारद्वय"मिति।

प्रवाहभक्तिमार्ग का लक्षण बताने के लिये आपश्री का तात्पर्य यह है कि, व्यापिवैकुण्ठ तो एक लोक है अतः अक्षरात्मक है इसलिये प्रवाहभक्तिमार्गी को मिलनेवाला फल भी अक्षरब्रह्म में मिलनेवाली मुक्ति ही होगी, पुरुषोत्तम में सायुज्य वाला फल नहीं होगा। और अक्षरमुक्ति तो इसलिये होती है कि भगवान की आद्यफल का दान करने की इच्छा नहीं है अतः आद्यफल देने के लिये तो भगवान ने उसका वरण किया ही नहीं इसलिये उसे आद्यफल होने की तो संभावना ही नहीं है, सो यह फल पुष्टिमर्यादा से हीन है और पुरुषोत्तम से सायुज्य प्राप्त होना प्रवाहभक्तिमार्ग में होनेवाले सेवा के फल से उत्तम है। इसलिये आद्यफल का दान करने की इच्छा से जो भगवान जीव का वरण करते हैं, वह पुष्टिपुष्टि एवं मर्यादापुष्टि में ही करते हैं , प्रवाहपुष्टि में नहीं। यह बात भी भक्तिहंस में प्रभुचरणों ने "भगवान दो प्रकार से वरण करते हैं" इस वाक्य द्वारा कही है।

एवं सेवास्वरूपं साधनफलसहितं मार्गत्रयेपि निरूपितमिदानीं तादृशसेवासिद्धौ प्रतिबन्धकत्रयं निरूपयन्ति उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेति।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम्॥ २॥

श्लोकविवरणे सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमित्यादि। एतत्त्रितयनिवारणे त्रयाणां साधनपरित्याग इति विवरणे विवृतम्। तत्रोद्वेगसाधनं लौकिकशोकदुःखादिकम्। तस्य भगवदिच्छाधीनत्वं ज्ञात्वा तत्त्यागेन तस्यापि त्यागो भवत्येवेति। "चित्तोद्वेग"मित्युक्तत्वादत्र न विशेषतो विवृतम्। तथा अपरः प्रतिबन्धः। स च द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्च। साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः। बुद्धिस्तु यस्मिन्कृते सेवाप्रतिबन्धोऽभूच्चेत् स न कर्तव्य इति विचाररूपबुद्ध्या त्याज्यः। भगवत्कृतमग्रे वदिष्यन्ति। लौकिकभोगस्तु विषयरूपत्वात् बाधक इति तत्साधनवस्तुमात्रत्यागादेव तत्त्याग इति तदेव त्याज्यमित्यर्थः। एवं तत्त्रयं त्याज्यमित्युक्तम्॥ २॥

इस प्रकार आचार्यचरणों ने साधन और फलसहित सेवा के स्वरूप का पुष्टिमर्यादाप्रवाह तीनों मार्गों में निरूपित किया। अब आगे मानसीसेवा सिद्ध होने में रुकावट बननेवाले तीन प्रतिबन्धकों का निरूपण आपश्री उद्वेगः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इस श्लोक का विवरण आपश्री ने सेवायां इत्यादि शब्दों से किया है। विवरण में आपश्री यह बताते हैं कि, इन तीनों प्रतिबन्धकों को दूर करने के लिये ये तीन जिन कारणों से होते हों, उन कारणों का ही परित्याग करना चाहिए। इसमें उद्वेग लौकिकशोक दुःख इत्यादि के कारण होता है। ऐसे लौकिक दुःखों को भगवान की इच्छा के अधीन मान कर इन्हें दूर करेंगे तो उद्वेग भी दूर हो ही जायेगा। वैसे इसके विषय में आपश्री नव० में "भले हि प्रभु चित्त में उद्वेग करायें तथापि उसे प्रभुलीला मान कर चिन्ता न करें(८)" यह कह ही चुके हैं अतः यहाँ अधिक नहीं कहा। उद्वेग के पश्चात् आता है प्रतिबन्ध। यह दो प्रकार का होता है - साधारणप्रतिबन्ध एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध। साधारणप्रतिबन्ध बुद्धिपूर्वक दूर करें। बुद्धि का प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि, "जिसके कारण सेवा प्रतिबन्ध होता हो, वैसा काम नहीं करना चाहिए" यह विचार करके प्रतिबन्ध दूर करें। और भगवान द्वारा किये प्रतिबन्ध की बात

तो हम आगे कहेंगे। लौकिकभोग तो सांसारिक विषयों की ओर ढकेलता है अतः बाधक है। इस कारण लौकिकभोग जिन कारणों से होता हो उन समस्त वस्तुमात्र का ही त्याग कर देने से लौकिकभोग का अपने आप ही त्याग हो जायेगा। इस प्रकार से आपश्री ने बताया कि, उद्वेग,साधारणप्रतिबन्ध एवं लौकिकभोग ये तीनों ही त्याज्य हैं॥ २॥

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथापरम्।

एतत्त्रयाणां साधनपरित्यागेनैव **बाधकानां परित्यागो** भवतीति शेषः। ननु सेवायां वस्तुमात्रोपयोगात्तत्त्यागे कथं तन्निर्वाह इत्याशंकायामाहुः **भोग** इति। तत्रापि **भोगे एकं** लौकिकं त्यजेदपरं नेति शेषः। यतस्तेषां स्वार्थमुपयोगे लौकिकत्वम्, भगवदर्थमुपयोगे अलौकिकत्वम्, अतः स्वार्थं ते त्याज्याः, भगवदर्थमुपयोज्या इति भावः।

कारिका में कहे **बाधकानां परित्यागः** का अर्थ यह है कि - पूर्व में कहे तीनों प्रतिबन्ध होने के मूलभूत कारणों का ही परित्याग कर देने से इनका भी परित्याग अपने आप ही हो जायेगा। किंतु प्रश्न यह होता है कि. यदि सेवा में जो जो वस्तुएँ उपयोगी हैं, उन सभी का त्याग कर देंगे तो सेवा निभेगी ही कैसे ? इसका समाधान आपश्री भोग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - इसीलिये दो प्रकार के भोगों में से एक लौकिकभोग का तो त्याग करें परंतु दूसरे अलौकिकभोग का नहीं। जिसका उपयोग हम हमारे लिये करते हैं, वह लौकिकभोग है एवं जिसका उपयोग भगवान के लिये होता है, वह अलौकिकभोग है अतः जो हमारे लिये है उसका त्याग करें और जो भोग भगवान के लिये हैं, उसे भगवत्सेवा में लगायें - यह भाव है।

तदनन्तरमबाधकत्वमाहुः **निःप्रत्यूहमिति**।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥ ३॥

निःप्रत्यूहमिति प्रतिबन्धरहितं प्रत्युत साधकम्॥ ३॥

एवं बाधकानां परित्यागे निर्विघ्नसेवासम्भवे तस्यैव भोगस्य प्रतिबन्धत्यागे च हेतुं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे हेतुं निरूपयन्ति **अकर्तव्यं भगवत** इति।

आगे आपश्री "अलौकिकभोग बाधक नहीं है", यह **निःप्रत्यूह** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

निःप्रत्यूह का अर्थ है - प्रतिबन्धरहित अर्थात् साधक॥ ३॥

इस प्रकार बाधकों का परित्याग होने पर सेवा निर्विघ्न संभव बनाने में भोग एवं प्रतिबन्ध दूर करने का कारण बता कर, अब आचार्यचरण **अकर्तव्यं भगवतः** इत्यादि शब्दों से भगवत्कृतप्रतिबन्ध क्यों होता है, इसका कारण बता रहे हैं।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥ ४॥

अस्य विवरणे **भगवत्कृतश्चेत्यादि विवेक** इत्यन्तम्। अस्यायमर्थः। यदि **भगवतः** तत्फलदानं न **कर्तव्यं** भवेत् तदा तादृशसेवायां सर्वथा सर्वप्रकारेणापि गतिर्न भवति। तत्र यथा तथा प्रतिबन्धकमेव भवेत्, न तु निर्वाहः। ननु स्वमार्गीयसेवायां तस्य भगवान् प्रतिबन्धं करोतु, परन्तु अन्यमार्गीयसेवायां न करिष्यतीति चेत्, तत्रोक्तं विवरणे **तदा अन्यसेवापि कृता व्यर्थेति**। प्रवाहादिमार्गेषु कृतापि व्यर्था। यतः सकलमार्गेषु फलदाता भगवानेव। तस्य त्वकर्तव्यमेवेतीति तथा।

इस कारिका का विवरण आचार्यचरणों ने **भगवत्कृतश्चेत्** से आरंभ करके **विवेक** तक के शब्दों से कहा है। इसका अर्थ यह है कि, यदि भगवान जीव को फलदान नहीं करना चाहते, तब ऐसे जीव द्वारा की गयी सेवा में किसी भी प्रकार से गति नहीं होती। फिर सेवा में जब तब प्रतिबन्धक ही आते रहेंगे, सेवा निभ नहीं सकेगी। ऐसे में तो कोई ये सोच सकता है कि, चलो अपने मार्ग की सेवा में तो भगवान प्रतिबन्ध ही कर रहे हैं, परंतु अन्यमार्ग में वे प्रतिबन्ध थोड़े ही करेंगे अतः अन्यमार्ग में कही सेवा ही कर लें ! तो आचार्यचरण विवरण में इसका उत्तर **तदा अन्यसेवापि कृता व्यर्था** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, प्रवाह आदि मार्ग में कही सेवा भी व्यर्थ हो जायेगी क्योंकि समस्त मार्गों के फलदाता भगवान ही हैं अतः दूसरे मार्गों की ओर उसे भटकना ही नहीं चाहिए।

यदा यत्ने कृतेपि प्रतिबन्धकं भवेत् तदा **यथा तत्त्वनिर्धारो** भवेत् तथा कर्तव्यम्। तत्त्वनिर्धारः कथमित्याकांक्षायां विवरणे विवृतम्। **आसुरोयं जीव** इति। एवं तस्य विवेकेन ज्ञानस्थितिरूपमेव **साधनं मतम्**, यतः पूर्वमासुर एव जीवः।

यथासुरदेहयुक्तम्लेच्छादिषु कस्यचिद्दैवजीवत्वात् भगवत्परता दृश्यते, तथासुरजीवस्यापि कदाचिद्दैववशाद्भगवद्भक्तसङ्गेन सेवायां प्रवृत्तिर्भवति, परन्तु आसुरे भगवतो दातृत्वाभावात्तत्र प्रतिबन्धकमेव जायते। यतस्तेषामन्यदेव फलम्। तदे"वासुरी योनिमापन्ना" इत्यादिनोक्तम्। तथापि भगवद्भक्तसङ्गानुभावात् ज्ञानमार्गेपि स्थितिरुक्ता॥ ४॥

इसलिये संक्षेप में यत्न-प्रयत्न करने पर भी सेवा में यदि प्रतिबन्धक ही होते हों, तो फिर आपश्री विवरण में कह रहे हैं कि - "मैं आसुरी हूँ अतः भगवान सेवा का फल न देकर विघ्न ही डाले जा रहे हैं" इस तत्त्व की बात का जिस भी प्रकार से निर्धारण हो जाय, वैसा प्रयत्न करना चाहिए। अब उपर्युक्त तत्त्व का निर्धारण कैसे करें ? तो इसे आपश्री ने विवरण में **आसुरोयं** जीव इत्यादि शब्दों से विवृत किया है। आपश्री का तात्पर्य यह कि, ऐसे जीव को विवेकपूर्वक ज्ञानमार्ग में रहना ही आपश्री ने साधन बताया है क्योंकि पूर्व में वह जीव आसुरी ही है। अब जैसे आसुरदेह से युक्त म्लेच्छों के बीच में कोई ऐसा हो कि जो दैवीजीव हो, तो उसमें भगवत्परता दिखाई देती है ; उसी प्रकार आसुरीजीव को भी कभी मान लो कि भाग्यवश किसी भक्त का संग मिल जाय तो उसकी भगवत्सेवा में प्रवृत्ति हो जाती है किंतु आसुरी होने के कारण भगवान को उसे फलदान करने की इच्छा ही नहीं होती अतः उसे सेवा में प्रतिबन्ध ही आते रहते हैं। क्योंकि भगवान को तो उसे कुछ दूसरा ही फल देना है, जिस फल के बारे में गीता में "आसुरी योनि में पड़े हुए जीव मुझको कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते(१६-२०)" इस वाक्य द्वारा बताया गया है। फिर भी, भगवद्-भक्त का संग मिलने के कारण ऐसा आसुरी ज्ञानमार्ग में भी रह पाता है। *****टीकाकार का तात्पर्य यह है कि, ऐसा आसुरीजीव यद्यपि उपर्युक्त गीतावाक्य के अनुसार ज्ञानमार्ग या कथासत्संग इत्यादि में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता किंतु यदि वो टिक भी पाता है, तो भगवद्भक्त का संग मिलने के कारण। यदि कोई सहज आसुरीजीव होता तो उसकी वही गति होनी थी,जो उपर्युक्त भगवद्गीता के श्लोक में कही गयी है।***** ॥ ४ ॥

तत्रापि चेत् स्थितिर्न भवेत्तदा तत्पूर्वोक्तफलविषयिणी चिन्तापि सर्वथा त्याज्येत्याहुः **द्वितीय** इति।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥ ५॥

विवरणे **ज्ञानस्थित्यभावे** चिन्ताऽभावार्थं **द्वितीय** इति। तत्र हेतुः। **संसारनिश्चयादिति**। स्वस्य पूर्वोक्तसंसाररूपस्य फलस्यैव निश्चयात् सा न कार्या, पुनस्तदाशोच्छेद एवेति सर्वथेत्युक्तम्॥ ५॥

फिर भी मान लो कि, ज्ञानमार्ग में भी यदि वह न रह पाये तो उसे पूर्व में कही फलसंबंधी चिन्ता भी पूरी तरह से त्याग देनी चाहिए - यह आपश्री **द्वितीये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस कारिका का विवरण आपश्री ने **ज्ञानस्थित्यभावे** इत्यादि शब्दों से किया है। चिन्ता त्याग देने का कारण यह है कि , उसे तब सोचना चाहिए कि भगवान ने मेरे लिये संसार में ही रहना लिखा है। उसे मन में यह निश्चय करना चाहिए कि - मुझे संसाररूपीफल ही मिलनेवाला है- और चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। इतना सब प्रतिबन्ध होने के पश्चात् अब उसे सेवा का फल मिलने की कोई आशा ही नहीं रह जाती है अतः आपश्री मूलकारिका में आज्ञा कर रहे हैं - उसे सर्वथा चिन्ता छोड़ देनी चाहिए॥ ५॥

ननु यथा द्वितीयप्रतिबन्धे पूर्वोक्तप्रकारेण आसुरजीवस्य सर्वथा फलविषयिणी चिन्ता त्याज्या, तथा साधारणप्रतिबन्धेपि सा त्याज्या, अन्यथा सा कथं भवेदित्याशङ्कानिरासायाहुः **न त्वाद्य** इति।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।

(भगवान फलदान नहीं करेंगे ऐसी बात नहीं है किंतु फलदान होने में गृह बाधक बन रहा है)।

आद्ये साधारणप्रतिबन्धे दातृता भगवतो नास्तीति न, किन्तु वर्तते, परन्तु फलस्य कियज्जन्मानन्तरभावित्वात् तद् भवति। तदपि प्रतिबन्धकं साधारणं निवारयितुं शक्यम्। तेन भगवत्कृत एव तस्मिन् दातृत्वाभावो, न साधारण इति ज्ञेयम्। अतो यस्य आद्यफलदानार्थं मर्यादयाङ्गीकारः तस्य तथैव सेवाकरणे साधारणप्रतिबन्धश्चेद् भवेत् , तदा तन्निवारणेन सेवानिर्वाहात् पूर्वं सायुज्यफलं तदनन्तरं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः। यस्य पुष्टौ अङ्गीकारस्तस्य तन्निवारणेन तादृशतत्सिद्धौ तत्फलं भवेदिति सा तथेत्यर्थः।

---

१ सविघ्नेतिश्लोकार्धो विवरणकृद्भिर्विस्मृतः, अथवा विवरणभागस्त्रुटित इति प्रतिभाति।

अब प्रश्न यह होता है कि, जैसे द्वितीय प्रतिबन्ध होने पर आसुरजीव को फलविषयिणी चिन्ता सर्वथा त्याग देनी चाहिए, वैसे क्या साधारण प्रतिबन्ध होने पर भी फलविषयिणी चिन्ता त्याग देनी चाहिए ? और यदि चिन्ता न त्यागें तो किस प्रकार की चिन्ता करनी चाहिए ? इस शंका का निराकरण करने के लिये आपश्री **न त्वाद्ये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस कारिका में आपश्री का तात्पर्य यह है कि, आद्य साधारण प्रतिबन्ध होने पर "भगवान की देने की इच्छा नहीं है" ऐसा नहीं है अपितु देने की इच्छा है ही परंतु उसे फल कुछ जन्मों के बाद मिलने वाला है इसलिये उसे प्रतिबन्ध हो रहा है। यह प्रतिबन्ध भी साधारण है, जिसका निवारण करना शक्य है। इससे यह बात समझनी चाहिए कि , जब भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता है तब ही ये सोचना चाहिए कि भगवान की देने की इच्छा नहीं है, साधारणप्रतिबन्ध होने पर ऐसा न सोचें। अतः कुल मिला कर यह समझें कि जिसको भगवान ने मर्यादा से अंगीकार किया है और जब वह मर्यादा ढंग से सेवा करता है और यदि उसे सेवा में प्रतिबन्ध होता है , तब उस प्रतिबन्ध का निवारण हो सकता है और सेवा भी निभ जाती है , इस कारण पहले तो उसे सायुज्यफल मिलेगा और तत्पश्चात् अलौकिकसामर्थ्यरूपी आद्यफल मिलेगा अतः उसे चिन्ता करनी छोड़ नहीं देनी चाहिए , यह भाव है। और जिसको भगवान ने पुष्टि में अंगीकार किया है , उसको प्रतिबन्ध के निवारण द्वारा मानसीसेवा सिद्ध होने पर अलौकिकफल प्राप्त होगा इसलिये उसे भी चिन्ता छोड़नी नहीं चाहिए।

एवं सति प्रवाहमार्गसेवायामपि सेवायाः साधनदृश्यमानत्वात् साधारणप्रतिबन्धे दातृत्वं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय आद्यफलाभाव इति विवृतम्। आद्यफलस्याभावो यत्रैतादृशे प्रवाहमार्गे तदर्थमङ्गीकार एव नास्तीति नाद्यफलसम्भावनापीति न दातृत्वम्। सा सेवापि नाधिदैविकी, तत्र पूज्यस्वरूपेपि नाधिदैविकत्वम् , किन्तु विभूतिरूपत्वमिति महद्वैलक्षण्यात् कुतः साम्यमिति ज्ञेयम्।

अब प्रश्न यह होता है कि और जैसे पुष्टिपुष्टि एवं मर्यादापुष्टिसेवा में साधारणप्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं और भगवान फल देने की इच्छा करते हैं, वैसे क्या प्रवाहमार्गी की सेवा में भी भगवान फल देंगे ? क्योंकि प्रवाहमार्गीय सेवा में भी तो सेवा के साधन तनुवित्तजा होते ही हैं ? इसका निराकरण करने के लिये आचार्यचरण विवरण में **आद्यफलाभावे** इत्यादि शब्दों से विवृत कर रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, जिसको आद्यफल नहीं मिलता, वहाँ ये समझिए कि उसे भगवान ने आद्यफल न देने के लिये ही प्रवाहमार्ग में अंगीकार किया है अतः उसे आद्यफल प्राप्त होने की संभावना ही नहीं और इसी कारण भगवान की देने की इच्छा भी नहीं है - यह समझें। ऐसे प्रवाहमार्गी की सेवा भी आधिदैविकी नहीं है एवं उसके पूज्यस्वरूप में भी आधिदैविकता नहीं है अपितु वह केवल विभूतिरूप है अतः प्रवाहमार्गीय एवं पुष्टिमार्गीय सेवा में बहुत बड़ा अंतर है , इनकी तुलना कैसे हो सकती है ?

एवं साधारणप्रतिबन्धस्य व्यवस्थामुक्त्वा प्रथमवृतौ सर्वथा लौकिकभोगत्यागासम्भवात् , तत्रापि भगवतो दातृत्वाभावमाशंक्य तन्निवारणाय तद्व्यवस्थामाहुः, तृतीय इति। तृतीये लौकिकभोगेपि दातृता नेति न, यत एतन्मार्गे द्वये तादृश एवाङ्गीकारः, किन्तु तत्र मूलभूतं साधनं यद्गृहं तद्बाधकमिति तत् त्याज्यमिति शेषः। तत्त्यागे सर्वथा भोगाभावात् प्रतिबन्धकाभावेन तादृशभगवद्भक्तसङ्गेन सेवानिर्वाहात् तत्फलमपि भवेदिति भावः। एतदेव विवरणे विवृतं भोगाभावस्तदैवेति।

इस प्रकार आपश्री ने साधारणप्रतिबन्ध की व्यवस्था कही। अब पहली बार में ही लौकिकभोग त्यागना तो संभव नहीं है अतः लौकिकभोग के प्रति यदि आसक्ति नहीं छूटती तो कहीं कोई इसमें भी ये न समझ ले कि, भगवान की फलदान करने की इच्छा नहीं है इसीलिये "मेरा लौकिकभोग नहीं छूटता" ऐसी शंका का निवारण करने के लिये लौकिकभोग की व्यवस्था **तृतीय** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। आपश्री कहते हैं **तृतीय** अर्थात् लौकिकभोग न छूटने पर यह न समझें कि, भगवान फलदान नहीं करना चाहते अपितु इन पुष्टि एवं पुष्टिमर्यादामार्ग में तो भगवान ने फलदान करने के लिये ही जीव को अंगीकार किया हुआ है। वास्तव में लौकिकभोग न छूटने का मूलभूत कारण गृह है, जो सेवा में बाधक बन रहा है ; अतः गृह का त्याग करें। गृह का त्याग करेंगे तो सांसारिक भोग सर्वथा न रहने से प्रतिबन्ध भी नहीं रहेगा और तादृशी भक्त के संग से सेवा निभ पायेगी और सेवा का फल भी प्राप्त होगा - यह भाव है। यही बात आपश्री विवरण में कहते हैं कि, भोग तो तभी दूर होंगे, जब गृहत्याग होगा।

अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते। तथा हि। स्वमार्गीयपरित्यागस्तु प्रेमासक्तिव्यसनात्मकभक्तौ सत्यां कर्तव्यो, न तु साधनभक्तौ। तदुक्तं सन्न्यासनिर्णये "सन्न्यासवरणं भक्तौ" , "अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावह" इति च। तत्र करणे विपरीतफलमपि

भवेदित्यपि। प्रकृते तु तत्पूर्वमेव भोगाभावार्थं सेवानिर्वाहार्थं च त्याग उच्यत इति कथमेकवाक्यतायां विरोध इव प्रतिभाति ?

यहाँ कोई पूर्वपक्षी शंका ये करता है कि, अपने मार्ग में कहा गया त्याग तो तब करना चाहिए कि जब हम देखें कि, हममें प्रेमासक्ति व्यसनात्मक भक्ति पनप चुकी है, साधन अवस्था की भक्ति में तो गृहत्याग करने का निषेध किया गया है। जैसा कि संन्यासनिर्णय में भी आचार्यचरणों ने भी "हमने कहा वैसे ही प्रकार से संन्यास लेना उचित है(२२)" एवं "साधनदशा में गृहत्याग करना कभी लाभकारी नहीं होता(६)" इत्यादि वाक्यों से व्यसनभक्ति सिद्ध होने से पहले गृहत्याग का निषेध किया है। और तो और, यह भी कहा है कि साधनदशा में त्याग करने विपरीतफल भी होगा ; फिर यहाँ स्वयं आपश्री ही भोग को दूर करने एवं सेवा का निर्वाह करने के लिये व्यसनदशा सिद्ध होने के पहले ही गृहत्याग करना कह रहे हैं , तो क्या ये इनके अपने ही वाक्यों में विरोध नहीं आ रहा है ?

तत्रोच्यते। प्रथमं स्वमार्गीयभक्तिसिद्धौ मुख्यं कारणं सेवा। सा सेवा "गृहे स्थित्वा अव्यावृत्त्या गृहव्यावृत्त्यभावे न, प्रत्युत पुत्रकलत्रादीनां भगवदर्थमुपयोगेन स्वधर्मतः करणे सिध्येत् , तच्चेदनुकूलं भवेत् , नो चेत् भजनप्रतिबन्धकत्वेन सर्वात्मना तस्य त्याग एवोचितः। अन्यथा तत्सङ्गेन पुत्रकलत्राद्युपभोगे स्वस्य भजनासम्भवे शरणगतिर्भज्येत, तदा सेवाऽभावे प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्तिरपि न भवेत् , तदभावे तन्मार्गीयपरित्यागोपि न, तदभावे फलाभाव एव च स्यादिति मार्ग एवोच्छिद्येत इति।

तो इस शंका का समाधान करते हैं। सबसे पहले तो ये समझिए कि, अपने मार्ग में कही भक्ति सिद्ध होने में मुख्य कारण सेवा है। वह सेवा गृह में रह कर एवं अव्यावृत्त रह कर ही हो सकती है। गृहत्याग एवं व्यावृत्ति के बिना नहीं। और उल्टे स्वधर्म से रहते हुए पत्नी-पुत्र आदि का भगवान के लिये उपयोग करेंगे तो भगवत्सेवा सिद्ध होगी, यदि वे अनुकूल हों तो। यदि वे अनुकूल नहीं हैं तो, उन्हें भगवद्भजन में प्रतिबन्ध मानकर उनका त्याग करना ही उचित है। नहीं तो ऐसे बहिर्मुख के संग रह कर बहिर्मुख परिवारजनों का संग करने से खुद का भजन भी असंभव बन जायेगा और शरणागति ही भंग हो जायेगी। तब सेवा न रहने से प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्ति भी कैसे उत्पन्न हो पायेगी और यदि प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्ति ही न हुई तो अपने मार्ग में कहा गृह आदि का परित्याग भी संभव नहीं होगा और इससे फल भी प्राप्त नहीं होगा। ऐसे में तो इस मार्ग के ही समाप्त होने की नौबत आ जायेगी।

तत्भोगाभावसिद्ध्यर्थं तथा तत्सेवासिद्ध्यर्थं च कथनम् , तदनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेणैवेति, न तत्राश्रमस्वीकारः, सेवाभावानुपपत्तेः, साधनभक्तौ निषेधाच्च। एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपेपि "प्रतिकूले गृहं त्यजे"दित्यनुकूलतत्त्यागाभावाभिप्रायेणान्ते प्रेम्णि जाते अङ्गेपि यत्किञ्चित् भोगस्यापि बन्धकत्वात् तेनैव तन्नाशे सति ततो यथा साधारणप्रतिबन्धनिवारणेन सेवाकरणं तद्दानं च, तथा लौकिकभोगत्यागेनापि निर्विघ्नसेवाकरणे सति तत्फलं भवेदिति ज्ञेयम्। तत्र पुष्टिमर्यादायां भगवति लीलामाहात्म्यगुणादिभावेनैव प्रेम भवेत् , न पुष्टिरीत्येति तादृशस्य तादृशप्रेम्णा क्रमेण सर्वविषयत्यागे, ततो तत्तभावेन तदात्मकतया श्रीकृष्णे सायुज्यं भवेत् , ततो यदा दानेच्छा तदा स्वरूपात् पृथकृत्य तद्भावदाने तत्तत्फलानुभवं कारयिष्यतीति मर्यादाङ्गीकारे आद्यफलदानप्रकार उक्तः।

पते की बात यह है कि, लौकिक पारिवारिक भोग को मिटाने के लिये एवं सेवा को सिद्ध करने के लिये ही यहाँ गृहत्याग करना बताया जा रहा है। यदि परिवारजन सेवा में अनुकूल हैं तो उनका त्याग नहीं ही करना है। और यहाँ कोई संन्यास लेकर आश्रम में रहने की बात भी नहीं कही जा रही है क्योंकि आश्रम में सेवा तो निभने वाली है नहीं। और साधनभक्ति के समय संन्यास का निषेध भी तो है ही। यही बात आचार्यचरणों ने तत्त्वार्थदीप निबंध में भी "परिवारजन सेवा में प्रतिकूल हों तो गृहत्याग करें , अनुकूल हों तो भगवत्सेवा करायें(सर्व० २३१)" इस वाक्य द्वारा भी कहा है कि , सेवा में अनुकूल परिवारजनों का त्याग नहीं करना है। इसलिये ऐसे सेवा करते करते अन्त में भगवान में प्रेम उत्पन्न हो जाने पर यदि आंशिकरूप से यत्किञ्चित् भी भोग बन्धनकारी बना , तो हृदय में पनपे हुए भगवत्प्रेम से ही उसका नाश हो जायेगा। और तब जैसे साधारणप्रतिबन्ध का निवारण होने पर सेवा करने से कालान्तर में भगवान द्वारा फलदान भी संभव होता है , वैसे लौकिकभोग के त्याग द्वारा निर्विघ्न सेवा करने पर सेवा का फल भी प्राप्त होगा , यह जान लें। पुष्टिमर्यादा में तो भगवान की लीलामाहात्म्यगुण आदि भाव से ही भगवान में प्रेम होता है, न कि पुष्टिरीति से। पुष्टिमर्यादा में पुष्टिभक्त को पुष्टिरीति में बताये गये भगवत्प्रेम होने के द्वारा समस्त विषयों का त्याग होता है और जिसके पश्चात् तत्तभाव से वह भगवदात्मकरूप हो आता है और तब उसका श्रीकृष्ण में सायुज्य होता है। और इसके पश्चात् जब

प्रभु की दान करने की इच्छा होगी, तब प्रभु अपने स्वरूप से अलग करके पुष्टिभाव का दान करने पर उन-उन पुष्टिफल के अनुभव का दान करायेंगे - इस प्रकार से मर्यादा में अंगीकार करने पर आद्य फल का दान प्रभु कैसे करते हैं , यह हमने कहा।

तदुक्तं तत्त्वार्थदीपे "सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल"मिति सायुज्यानन्तरं ध्रुवं फलं तदेवेतिभावार्थः। यस्य शुद्धपुष्टत्वंगीकारस्तस्य तदारभ्यैव पूर्वोक्तभोगादिप्रतिकूलगृहत्यागेनानुकूलगृहे स्थित्वा सेवाकरणे भावात्मिकैव प्रवृत्तिर्भवेत् , ततो यदा प्रेमासक्तिव्यसनानि भावात्मकतया पुष्टानि भवेयुः, तदा तत्र स्थितौ यत्किञ्चिद्भोगसम्बन्धेनापि भावनाश इति तदभावेन तद्विगाढभावपोषादिना पूर्णविरहानुभवार्थं सन्न्यासनिर्णयोक्तप्रकारेण परित्यागः सन्न्यास आवश्यक उक्तः। अन्यथा क्षणमात्रं भावान्तरसम्बन्धे भावशैथिल्याद् विरहानुभवाभावात् फलाभाव इति। ततस्तत्पूर्णानुभवे दशमावस्थया प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ अलौकिकतत्प्राप्त्या तत्फलानुभवो भवतीति पुष्टिमार्गाङ्गीकारे फलदानप्रकार उक्तः, अतएव मर्यादायां मदर्थेऽर्थपरित्याग इत्यादिना भोगाभावार्थं भगवत्प्राप्त्यर्थं च सर्वसमर्पणरूप एव त्याग उक्तः,न तु सन्न्यासप्रकारः। यतः संन्यासे तस्य पुष्टभावादत्तोपि तादृशैरेव सम्भोगो भवतीत्युक्तबाधकत्वात्। अतः कलौ च सन्न्यासः तस्य पश्चात्तापाय इति निषेधोप्युक्तसिद्ध एव। अग्रेपि त्वयोपभुक्तेपि विरोधो भवतीति सन्न्यासस्तु तादृशभक्तावेवेत्युक्तम् , "सन्न्यासवरणं भक्ता"विति मार्गे मार्गद्वयभेदेन परित्यागस्य भिन्नत्वान्न कोपि विरोध इति ज्ञापितम्।

यह बात आचार्यचरणों ने भी तत्त्वार्थदीप में "समस्त वस्तुओं का त्याग करके केवल कृष्ण में एकनिष्ठ होने पर सायुज्य फल प्राप्त होता है(सर्व० २१८)" यह कहा है। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि- सायुज्य के पश्चात् निश्चितरूप से(ध्रुवं) होने वाला फल यही आद्य अलौकिकफल ही है। और जिसको प्रभु ने पुष्टि में अंगीकार किया है, उसकी तो अंगीकार करने के साथ ही पूर्व में भोग के कारण प्रतिकूल बने गृह का त्याग करने पर एवं अनुकूल गृह में रहकर सेवा आदि करने जैसी भावात्मिका प्रवृत्ति ही होती है। ऐसे करते करते इसके पश्चात् जब भावात्मकरूप से प्रेमासक्तिव्यसन आदि पुष्ट होते हैं , तब वह यदि गृह में रहकर यत्किञ्चित् भी भोगवृत्ति में पड़ जाय, तो उसके भाव का नाश हो जाता है। अतः भोग से दूर रह कर प्रभु में पनपे उस विगाढ़भाव के पोषण द्वारा पूर्णविरह का अनुभव करने के लिये संन्यासनिर्णयग्रंथ में कहे प्रकार द्वारा परित्याग या संन्यास आवश्यक कहा गया है। अन्यथा तो यदि क्षणमात्र के लिये भी हृदय में प्रभु के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव पनप गया तो, भाव शिथिल हो जायेगा एवं विरह का अनुभव न होने से फल भी प्राप्त नहीं होगा। इसके पश्चात् जब पूर्ण विरह का अनुभव होने पर प्रेम की दसवीं अवस्था मृत्यु के द्वारा प्रभुसंबंध में प्रतिबन्धक बनी हुई इस लौकिकदेह की निवृत्ति एवं अलौकिकदेह की प्राप्ति द्वारा अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल का अनुभव होता है - यह पुष्टिमार्ग में अंगीकार होने के पश्चात् फलदान होने का प्रकार है। इसी कारण मर्यादामार्ग में "मेरे लिये धन, भोग सभी का परित्याग करे(श्री० भा० ११-१९-२३)" इत्यादि वाक्यों द्वारा भोग को मिटाने के लिये एवं भगवत्प्राप्ति के लिये सभी कुछ भगवान को समर्पित करने वाला त्याग ही कहा है , सब कुछ त्याग करके संन्यास ले लेने का प्रकार नहीं। क्योंकि संन्यास लेने के पश्चात् भले ही उसका भाव पुष्ट हो गया हो, तथापि संन्यास लेने के पश्चात् भी यदि लौकिक वस्तुओं से उसका संग हो गया तो उसका बना-बनाया भाव भी भंग हो जायेगा-इस प्रकार से संन्यासनिर्णय ग्रंथ में आचार्यचरणों ने साधन अवस्था में संन्यास को बाधक बताया है। अतः कलिकाल में संन्यास तो पश्चात्ताप के लिये ही करना चाहिए - इस वाक्य द्वारा कलिकाल में संन्यास का निषेध भी आपश्री ने कह ही दिया है। और यह भी है कि, इसी एकादशस्कंध में उद्धवजी ने भगवान से उनकी प्रसादी वस्तुएँ ग्रहण करने की बात कही है(देखें ११-६-४६)तो यदि संन्यास लेंगे तो सेवा करके प्रभु की प्रसादी वस्तु भी कैसे ग्रहण कर पायेंगे ? संन्यास तो तभी लेना ठीक है , जब हृदय में वैसी व्यसनात्मिका भक्ति उत्पन्न हो जाय। सं०नि० में कहे "भक्तिमार्गीय संन्यास ही लेना चाहिए(२२)" इस श्लोकानुसार ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग में कहे दो प्रकार के संन्यास हैं अतः इन दोनों मार्गों में कहा परित्याग भी अलग-अलग है, सो अतः यहाँ किसी भी प्रकार का कोई विरोध नहीं है।

एवं मार्गत्रयसेवाफलभेदं त्यागभेदं च निरूप्योपसंहरन्ति अवश्येयमिति।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः॥ ६॥

इयं पूर्वोक्ता त्यागपूर्वनिरूपिका मदुक्तिः अवश्या भाव्या, सर्वथा सदा, भाव्या कर्तव्या। अथवा अवश्या यद्यपि स्ववशेन कर्तुं न शक्यापि तथापि भाव्या, भावयितुं मनसि चिन्तयितुं योग्या। तत एव सर्वं भविष्यतीति सर्वथा कर्तृत्वमुक्तम्। आवश्यककरणे हेतुः एतदन्यत् सर्वं मनोभ्रम एव न तु फलम्। मदुक्तप्रकारातिरिक्तकरणे सर्वोत्कृष्टफलाभावो न, प्रत्युत मनसो भ्रम एवेत्यर्थः।

इस प्रकार पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा इन तीन मार्गों की सेवा के फल का भेद एवं त्याग करने का भेद भी निरूपित करके अब आचार्यचरण **अवश्येयं** इत्यादि शब्दों से इस ग्रंथ का उपसंहार कर रहे हैं।

आचार्यचरण कहते हैं **इयं** ; अर्थात् - मैंने जो पूर्व में त्याग के विषय में कहा , **सदा** उसकी भावना अवश्य करें। अथवा तो **अवश्या** का अर्थ यों कर लें कि , आपश्री आज्ञा कर रहे हैं - यद्यपि मेरा कहा करना जीव के वश में नहीं तथापि भावना करें या मन में चिंतन करें। आपश्री कहते हैं - मेरे कहे का चिंतन करते रहने से ही सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा अतः सर्वथा करें ही। चिंतन की आवश्यकता का कारण बताते हुए आपश्री कहते हैं - मेरे कहे के अतिरिक्त अन्य सभी कुछ मन का भ्रम ही है , फल नहीं। आपश्री आज्ञा करते हैं - मेरे कहे के अतिरिक्त अन्य कुछ और करने जायेंगे तो सर्वोत्कृष्ट फल तो प्राप्त नहीं ही होगा, और उल्टे इसे मन का भ्रम ही कहा जायेगा- यह अर्थ है।

ननु कथं भ्रमः ? सर्वैः तदेव क्रियते तत्राहुः **तदीयैरपीति**।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।
गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥ ७॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुपद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥ ॥

तदीयैः पुष्टिमार्गातिरिक्तजीवैः भ्रमसम्बन्धिभिरपि **कार्यं तदेव**, सर्वत्यागपूर्वकं मदुक्तरीत्यैव भजनं कार्यम्। न क्रियते चेत् तदा अज्ञानाद्भ्रम एव, न तु फलम्। यदि तदीयैरपि तदेव कार्यं तदा यः पुष्टौ स्थितः कोपि मदुक्तप्रकारसेवाकरणजनितप्रेमासक्ति-व्यसनादिभाववान् स तु विशेषतः क्षणमात्रमपि न विलम्बयेत् , मदुक्तकरणे विलम्बं न कुर्यात्। यदि विलम्बयेत् तदा पुष्टिभावान्तरत्यागाभावे विजातीयसङ्गेनभावशैथिल्यात् फलाभाव एव भवेदित्यर्थः। यतस्तादृशस्य स्वरूपव्यतिरिक्तवस्तुमात्रस्मरणस्यापि फलप्रतिबन्धकत्वम्।

किंतु किसी पूर्वपक्षी को प्रश्न यह होता है कि, आचार्यचरणों के कहे से अतिरिक्त करने को भ्रम कैसे कहा जा सकता है ? सामान्यतया सभी लोग आचार्यचरणों के कहे से कुछ अलग ही तो कर रहे हैं ? तो इसका उत्तर आपश्री अग्रिम कारिका से कह रहे हैं।

इस कारिका में **तदीयैः** शब्द का अर्थ है - पुष्टिमार्ग से भिन्न वे जीव, जिनको भ्रम हो गया है। आपश्री आज्ञा करते हैं - ऐसे तदीय-भ्रमित जीवों को भी समस्त वस्तु का त्याग करके मेरे कहे अनुसार ही भजन करना चाहिए। यदि वे मेरे कहे अनुसार नहीं करते , तो अज्ञानवश ये उनका भ्रम ही कहा जायेगा , उन्हें फल प्राप्त नहीं होगा। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, यदि तदीय-भ्रमित जीव को भी मेरे कहे अनुसार ही करना है, तो फिर जो स्वयं पुष्टिमार्ग में ही हैं एवं मेरे कहे अनुसार प्रेमासक्तिव्यसन आदि के भाव प्राप्त कर चुके हैं , उसे तो मेरे कहे का अनुसरण करने में क्षणमात्र का भी विलंब नहीं करना चाहिए। यदि पुष्टिमार्गीय विलंब करेगा अर्थात् पुष्टिमार्गीय भाव के अतिरिक्त अन्य दूसरे भावों का त्याग नहीं करेगा, तो अन्यमार्गीयों का संग करने से उसके भाव में शिथिलता आ जायेगी और इससे इस मार्ग में कहा फल उसे प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि ऐसे पुष्टिमार्गीय जीव को तो भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु मात्र का भी स्मरण उसके फल में प्रतिबन्धक है।

तदेवाहुः **गुणक्षोभेपीति**। अयं भावः। तादृशपुष्टिमार्गीयस्य व्यसनानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागे कृते स्वरूपसङ्गाभिलाषायाः प्राचुर्याद्विगाढभावेन देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि स्वरूपात्मकान्येव भवन्ति, यतः विकलत्वास्वास्थ्यादिकं निरन्तरं भवति तदा तादृग्दशायां मध्ये कदाचित्तस्य भगवल्लीलागुणादिस्फूर्तिर्न भवेत् , तदा मनःस्वास्थ्येन भावशैथिल्यात् स्वरूपान्तरायो भवेदित्येव गुणक्षोभः गुणैः कृत्वा मनःस्वास्थ्यरूपोऽविकारस्तस्मिन्नपि एतदेव द्रष्टव्यम् , फले प्रतिबन्धकमेव, द्रष्टव्यमितिपदं प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनोक्तम्। एतेन लीलागुणस्मरणस्य बाधकत्वं कथं वक्तुमुचितमित्याशङ्का निरस्ता। एतदेव सन्न्यासनिर्णये "ज्ञानं गुणाश्चे"ति बाधकत्वमुक्तम्। एवं सति यत्र स्वरूपगुणस्मरणेपि फलाभावः, तत्र गृहादीनां प्रतिबन्धकत्वेन त्यागविलम्बे फलाभाव इति किं वाच्यमिति भावः। अत एव सर्वथा भोगाभावस्त्याग एवेत्याशयेन विवृतावुक्तं **भोगाभावस्तदैवेति**।

यही बात आपश्री **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ भाव यह है कि, ऐसे पुष्टिमार्गीय को व्यसन होने के पश्चात् जब वह विरह का अनुभव करने के लिये त्याग करता है , तब भगवत्स्वरूप के संग की प्रचुर अभिलाषा से उसके हृदय में उत्पन्न हुए विगाढ़भाव से उसके देह-इंद्रिय-अन्तःकरण इत्यादि भगवत्स्वरूपात्मक ही हो जाते हैं। इसके पश्चात् भगवान

के दर्शन-श्रवण इत्यादि के लिये उसे निरंतर विकलता एवं अस्वस्थता अनुभूत होती है। ऐसे में यदि बीच में ही कदाचित् भगवद्-लीला, भगवद्गुण इत्यादि का क्रम टूट जाये तो, तो भगवद्विरह के कारण शनैः शनैः विकल एवं अस्वस्थ बन चुके मन को शांति मिल जायेगी और इससे उसका भाव शिथिल हो जायेगा। यदि वह निरंतर भगवद्-लीला एवं भगवद्-गुणगान इत्यादि में रत रहता तो कदाचित् मानसी सिद्ध हो गयी होती परंतु भाव शिथिल हो जाने के कारण भगवत्स्वरूप प्राप्त होने में अन्तराय आ जाता है। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, इसी को गुणक्षोभ होना कहते हैं। यानि गुणों के कारण मन में यदि विकार न रहे *****(विकार का अर्थ है-विकलता या तापक्लेश ; और विकार न रहने का अर्थ है - प्रभु के लिये विकलता या तापक्लेश न होना। विकार का अर्थ प्रभु के लिये विकलता होनी है, यह बात श्रीभागवत के २-३-२४ के श्लोक में देखें)***** तो भी मेरे कहे अनुसार ही करना चाहिए नहीं तो फल में प्रतिबन्धक आयेगा ही। आपश्री आज्ञा करते हैं - **द्रष्टव्यम्** अर्थात् देख लीजिए। इसके द्वारा आपश्री अपने कहे में प्रत्यक्षप्रमाण दे रहे हैं। अतः उपर्युक्त कथनानुसार "भगवान की लीला एवं गुणों के स्मरण को बाधक कहना कैसे उचित ठहराया जा सकता है ?" यह शंका निरस्त हो गयी। यही बात संन्यासनिर्णय में "विरहदशा में प्रभु का ज्ञान एवं गुणों का स्मरण बाधक होता है(९)" इस वाक्य द्वारा बाधकरूप से बतायी गयी है। अब बताइये , जहाँ भगवत्स्वरूप के गुणों का स्मरण भी फल प्राप्त करने में बाधक है , वहाँ गृह आदि प्रतिबन्धक हैं या फिर इनके त्याग में विलंब करेंगे तो फलप्राप्त नहीं होगा - इसमें और क्या कहना शेष रह जाता है ? अतः ये समझ लीजिए कि पूरी तरह से भोगों से छुटकारा तो तब ही मिलेगा, जब गृहत्याग करेंगे - इस आशय से आपश्री विवरण में **भोगाभावस्तदैव** यों कह रहे हैं।

अत्र प्रमाणं मे मतिरिति। स्वस्यैव तादृक्प्रकारकानुभवात् स्वमतिरेवोक्ता। यदि मन्मतिप्रमाणत्वेन य एवं करिष्यति तर्हि तस्य सर्वं सुष्ठु एव भविष्यतीति भावः। अकरणे बाधकमाहुः कुसृष्टिरिति। अत्र एतत्प्रकारकसेवाफलनिरूपणरूपमदुक्तौ कथं किमित्यादिरूपा कुसृष्टिश्चेदुत्पद्येत वै निश्चयेन स भ्रम एवेति सा न कार्येत्यर्थः। करणे सर्वस्वहानिरेवेति निश्चयः॥ ७॥

इसमें प्रमाण आपश्री मे मतिः (ये मेरा मानना है) इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। स्वयं आपश्री को ही अपने कहे का अनुभव है अतः आपने अपनी मति की बात कही है। आपश्री का भाव यह है कि , यदि मेरे कहे को प्रमाण मान कर तदनुसार करोगे, तो सभी कुछ सुंदर ही होगा। जो आचार्यचरणों के कहे अनुसार नहीं करते, उसे बाधक बताते हुए आपश्री कुसृष्टिः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - मैंने इस प्रकार से जो सेवाफल का निरूपण किया है, तो मेरे कहे में यदि "कैसे ? क्या ?" इत्यादि कुसृष्टि उत्पन्न होती है तो निश्चितरूप से वह भ्रम ही है अतः मन में ऐसी कुसृष्टि न पालें। यदि पालेंगे तो सर्वस्व ही हानि है , यह निश्चित है॥ ७॥

एतद्विवृतेरर्थौ यद्यपि विवृतौ महच्चरणैः।
तदपि तदेव हि गूढं दृष्ट्वा भावः स्फुटीकृतः कृपया॥ १॥
सोपि तथेतरथा वा नो जाने सद्भिरीक्षणीयस्तत्।
कृपया च मार्जनीयस्तेन ततोहं विभूषणीयश्च॥ २॥
श्रीमदाचार्यचरणे सरोजे मानसे मम। तिष्ठतां विकचे नित्यं तत्प्रभावोत्र भानुना॥ ३॥
इतिश्रीमदाचार्यकृतसेवाफलनिरूपणविवृतौ टिप्पणी समाप्ता॥

यद्यपि आचार्यचरणों ने इस सेवाफलग्रंथ की विवृति की है
फिर भी उसे गूढ़ जानकर मैंने आपकी कृपा से उनके भाव स्पष्ट किये हैं॥ १॥
मेरी विवृति भी उचित है या अनुचित मैं नहीं जानता अतः सज्जन कृपा करके
इसे परखें, शुद्ध करें एवं मुझे कृतार्थ करें॥ २॥
सूर्यरूपी भगवान के प्रभाव से खिले हुए श्रीमदाचार्यचरणरूपी कमल मेरे मन में विराजें॥ ३॥
यह श्रीमदाचार्यकृत सेवाफलनिरूपण की विवृति की टिप्पणी समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम् विवृतिसमेतम्। १

⁂

नैसर्गिकी मधुभिदश्चरणस्य सेवा जीवस्य तत्र सुतरां हरिमार्गलिप्सोः।
बुध्येत नो विघटनं च फलं यदास्यां नो सेवनाग्रथनमत्र तदर्थमिष्टम्॥ १॥
वह्निर्बभूव जगतो हितकारणाय पारीक्षितस्य विवृतिं पदशश्चकार।
यः सूत्रयोर्निगमसंशयबाधनाय संक्षिप्य च प्रकरणानि नुमस्तमीशम्॥ २॥

मधुभिद-प्रभु की सेवा जीव के लिये नैसर्गिकी है, वह भी उन्हें, जिन्हें हरिमार्ग की लिप्सा है।
वे जीव सेवा के प्रतिबन्ध एवं फल नहीं जानते, इसलिये श्रीमदाचार्य ने सेवाफलग्रंथ की रचना की है॥ १॥
जगत का हित करने के लिये वह्निरूप से प्रकट होकर जिन्होंने भागवत की पदशः विवृति की,
एवं निगम(वेद)के संशयों का निवारण करने के लिये जिन्होंने ब्रह्मसूत्र एवं जैमिनीसूत्र के प्रकरण को संक्षिप्त करके विवृति की,
उन ईश श्रीमदाचार्य मैं नमन करता हूँ॥२॥

सिद्धान्तमुक्तावल्यादिभूयस्सु निबन्धेषु सेवाया उक्तत्वेपि तत्फलानां प्रतिबन्धानां चेतस्ततो विप्रकीर्णत्वेन तत उद्धर्तुमशक्तान् स्वान् संक्षिप्य तदुपदेष्टुं सेवाफलनिरूपणं प्रतिजानते **यादृशीत्यादि, नोच्यत** इति। तत्फलं तु श्रोत्रमुखीकरणं निरूप्यार्थस्य यावतः प्रतिज्ञोचिता, नत्वेकदेशस्येति तु न शंक्यम्। यतः फलमेव प्रधानं प्रतिबन्धकं तु तद्विघटकतया त्याजनार्थं निरूपितमिति तच्छेषस्य न पृथक्प्रतिज्ञानम् , स्वप्रधानत्वेनानिरूपणात्।

सिद्धांतमुक्तावली आदि अनेक ग्रंथों में आचार्यचरणों ने सेवा के विषय में बताया है तथापि सेवा के फल एवं प्रतिबन्ध की व्याख्या आपश्री के अनेक ग्रंथों में यत्र तत्र बिखरी हुई पड़ी है, जिनको वहाँ से ढूँढ निकालना एवं समझना निजजनों के लिये अशक्य है अतः उन्हें संक्षिप्त में बताने के लिये आचार्यचरण सेवाफलग्रंथ का निरूपण **यादृशी** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। वैसे शंका यह होती है कि, आपश्री यहाँ आरंभ में केवल फल ही बताने की प्रतिज्ञा क्यों कर रहे हैं ? आपश्री को उद्वेग-भोग-प्रतिबंध, उनके कारण इत्यादि समस्त वस्तुएँ बताने की भी प्रतिज्ञा करनी चाहिए थी, जिनका निरूपण आपश्री ने इस ग्रंथ में किया है , केवल सेवा के फल बताने की ही प्रतिज्ञा क्यों ? नहीं, ऐसी शंका मत करिए। क्योंकि फल ही प्रधान होता है और प्रतिबन्धक तो सेवा में बाधारूप होने के कारण त्याग करने के लिये होते हैं अतः प्रतिबन्धों का निरूपण करने की अलग से प्रतिज्ञा नहीं की है क्योंकि हमारे लिये मुख्य तो फल को जान लेना है।

फलमिति जात्यैकवचनम्। यादृशी यत्प्रकारिका उक्ता सिद्धान्तमुक्तावल्यादौ, अकरणे प्रत्यवायः प्रार्थः। स च "दृतय इवे"त्यादि निन्दया बोध्यः। तत्सिद्धौ तस्या यावज्जीवनिर्वाहे व्यसनरूपत्वसिद्धौ फलमुच्यते। फलं चात्र वक्ष्यमाणत्रयमेव बोद्धव्यम्। यत्तु सेवाया एव फलरूपत्वेन तत्फलकथनमनुपपन्नमित्याशंकनम् , तत्तु केवलपौष्टिकाभिप्रायेण, पुष्टिमर्यादास्थितस्य तु साधनरूपत्वमेव सेवायाः। न चैवं गौणत्वम्। पुरुषोत्तमस्यैव साध्यसाधनोभयरूपत्वात्। कर्तृतावच्छेदकमेव परं गौणम् , फलस्य मूले स्पष्टतयाऽकथनादुक्तं विवरणे सेवायां फलत्रयमिति।

वैसे यहाँ आचार्यचरणों ने सेवा के कुल तीन फल बताए हैं अतः "फल" शब्द उन्हें बहुवचन में लिखना चाहिए था, किंतु जाति-अर्थ में एकवचन का ही प्रयोग होता है अतः यहाँ एकवचन का प्रयोग है। **यादृशी सेवना** का अर्थ है - जिस प्रकार की सेवा सि०मु० आदि ग्रंथों में बतायी गयी , वह सेवा सिद्ध होने पर क्या फल होता है , यह कह रहे हैं। यदि वैसी सेवा नहीं करेंगे तो दोष लगेगा - यह "प्र" उपसर्ग का अर्थ है। आपश्री द्वारा बतायी सेवा न करनी उसी प्रकार निंदनीय है , जैसा कि भागवत में " भगवन् ! प्राणधारियों के जीवन की सफलता इसी में है कि आपका भजन करें। यदि नहीं करते तो उनका जीवन व्यर्थ है(१०-८७-१७)" इस वाक्य में कहा गया है। उस सेवा के सिद्ध होने का तात्पर्य यह है कि, सेवा जीवनपर्यंत करते रहनी और व्यसन सिद्ध

हो जाय, तब जो फल प्राप्त होता है वह कह रहे हैं। और फल तो तीन ही हैं, जो इस ग्रंथ में कहे गये हैं। पूर्वपक्षी का दृष्टिकोण यह है कि, आचार्यचरणों ने अपने पूर्व के ग्रंथों में सेवा को ही फल बताया है और यहाँ आपश्री सेवा का ही फल बता रहे हैं तो आपश्री का कथन अयुक्त लगता है। परंतु समझना चाहिए कि सेवा को फल तो शुद्धपुष्टिजीव के अभिप्राय से कहा गया है, पुष्टिमर्यादा के जीव की सेवा तो साधनरूप ही कही जाती है। इससे ये नहीं कि आप शुद्धपुष्टि की तुलना में पुष्टिमर्यादा को गौण समझने लगें क्योंकि सेवा में तो पुरुषोत्तम ही साध्य हैं और पुरुषोत्तम ही साधन। सेवा करने वाला ही मुख्य या गौण हो सकता है, सेवा नहीं। कारण कि मूलग्रंथ में आचार्यचरणों ने फल के विषय में स्पष्टतया नहीं कहा है अतः विवरण में आपश्री "सेवा में तीन फल हैं" यों कह रहे हैं।

अलौकिकसामर्थ्यं तु अपारतेजसः फलदित्सायां सलीलस्य हृदि प्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम्। अत्रानुभवश्च मनसा तदध्यक्षीकरणम्। न चैतदेतच्छरीरेण संभवति, "अप्राप्य मनसा सहे"ति वचनात्। तदर्थं च तद्भोगयोग्यत्वमलौकिकत्वं मृग्यम्। तच्च संघाते अलौकिकसंघातस्य विज्ञाने चानन्दमयस्य प्रवेशात् स्पर्शसंबन्धेऽयसश्चामीकरत्वमिव सम्पद्यते। एतच्च प्रभ्वेकसंपाद्यमित्याहुः **अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येद् मनोरथ इति।** चस्त्वर्थे। हि युक्तश्चायमर्थः। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतेः।

भगवान जब फलदान करने की इच्छा करें, तब अपार तेज से युक्त लीलासहित प्रभु जब जीव के हृदय में प्रवेश करते हैं तब उनका अनुभव कर पाना अलौकिकसामर्थ्य है। अनुभव करने का तात्पर्य है, मन से प्रभु को देखना। अब भगवान को मन से देख पाना तो इस लौकिक शरीर के बस की बात नहीं है क्योंकि श्रुति में भी "मनसहित वाणी भी ब्रह्म को पा नहीं सकती और वापस लौट आती हैं(तै०उ० २-९-१)" यह कहा गया है। अतः ऐसे अलौकिकप्रभु का भोग करने के लिये अलौकिकता की आवश्यकता होती है। और अलौकिकता तो तब आती है जब इस लौकिक शरीर में एक अलौकिक संघात एवं आनन्दमय प्रभु का प्रवेश होता है ; ठीक वैसे ही जैसे लोहे को सोना बना दिया जाय। यह सब केवल प्रभु ही संपादित कर सकते हैं इसलिये आचार्यचरणों ने कहा - भगवान जब अलौकिक का दान करते हैं तब आद्य मनोरथ सिद्ध होता है। **च** शब्द "तो" के अर्थ में है। **हि** शब्द ऊपर कहे वाक्य को युक्त बताने के लिये प्रयुक्त हुआ है क्योंकि "परमात्मा जिसका वरण करते हैं, उसी को प्राप्त होते हैं(मुं० उ० ३-२-३)" इस श्रुति में यह कहा गया है कि , जीव के परिश्रम करने से कुछ नहीं होता अपितु भगवान जिसका चुनाव करते हैं वही भगवान को प्राप्त कर सकता है।

"तमेव विदित्वे"ति तु मार्यादिकस्य। तथा चोक्तम् "गतेरर्थवत्त्वमुभयथा अन्यथा हि विरोध" इति।

किंतु यदि आप यह कहें कि "जीव परमात्मा को जान ले तभी मृत्यु से पार हो सकता है , अन्य कोई भी रास्ता नहीं है(पु०सू०-८)" इस श्रुति में तो जीव के लिये प्रयास करना कहा गया है कि, वह परमात्मा को जानने का प्रयत्न करे ; फिर ये क्यों कहा जा रहा है कि जीव के प्रयास करने से कुछ नहीं होता ? तो इसके समाधान में यह समझिए कि यह बात मर्यादामार्ग में कही बात है। यही बात "गतेरर्थवत्त्वम्(ब्र०सू० ३-३-२९)" इस सूत्र में कही गयी है।

सायुज्यं त्वन्तर्गृहगतानामिव मध्यमं फलम्। तच्च द्विविधम्। बाह्यमाभ्यान्तरं च। बाह्यमलौकिकशरीरप्राप्तिरूपम् , आन्तरं तु व्युच्चरणसामयिकपरिच्छिन्नानन्दादिमत्त्वेन अणुत्वेन च विशिष्टस्य ब्रह्मणि लयः। अत एव च निरस्तधर्मस्य ब्रह्मणि लयरूपात् कैवल्याद्भेदः। न च भक्तस्य न लयः। ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयादिति भाष्योक्तेः। एतच्च "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह" , "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति वाक्याभ्यां गम्यते।

दूसरा फल सायुज्य तो अन्तर्गृहगता गोपिकाओं की भाँति मध्यमफल है। सायुज्य दो प्रकार का होता है- बाह्य एवं आभ्यान्तर। बाह्य सायुज्य का अर्थ तो अलौकिकशरीर की प्राप्ति होनी है। आन्तर वाले सायुज्य का अर्थ है - जैसे अग्नि से चिंगारियाँ अलग होती हैं, वैसे जब जीव ब्रह्म में से अलग हुआ तब उसके पश्चात् सीमित आनन्दवाले एवं अणुरूपजीव का पुनः ब्रह्म में लय हो जाना। ऐसे प्रकार से जो ये जीव का ब्रह्म में लय हो जाना है, यह कैवल्य (ज्ञानियों का मोक्ष) में बताये गये समस्त धर्मों को छोड़कर ब्रह्म में लय हो जानेवाले लय से अलग है। ***** (कैवल्य का अर्थ होता है - मोक्ष। अर्थात् इस मोक्ष में केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता रह जाती है और जीव ब्रह्मरूप हो जाता है, जीव की अपनी सत्ता नष्ट हो जाती है। केवलाद्वैत या ज्ञानमार्ग में कहे गये लय या मोक्ष में जीव में कोई धर्म नहीं रहते, न सीमित आनन्द रहता है न जीव का अणुरूप होता है। केवल आत्मा रहता है।)***** ऐसा मत सोचिए कि ब्रह्म में लय तो केवल आत्मा का ही होता है, भक्त का लय नहीं हो सकता। क्योंकि आचार्यचरणा

ने भाष्य में कहा है कि, ज्ञानियों का अक्षरब्रह्म में एवं भक्त का पुरुषोत्तम में लय होता है। (तात्पर्य यह कि ज्ञानियों का लय धर्मरहित होकर होगा अर्थात् आनन्दरहित एवं अणुरूपरहित होकर लय होगा, जबकि आचार्यचरणों के इस वाक्यानुसार भक्त का सीमित आनन्द एवं अणुरूप के संग लय होगा , यह अर्थ है।) यही बात "परब्रह्म को जान लेने वाला जीव ब्रह्म के संग समस्त अलौकिकभोग करता है (तै०उ० २-१)" , "निरञ्जनः(अथर्ववेद)" इत्यादि वाक्यों में कही गयी है।

परं ब्रह्मोपैति तदनन्तरं साम्यमुपैतीति वाक्ययोजनां कृत्वाशेषैर्ब्राह्मैः कतिपयैर्वेति संदिह्य "न तत्सम" इति निषेधादशेषैः साम्यासंभवात् कतिपयैरेव साम्यं निश्चित्य, न च कतिपयैरपि धर्मैर्जायमानं साम्यं तदभेदगमकमित्यर्थे "कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदि"ति सूत्रावयवयोजनायामान्तरसायुज्यस्य "हानौ तूपायन"सूत्रभाष्य एव स्पष्टत्वात्।

इस श्रुति की वाक्ययोजना इस प्रकार है - "जीव पहले ब्रह्म की प्राप्ति करता है, फिर इसके पश्चात् ब्रह्म की समानता प्राप्त करता है" इस प्रकार से करके यह विचार किया गया है कि, वह संपूर्ण धर्मों के संग ब्रह्म में विलीन होता है या के फिर कुछ गिने चुने धर्मों के साथ ? इस संदेह पर विचार करते हुए फिर वहाँ "ब्रह्म के समान तो कोई हो ही नहीं सकता" इस वाक्य का उदाहरण देते हुए ये निश्चित किया गया कि , जीव संपूर्णधर्मों के संग तो ब्रह्म में विलीन नहीं हो सकता, हाँ..... ब्रह्म के कुछ एक धर्मों से उसकी समानता हो सकती है। पुनः वहाँ शंका की गयी कि, कुछ एक धर्मों से भी जीव की यदि ब्रह्म से समानता हो गयी तो फिर जीव और ब्रह्म में भेद कहाँ रहा, अभेद ही तो रहा(अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही तो हो गये, अलग नहीं रहे) ?। अतः फिर इस शंका समाधान करते हुए आन्तरसायुज्य को "हानौ तु(ब्र०सू० ३-३-२६)" इस सूत्र के भाष्य में ही आचार्यचरणों ने स्पष्ट कर दिया गया है कि, जीव की ब्रह्म से पूरी की पूरी समानता नहीं हो सकती अतः जीव एवं ब्रह्म में भेद ही रहता है।

तृतीयं **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु**। सेवाया उप समीपे योगवत् शरीरप्राप्तिरूपम् , पक्ष्यादीनामिव। ननु प्रभ्वेकसंपाद्यपूर्वफलस्यान्यानधीनत्वेपि सायुज्यसेवोपयोगिदेहयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावान्तरफलयोस्तु ज्ञानादीनामिव कदाचिद् कालकर्मसाध्यत्वं भवेदिति नेत्याहुर्मूले **फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामक** इति। फलं सायुज्यं। अधिकारः सेवोपयोगिदेहः। अत्र एतदुभयोः कालो न नियामकः, फलदः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः।

तृतीय फल वैकुण्ठ में सेवोपयोगिदेह प्राप्त होनी है। इसका अर्थ है - वैकुण्ठ में भगवत्सेवा के समीप में जुड़नेवाला शरीर मिल जाना ; जैसे भगवद्-लीला में पशुपक्षी इत्यादि जुड़े रहते हैं। अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, पहला फल अलौकिकसामर्थ्य तो केवल प्रभु ही संपादित कर सकते हैं , यह फल अन्य किसी के अधीन नहीं है तथापि अन्य दो फल सायुज्य जो फलरूप हैं एवं सेवोपयोगिदेह जो अधिकाररूप है, ये दो फल क्या बिना भगवत्कृपा के क्या काल-कर्म से प्राप्त हो सकते हैं ? इस शंका का आचार्यचरण मूलग्रंथ में फलं वा इत्यादि शब्दों से निषेध कर रहे हैं।

इस कारिका में फल शब्द का अर्थ है - सायुज्य। अधिकार का अर्थ है - सेवा में उपयोगी देह मिलने का अधिकार। इन दोनों फलों में काल नियामक नहीं है, या यों समझें कि काल न तो फल दे सकता है और न ही फल में प्रतिबन्धक कर सकता है।

अत्र वाद्वयं फलतदधिकारयोरुभयोरपि भगवत्सक्षमत्वबोधनाय। यद्वा, वाद्वयं क्रियाक्षेपकं, फलं वा स्यादधिकारो वा स्यात्। कालेनेति नेत्याहु यतस्तयोरनियामक इति। अत्र एतयोः। उद्वेगः प्रतिबन्धो वेति वाक्यं विवृण्वन्ति **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति**। उद्वेगः सेवायां क्रियमाणायां मनोवृत्तेरस्थिरता। प्रतिबन्धभोगयोः प्रकारभेदानां बहुवक्तव्यत्वेन प्रथमतः सिद्धानां दोषाणां दुर्विनाश्यत्वात् त्रयाणां साधनेत्यादिना तत्सामग्रीत्यागमेवोपदिश्य पाठक्रममनपेक्ष्य चर्मोद्दिष्टमपि भोगं सन्निहिततरत्वेन लौकिकालौकिकभेदेन विभज्य "भोगो द्विविध" इत्यादिना लौकिकस्य त्याज्यत्वं "तत्र लौकिके"त्यादिना निर्दिश्य प्रतिबन्धद्वैविध्यं वक्तुं "प्रतिबन्धोपि द्विविध" इत्यादिना तत्स्वरूपं निर्दिश्य द्वयं विभजन्ते **साधारणो भगवत्कृतश्चेति**। तत्र साधारणो दुर्दृष्टजन्यः, भगवत्कृतस्तु उत्तमं मार्गं दृष्ट्वा संगतः प्रवृत्तासुरमात्रविषयकः। न च तादृशस्य नात्र प्रवृत्तिरिति रागतः प्रवृत्तेरनिवार्यत्वात् भगवत्कृतस्याग्रे वक्तव्यत्वात् तत्स्वरूपमात्रं निर्दिश्य साधारणमाद्यपदेनोल्लिख्य बुद्ध्या त्याज्य इत्याहुः।

इस कारिका में वा शब्द यह बतलाता है कि, सेवा के फल एवं अधिकार दोनों को देने में भी भगवान ही सक्षम हैं। या तो ये समझ लीजिए कि "वा" शब्द क्रिया को ले आया है अर्थात् श्लोक ऐसे बनेगा कि - या तो फल होता है या फिर अधिकार प्राप्त होता है। "काल से नियामक नहीं है" का अर्थ है - फल एवं अधिकार में काल नियामक नहीं है। मूल में कहे उद्वेगः प्रतिबन्धो वा

इत्यादि वाक्यों का विवरण आचार्यचरण **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। उद्वेग का अर्थ है - सेवा करते समय मनोवृत्ति की अस्थिरता। प्रतिबन्ध एवं भोग के अनेक प्रकार हो सकते हैं और जो दोष पहले ही घर कर चुके हैं, उन्हें मिटाना तो संभव नहीं है अतः अतः आचार्यचरण **त्रयाणां साधन** इत्यादि शब्दों से उद्वेग, प्रतिबन्ध एवं भोग जिन कारणों से होते हों, उन कारणों को ही समूल नष्ट कर देने का उपदेश करते हुए मूलपाठ में कहे क्रम से न कहते हुए अंत में बताये प्रतिबन्ध भोग की चर्चा कर रहे हैं। यद्यपि मूलविवरण में भोग का नाम सबसे अंत में आया है तथापि भोग में पड़ जाना तो बड़ी सरल बात है अतः सबसे पहले लौकिक-अलौकिक के भेद से भोग को दो भागों में बाँटकर "भोग दो प्रकार के हैं" इत्यादि शब्दों से आचार्यचरण पहले भोग की चर्चा कर रहे हैं। इसमें "लौकिकभोग का त्याग करें" इस प्रकार से निर्देशित करके आगे आपश्री ने दो प्रकार के प्रतिबन्ध भी बताये हैं। इन दो प्रतिबन्धों को आपश्री ने दो भागों में विभक्त किया है - साधारणप्रतिबन्ध एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध। इसमें साधारण प्रतिबन्ध बुरे भाग्य के कारण होता है। और भगवत्कृतप्रतिबन्ध उस आसुरीजीव को होता है, जो किसी का संग मिलने के कारण इस मार्ग को उत्तम समझकर इस मार्ग में आ गया हो। ऐसी शंका मत करिए कि यदि वो ऐसा आसुरी ही है, तो वह इस मार्ग में आया ही कैसे ? क्योंकि किसी के राग(संग से या सत्संग से) से वशीभूत होकर प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति की प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सकता। भगवत्कृतप्रतिबन्ध की चर्चा तो अभी आगे आनी बाकी है अतः इस स्थल तक तो आपश्री ने प्रतिबन्धों का मात्र स्वरूप बता कर और साधारणप्रतिबन्ध को "आद्यप्रतिबन्ध" पद से लिखकर आचार्यचरणों ने उसे बुद्धिचातुर्य से दूर करना बताया।

आद्यत्वं तु प्रतिबन्धक्रमे, बुद्धिस्तु सेवायामायतनस्य लौकिकवैदिकादेरनावश्यकस्याकरणम् , आवश्यकस्य तु अनवसरे प्राग्वा करणम्। **निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदे**त्यस्य व्याख्यानमलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति। अस्य व्याख्यानस्य व्याख्येयानुसारित्वाभावात् तदर्थमात्रप्रकाशकत्वाच्चादोषः। अक्षरार्थस्तु भोगो महान् स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति। स्वरूपं स्वरूपानन्दानुभवः। साधनं प्रभ्वनुग्रहः। विषयानन्दब्रह्मानन्दापेक्षया स्वरूपानन्दस्योत्कृष्टत्वात्। फलं तु "सोऽश्नुते" इत्यादि **प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले विशते**।

आद्य का अर्थ है - पहला प्रतिबन्ध। इस प्रतिबन्ध को बुद्धिपूर्वक दूर करने का तात्पर्य यह है कि, सेवा के समय आ पड़े लौकिकवैदिक आदि अनावश्यक कार्य न करना। और आवश्यक कार्यों को अनवसर काल में अथवा तो सेवा के पहले कर लेना। निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा इसका व्याख्यान आचार्यचरणों ने अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति इत्यादि शब्दों से किया है। वैसे आपश्री के इन **शब्दों से किया गया व्याख्यान निःप्रत्यूहं महान्** इत्यादि शब्दों से मेल नहीं खाता क्योंकि आप केवल यह कह रहे हैं कि ये अलौकिकभोग प्रथमफल में प्रवेश करता है ; जबकि आपश्री को ये बताना चाहिए था कि ये निःप्रत्यूह क्यों है ? और इसे महान क्यों कहा जाता है ? आदि आदि। ठीक है, कुछ भी हो, यहाँ केवल इतना समझ लें कि आचार्यचरणों ने भले ही पंक्ति को विस्तार से न समझाया हो, तथापि अंततोगत्वा अलौकिकभोग का क्या फल होगा यह तो सारांश में कह ही दिया है अतः यहाँ व्याख्यान ठीक ढंग से न करने जैसा कोई दोष लागू नहीं होता है। इस पंक्ति के अक्षरों का अर्थ समझना हो तो वह इस प्रकार से है कि- यह अलौकिकभोग स्वरूप से, फल से एवं साधन की दृष्टि से भी महान है। स्वरूप का अर्थ है - भगवान के स्वरूपानन्द का अनुभव। साधन का अर्थ है - प्रभु का अनुग्रह। विषयानन्द एवं ब्रह्मानन्द की तुलना में स्वरूपानन्द तो उत्कृष्ट है ही अतः महान् भोग स्वरूप एवं साधन दोनों दृष्टि से महान है। जहाँ तक फलदृष्टि से महान होने की बात है तो "परब्रह्म को जान लेने वाला जीव ब्रह्म के संग समस्त अलौकिकभोग करता है (तै०उ० २-१)" इस श्रुति के अनुसार महान अलौकिकभोग अलौकिकसामर्थ्यरूपफल के अंतर्गत आता है अर्थात् अलौकिकसामर्थ्य मिलने पर ही अलौकिकभोग प्राप्त होता है अतः यह फलदृष्टि से भी महान है।

निःप्रत्यूहं क्रियाविशेषणमेतत्। जायमान इति क्रियाध्याहर्तव्या। **विशतौ** विशेषणदानस्याप्रयोजकत्वात् तत्रापि विशेषणस्य संभवादर्थवत्ता, न च कश्चिद् व्यभिचारोस्ति। एतस्मिन् भोगे कालकर्मादीनामविद्रातकत्वात्। **अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्नही**त्यस्य व्याख्यानं **भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति**। अक्षरार्थस्तु भगवतश्चेत् फलदानमकर्तव्यं सर्वथा न तदा गतिः प्रभुप्राप्तिः। अकर्तव्यतानिर्धारस्तु निरन्तरं सेवां कुर्वाणस्याचिन्तितस्यापि लौकिकवैदिकादेर्मुहुरापतनात्।

निःप्रत्यूहं शब्द क्रिया का विशेषण है। तात्पर्य यह कि - महान भोग निष्कंटक होता है। ***** (क्रिया विशेषण का अर्थ समझें। जैसे कहा जाय कि -घोड़ा दौड़ता है। इस वाक्य में घोड़ा नाम है , और "दौड़ता है" यह क्रिया है क्योंकि इस वाक्य में दौड़ने की क्रिया बतायी गयी है। अब यदि इस वाक्य में एक शब्द और जोड़ दिया जाय कि - घोड़ा तेज दौड़ता है। तो "तेज" शब्द दौड़ने की क्रिया का विशेषण हुआ। क्योंकि तेज शब्द बताता है कि, घोड़ा कैसे दौड़ता है। इसी प्रकार जैसे कि आपश्री ने ऊपर की पंक्ति में कहा कि - अलौकिकभोग महान होता है। अब भोग क्यों महान होता है ? तो कहा कि - निःप्रत्यूह होने के कारण। तो "निःप्रत्यूह" शब्द "होता है" इस क्रिया का विशेषण हुआ) ***** "विशति" क्रिया में वैसे तो "निःप्रत्यूह" विशेषण देने की कोई आवश्यकता नहीं थी और आपश्री केवल इतना कह देते कि, अलौकिकभोग महान है और यह प्रथमफल में प्रवेश करता है तथापि आपश्री ने यह कहा है कि अलौकिकभोग निःप्रत्यूहरूप से प्रथमफल में प्रवेश करता है, तो इसका कुछ तात्पर्य है। और वह यह कि, आपश्री इसके द्वारा यह बताना चाहते हैं कि, अलौकिकभोग या प्रथमफल प्राप्त होने के पश्चात् फिर आगे वह बना रहता है, उसमें कोई बाधा नहीं आती, निष्कंटक रहता है। क्योंकि इस अलौकिकभोग को भोगने में काल-कर्म इत्यादि बाधा नहीं कर सकते। **अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा** इत्यादि शब्दों का व्याख्यान आचार्यचरणों ने **भगवत्कृतश्चेत्** इत्यादि शब्दों से किया है। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, भगवान यदि फलदान सर्वथा न करना चाहें, तो जीव की कोई गति नहीं है अर्थात् उसे प्रभुप्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान की अकर्तव्यता(फल न देने की इच्छा) का निर्धारण ऐसे होगा कि- निरंतर प्रभुसेवा करने वाले को न सोचा हुआ भी कोई लौकिकवैदिककार्य सिर पर आ गिरता हो तो समझिए कि भगवान को फल देने की इच्छा नहीं है।

ननु भगवत्सेवासिद्धौ इतरसेवा भगवत्प्राप्त्यर्था कर्तव्येत्याशंक्याहुर्विवरणे तदान्येति। भगवल्लक्षणफलस्येतरसाधनासाध्यत्वेन अनुग्रहमात्रसाध्यत्वेन च सेवायां प्रतिबन्धकरणादनुग्रहानिश्चयेन तत्साधनार्थं प्रयासस्य तदसाधकत्वात् व्यर्थतेत्याशयः। अत एवोक्तमासुरोयं जीव इति निर्धार इति। यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतमेतस्य विवरणं तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति। विवेक इति। ज्ञानमार्गश्च जीवब्रह्मणोरभेदज्ञानं जगन्मिथ्यात्वज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रफलभोगविराग इत्यादिः। सांख्येन योगेन वा सिद्धिः, नौपनिषदः, तस्मिंस्तस्यानधिकारित्वात्।

प्रश्न यह है कि, मान लो इस प्रकार भगवान के फल न देने के कारण भगवत्सेवा निभ ही न पाती हो, तो कोई ये सोच ले कि , चलो भगवत्प्राप्ति के लिये कोई अन्यसेवा ही कर लें , तो आचार्यचरण विवरण में इस प्रश्न का स्पष्टीकरण **तदान्येति** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। क्योंकि जिस फल को केवल भगवान ही दे सकते हैं, वह फल अन्य दूसरे साधनों से प्राप्त नहीं हो सकता, केवल भगवान के अनुग्रह से प्राप्त हो सकता है। और यदि आपकी सेवा में ही भगवान प्रतिबन्ध उत्पन्न कर रहे हैं तो समझिए कि भगवान आप पर अनुग्रह करना नहीं चाहते अतः उस सेवा का फल प्राप्त करने का प्रयास भी किया जाय, तो वह भगवान के अनुग्रह को सिद्ध नहीं कर सकता अतः व्यर्थ ही है। इसी कारण आपश्री आज्ञा करते हैं -ऐसी परिस्थिति खड़ी होने पर मन में यह निश्चय कर लेना चाहिए, मेरा जीव आसुरी है। आपश्री ने **यथा वा** इत्यादि शब्दों का विवरण **तदा ज्ञानमार्गेण** इत्यादि शब्दों से किया है। जीव एवं ब्रह्म में कोई भेद न समझना , जगत् को मिथ्या मानना , नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक रखना, लौकिक-अलौकिकफल के भोग में विरक्त रहना इत्यादि ज्ञानमार्ग के लक्षण हैं। अथवा तो सांख्य या योग से सिद्धि हो सकती है। किंतु उपनिषद्-ज्ञानमार्ग से नहीं क्योंकि उपनिषद्-मार्ग में ऐसे आसुरीजीव का अधिकार नहीं है।

मूले वा शब्दोनादरे। इतोपि न ज्ञानमार्गीयामुक्तिरपि तु शोकाभाव एवेत्याहुः शोकाभावायेतिपदेन। कथमेवमिति चेत् , निबन्धायासुरी मतेति वाक्यादिति गृहाण।

मूल में कहा गया "वा" शब्द अनादर अर्थ में ह ***** (अर्थात् वा शब्द विकल्प का द्योतक है और विकल्प तभी लिया जाता है जब मुख्यपक्ष ग्रहण करना संभव न होता हो। यहाँ मुख्यपक्ष तो भगवत्सेवा ही है परंतु आसुरी होने के कारण उसे फल नहीं मिल रहा है अतः उसे विकल्प के रूप में न चाहते हुए भी ज्ञानमार्ग पर अवलंबित होना पड़ रहा है। वा शब्द इसी अर्थ को बता रहा है) *****। परंतु ज्ञानमार्ग पर चलने से भी कोई मुक्ति होने वाली नहीं है अपितु अपने आसुरी होने एवं सेवाफल प्राप्त न होने के शोक को दूर करने के लिये ज्ञानमार्ग पर चलना कहा है। इसी कारण आपश्री आज्ञा करते हैं - अपने शोक को करने के लिये ज्ञानमार्ग अपना लेना चाहिए। आसुरीजीवों की मुक्ति क्यों नहीं होगी ? तो जैसे गीता में भी भगवान ने कहा

है कि "दैवीजीव मोक्ष के लिये और आसुरीजीव संसार में बँधे रहने के लिये हैं (भ०गी० १६-५) अतः इस वाक्यानुसार आसुरीजीवों की मुक्ति नहीं होगी।

भगवदर्थिनः **फलस्यैव निरूपणमुचितम् , न प्रतिबन्धनिरूपणमित्याशंक्य त्यागार्थमेतन्निरूपितमित्याहुर्बाधकानां परित्याग** इति। **परित्यागस्य** साधनपरित्यागरूपः पूर्वमेवोक्तः। **नन्वेवमलौकिकभोगस्यापि त्याज्यत्वमागतं, नेत्याहुर्भोगेप्येकं परं विहाय**। **तथेति त्याग इत्यर्थः**। बाधकानामिति वाक्यं **सुगमत्वादव्याख्याय** निष्प्रत्यूहमिति वाक्यस्य च अलौकिकभोगस्त्वित्यादिना **पूर्वमेतद्** व्याख्यातत्वात् तत्प्रतीकमपि अगृह्य सविघ्नोऽल्प इति वाक्यं व्याख्यातुमाभासयन्ति साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहेति **सविघ्नोल्पो घातकः स्यादितीति** प्रतीकग्रहणम्। तदर्थस्तु **सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य** इति। **बलादेतौ सदा माताविति वाक्यव्याख्यानं एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति। एतौ लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविघ्नत्वाल्पत्वघातकत्वादिभिर्हेयतावच्छेदकरूपावुक्तौ।**

किंतु प्रश्न ये होता है कि, भगवान की कामना रखने वालों के लिये आचार्यचरण यदि फल के बारे में ही बताते तो उचित था, व्यर्थ में प्रतिबन्धों की चर्चा करने से क्या लाभ होना है ? इसके समाधान में यह समझिए कि आपश्री ने त्याग करने के लिये इन्हें विस्तार से बताया है और इनके परित्याग का अर्थ है - ये जिससे होते हों, उन कारणों का ही परित्याग कर देना। किंतु समस्त बाधकों का ही त्याग कह देने से अलौकिकभोग का भी त्याग कर देने का अर्थ हो जाता है अतः आपश्री अलौकिकभोग को न त्यागने के लिये कहते हैं - दो प्रकार के भोगों में से एक त्याग दें , दूसरा नहीं। आचार्यचरणों ने सोचा कि बाधकानां ये वाक्य तो समझने में सरल है अतः उन्होंने इसकी व्याख्या नहीं की। और **निष्प्रत्यूहं** इस वाक्य की व्याख्या तो आप अपने विवरण में **अलौकिकभोगस्तु** इत्यादि शब्दों से कर चुके हैं अतः यहाँ तो इस विषय में कुछ भी न कहते हुए सविघ्नोऽल्पो इस वाक्य की व्याख्या का आरंभ कर रहे हैं। साधारणभोग क्यों त्याग देना चाहिए ? इसके उत्तर में आपश्री आज्ञा करते हैं - साधारणभोग में विघ्न होते हैं एवं वह शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। **बलादेतौ सदा मतौ** इस वाक्य का व्याख्यान आपश्री ने **एतौ सदा प्रतिबन्धकौ** इस वाक्य द्वारा किया है। **एतौ** का अर्थ है - लौकिकभोग एवं **साधारणप्रतिबन्ध**। ये दोनों सविघ्न एवं घातक आदि होने के कारण आचार्यचरणों ने हेय बताये हैं।

द्वितीये सर्वं इति वाक्यं विवृण्वन्ति। द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति। **द्वितीयत्वं चात्र प्रतिबन्धक्रमेण बोद्धव्यम्। एवं द्वितीयपदमात्रं व्याख्याय कृत्स्नं वाक्यं व्याख्यातुमवतारयन्ति ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति। द्वितीय इतीति स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम्। भगवत्कृतप्रतिबन्धे जायमाने संसृतेरवश्यभावित्वेन फलान्तरस्यासंभवात् तद्विषयिणी चिन्ता नैव कर्तव्या, व्यर्थत्वादित्यर्थः। नन्वाद्ये दातृता नास्तीति वाक्यव्याख्यानमाद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति। मूले आद्यपदं प्रतिबन्धकत्रये आद्यपरम्। तथा चाद्ये उद्वेगे जायमाने सतीत्यर्थो बोध्यः।**

अब हम **द्वितीये सर्वं** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ द्वितीय शब्द का अर्थ है- प्रतिबन्ध गिनाने के क्रम में दूसरा प्रतिबन्ध अर्थात् भगवत्कृतप्रतिबन्ध। विवरण में आपश्री ने पहले केवल द्वितीय शब्द का अर्थ बता दिया और इसके पश्चात् पूरे वाक्य का अर्थ **ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं क्योंकि द्वितीय का अर्थ तो स्पष्ट ही है अतः आपश्री ने इसका विशेषरूप से व्याख्यान नहीं किया। उक्त वाक्य से आपश्री का तात्पर्य यह है कि जब भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होता है , तब संसार ही मिलने वाला होता है, कोई दूसरा फल नहीं अतः फलविषयक चिन्ता छोड़ देनी चाहिए क्योंकि वह व्यर्थ है। **नन्वाद्ये दातृता नास्ति** इस वाक्य का व्याख्यान आपश्री ने **आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति** इस वाक्य से किया है। मूलग्रंथ में जो आद्य पद कहा गया है , वह गिनाए गये तीन प्रतिबन्धों में से क्रमशः पहला प्रतिबन्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि, पहला प्रतिबन्ध यानि उद्वेग होने पर भगवान की दातृता नहीं होती।

विवृतौ तु आद्यफलाभाव इत्यत्र फलाभावपदयोः षष्ठीतत्पुरुषं विधाय समस्तस्य आद्यपदेन तृतीयातत्पुरुषो बोध्यः। आद्यफलस्य अभाव इति तु न भ्रमितव्यम्। फलाभावस्याप्रत्यक्षत्वेन दातृत्वाभावे लिंगत्वासंभवात्। तथा च सेवायां क्रियमाणायां मनस उद्वेगे जायमाने अमानसीत्वादनाधिदैविकीत्वसंपत्तौ भौतिक्याश्च फलाजनकत्वेन भगवतो दातृत्वाभावः स्पष्ट एव। प्रभोः क्व वा शक्तिर्मानसोद्वेगनिवारणे यतः। तदेवोक्तं विवरणे तदा सेवाऽनाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति।

आचार्यचरणों ने जो विवृति में "आद्यफलाभावे" कहा है , उसमें "फलाभाव" शब्द में षष्ठीतत्पुरुषसमास करके [illegible] "फलाभाव" शब्द में तृतीयातत्पुरुषसमास है , यह जानना चाहिए। अर्थात् आद्य + फलाभाव। अर्थात् आद्येन फलाभावः [illegible]

आद्य के द्वारा फलाभाव होना। फलाभाव शब्द में षष्ठीतत्पुरुषसमास करेंगे तो अर्थ बनेगा - फल का अभाव। एवं आद्य शब्द में तृतीयातत्पुरुषसमास करेंगे तो अर्थ बनेगा - “आद्य(उद्वेग) के कारण”। इन दोनों समासों के द्वारा कुलमिला कर अर्थ बनेगा - आद्य(उद्वेग)प्रतिबन्ध होने से फल का अभाव रहता है। परंतु भ्रमित होकर कहीं भूल कर भी “आद्यस्य फलस्य अभाव” यों अर्थ मत कर लेना क्योंकि तब उल्टा अर्थ ये बन जायेगा कि - आद्यफल(अर्थात् अलौकिक सामर्थ्य) का ही अभाव रहता है। *****

इस पंक्ति को एक उदाहरण द्वारा समझें। मान लें कि यदि दूर किसी पर्वत पर से धुआँ उठता दिखाई देता है ,तो हम उस धुएँ से यह अनुमान लगाते हैं कि पर्वत पर अवश्य अग्नि होगी। यद्यपि हमने उस अग्नि कि प्रत्यक्ष देखा नहीं है तथापि उस धुएँ को देखकर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि पर्वत पर अग्नि होगी। ठीक इसी प्रकार इस ग्रन्थ के विवरण में आचार्यचरणों की “आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति” इस पंक्ति को समझें। इस पंक्ति का अर्थ है - यदि आद्यफलाभाव है अर्थात् आद्यफल नहीं मिलता तो समझ जाईये या अनुमान लगा लीजिए कि भगवान को फल देने की इच्छा नहीं है। अब टीकाकार का कहना यह है कि, यहाँ “आद्यफलाभाव” शब्द का तात्पर्य “आद्यफल(अलौकिकसामर्थ्य)का अभाव” यों नहीं लेना चाहिए अपितु “आद्य(उद्वेग) के कारण फलाभाव होता है” यों लेना चाहिए। अर्थात् टीकाकार के मत में आद्य शब्द का अर्थ उद्वेग है एवं आद्यफलाभाव शब्द का तात्पर्य उद्वेग के कारण होनेवाला फलाभाव(फल का अभाव) है।

इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए उपर कहे पर्वत एवं धुएँ के दृष्टांत को समझें। उपर कहे दृष्टांत में मान लें कि, यदि धुएँ के स्थान पर हमें स्वयं हमारी आँखों से अग्नि ही दिखाई दे जाय तो क्या अग्नि की सत्यता प्रमाणित करने के लिये हमें फिर धुएँ की आवश्यकता पड़ेगी ? तात्पर्य यह कि जो वस्तु प्रत्यक्ष हमारी आँखों के सामने ही है , उसके लिये अनुमान लगाने की आवश्यकता ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार “आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति” इस पंक्ति का अर्थ यह है कि - “आद्यफलाभाव” से अनुमान लगायें कि भगवान को फलदान देने की इच्छा नहीं है।

अब सावधानीपूर्वक समझने का प्रयास करें कि यदि “आद्यफलाभाव” शब्द का अर्थ उद्वेग न लेकर उल्टा अलौकिकसामर्थ्य ले लिया जाय और अलौकिकसामर्थ्य न मिलने को भगवान की दातृता या भगवान को देने की इच्छा नहीं है , इस बात को समझने के लिये अनुमान के तौर पर प्रयोग कर लिया जाय, तो टीकाकार कहते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी की पंक्ति का अयोग्य अर्थघटन हो जायेगा। क्योंकि अनुमान तो तभी लगाया जाता है, जब कोई वस्तु आँखों से स्पष्ट न दिखाई दे रही हो। यदि मन में उद्वेग होने के कारण सेवा मानसी की कक्षा तक नहीं पहुँच रही है, तो इस बात से अपने आप ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान को फल देने की इच्छा नहीं है। अर्थात् जो आखों के सामने ही है, उस बात को प्रमाणित करने के लिये किसी अनुमान की आवश्यकता ही नहीं है। अतः समझिए कि अलौकिकसामर्थ्य का अभाव होना भगवान की दातृता न होने को समझने के लिये अनुमान नहीं बन सकता क्योंकि यह बात तो सेवा के मानसीकक्षा तक न पहुँचने की बात से ही स्पष्ट दिखाई दे रही है। इसलिये टीकाकार कहते हैं कि “आद्यफलाभाव” शब्द में आद्य का अर्थ अलौकिकसामर्थ्य करेंगे तो विवरण में आचार्यचरणों की “आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति” का योग्य अर्थ नहीं हो पायेगा अतः आद्यफलाभाव का अर्थ “आद्य(उद्वेग) के कारण फलाभाव होता है” इस प्रकार से ही लेना चाहिए।******

वह इसलिये क्योंकि सेवा करने की प्रक्रिया में मन में उद्वेग पैदा होने पर सेवा मानसी की कक्षा तक नहीं पहुँच पाती और अधिदैविकी नहीं बनती और तब सेवा केवल भौतिकी रह जाने के कारण फल न मिलने से यह स्पष्ट ही हो जाता है कि भगवान को फलदान करने की इच्छा नहीं है। अब जो बात स्पष्ट ही दिखाई दे रही है , उसके लिये अनुमान लगाने की क्या आवश्यकता है। क्योंकि किसी जीव के उद्वेग का निवारण करने में प्रभु को क्या शक्ति लगानी पड़ेगी? यह तो उनके बाएँ हाथ का खेल है। परंतु यदि नहीं करते तो समझ लीजिए कि वे फलदान करना नहीं चाहते। यही बात आपश्री ने विवरण में “भगवान जब प्रतिबन्ध करें तब सेवा आधिदैविकी नहीं बन पाती” इत्यादि वाक्यों से कही है।

तृतीये बाधकं गृहमिति वाक्यस्य आशयं विवेचयन्ति। **भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग** इति। तथा च **मूले प्रतिबन्धकतृतीयापेक्षं तृतीयपदं बोध्यम्। यदर्थमेतावन्निरूपितं तत्प्रयोजनमाहुरवश्येति। इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावश्या, न स्ववशा, भक्तिमार्गीयफलप्रतिबन्धनिवृत्त्योर्भगवदधीनत्वात् , तथापि निरन्तरं भाव्या फलप्रतिबन्धयोः संश्लेषासंश्लेषार्थम्।**

इसके पश्चात् आपश्री **तृतीये बाधकं** इत्यादि वाक्यों का आशय **भोगाभावस्तदैव** इत्यादि वाक्यों से कह रहे रहे हैं। मूल में कहे तृतीय पद को तीसरा प्रतिबन्ध(साधारण प्रतिबन्ध) का द्योतक जानना चाहिए। आपश्री ने इन प्रतिबन्धकों का विवरण जिस

लिये किया है , उसका प्रयोजन वे **अवश्येयं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री इससे आज्ञा करते हैं - हमारे बताए हुए ये तीन फल एवं तीन प्रतिबन्ध जीव के वश में नहीं हैं। वैसे तो भक्तिमार्गीय फल देना एवं प्रतिबन्धों का निवारण करना भगवान के अधीन है, तथापि सेवाफल को पाने एवं प्रतिबंधकों का निवारण करने के लिये इनका निरंतर चिंतन करते रहना चाहिए।

नन्वितोपि किञ्चित्फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गे स्यादिति नेत्याहुः **सर्वमन्यन्मनोभ्रम** इति। मोक्षपापादेः फलत्वप्रतिबन्धकत्वयोरसंभवादिति भावः। तथा च "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपी"ति "विकर्म यच्चोत्पतित"मिति च भक्तिमार्गीयस्यैतदेव फलम् , उत्तममध्यमसाधारणादिभेदेन। न च निरस्तसमस्तविशेषे कथं तारतम्यमिति वाच्यम्। एतद्विना लीलानुपपत्तेः। तथा चोक्तम् , "अहो मायागुणा विष्णोराकारश्चिच्छरीरता। निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि चोच्यते"। "मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त" इति च। स्पष्टं चैतदाकरे।

ठीक है , परंतु प्रश्न यह होता है कि कुल मिला कर फल एवं प्रतिबन्ध इतने ही हैं जितने इस ग्रंथ में गिनाए गये हैं या फिर इनके अतिरिक्त और भी हैं ? तो आपश्री नकारते हुए सर्वमन्यन्मनोभ्रमः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि इस ग्रंथ में कही बात के अतिरिक्त मोक्ष जैसा कोई फल या फिर पाप जैसा कोई प्रतिबन्ध होना असंभव है। अतः यही बात देखिए भागवत में भी "जो भगवान के शरणागत होते हैं , उन्हें स्वर्ग या नरक दोनों में भगवान के ही दर्शन होते हैं(६-१७-२८)" , "जो भक्त अनन्यभाव से भगवान का भजन करता है, उससे पापकर्म तो होते ही नहीं और यदि हो भी जाएँ तो भगवान हरि उसके हृदय में बैठकर उसे धो देते हैं(११-५-४२)" इत्यादि वाक्यों पता चलता है कि, उत्तम-मध्यम-साधारण भेद से भक्तिमार्गीय को वे ही फल प्राप्त होते हैं जो इस ग्रंथ में कहे गये हैं। किंतु यहाँ ये शंका मत करिए कि , जब भक्त को एक बार सेवा के फल प्राप्त हो गये, तो अब उनमें उत्तम-मध्यम-जघन्य की दृष्टि रखकर इन्हें ऊँचा-नीचा मानने की क्या आवश्यकता है ? नहीं, ये शंका मत करिये क्योंकि इसके बिना प्रभु की लीला ही नहीं चल पायेगी। जैसा कि "अहो मायागुणा" , "मुक्ता अपि लीलाविग्रहं" इत्यादि वाक्यों में कहा गया है जो मूलग्रंथ में स्पष्ट ही है।

प्रभुसमर्पितदेहादेः फलनैयत्यात् न तेनैतद्भाव्यमिति नेत्याहुः **तदीयैरपीति**। तत्प्रतिबन्धकत्रयस्य फलत्रयस्य च भावनं कार्यम् , पुष्टिमर्यादास्थस्य साधनद्वारैव फलनैयत्यात्। तथा चोक्तमाकरे "स चिरकालोक्तेत्यारभ्य सुधां ववर्ष तथैव सर्वत्र वर्षिष्यतीति न ज्ञातुं शक्यम् , अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां कर्तव्यत्वेन स्थेयमिति दिक्" इत्यन्तेन।

परंतु शंका यह है कि, जिसने अपने देह-अन्तःकरण आदि प्रभु को समर्पित कर दिये हों , उसे तो सेवा का फल मिलना निश्चित ही है अतः उसे इन फलप्रतिबन्धकों का चिंतन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसी शंका होती हो, तो आपश्री इसे नकारते हुए **तदीयैरपि** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि, उन्हें भी इनका चिंतन तो अवश्य ही करते रहना है क्योंकि पुष्टिमर्यादा वाले जीवों को तो सीधे-सीधे पुरुषोत्तम के स्वरूप द्वारा फलदान न होकर साधन द्वारा ही फलदान होना निश्चित है। यही बात "स चिरकालोक्तेत्यारभ्य सुधां" इस वाक्य द्वारा कही गयी है।

न चायं पुष्टिस्थ एवेति वाच्यम्। तस्य फलविलम्बासंभवादिति आहुः **पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति**। फलं प्रभुरिति शेषः। एवं सत्त्वरजस्तमसां परस्पराभिभवनोद्रेकनिमित्तमनःखेदेपि एतद्भावनमेव कर्तव्यम् , तत एव भगवत्परे चित्ते जायमाने मनःक्षोभनिवृत्तेः। क्षोभश्चायं फलविलंबादेव, नान्यस्मात्। अतस्तत्रापि नान्यत्साधनं, किन्त्वेतदेव कर्तव्यमित्याहुः **गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिरिति**।

अतः जिसको विलंब हो रहा है, उसके लिये यह कहना योग्य नहीं है कि, यह पुष्टिजीव है क्योंकि पुष्टिजीव को तो फलदान में विलंब होना संभव नहीं है अतः आपश्री कहते हैं - **पुष्टौ नैव विलम्बयेत्** अर्थात् पुष्टिमार्ग में प्रभु फलदान में विलंब नहीं करते। प्रकृति के सत्व-रज-तम इन तीन गुणों के कारण यदि मन में खेद होने पर भी फलप्रतिबन्धकों का चिंतन ही कर्तव्य है क्योंकि ऐसा करने से ही बाद में चित्त भगवत्पर होता है एवं मनःक्षोभ दूर होता है। मन में यदि क्षोभ भी हुआ है तो वह फलविलंब के कारण ही होता है, अन्य किसी कारण से नहीं। अतः क्षोभ होने पर भी अन्य कुछ भी नहीं परंतु चिंतन ही करना चाहिए - यह आपश्री **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

ननु भगवदीयत्वस्य फलावश्यंभावनियमात् फलविलम्बे च भगवदीयत्ववैयर्थ्यात् प्रतिबन्धानामसंभव एव, ततश्चैतन्निरूपणं व्यर्थमेवेति चेत् , इयं नाशंका, अपि तु सिद्धान्ताबोधजभ्रमजन्या कुसृष्टिरेवेत्याहुः **कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्यते स वै भ्रम** इति।

भ्रमत्वं तु स्वतन्त्रेच्छस्य प्रभोर्भक्तवैचित्र्यं विना लीलानुपपत्तेर्वैचित्र्यस्यावश्यवाच्यतया मर्यादापुष्टेरनपोद्यत्वात् तादृशभक्तस्य च प्रतिबन्धफलविलम्बानामपरिहार्यत्वात् तस्य तथा निरूपणमनुचितमिति कथनस्य सिद्धान्तानवबोधविजृंभितत्वात् पुष्टौ नैव विलम्बयेदित्यादिनोक्तोप्यर्थोवसरे स्मारितः।

वृष्ण्यन्ववायजलधिप्रविभूतचन्द्रश्चन्द्रावलीरमणकौशलमादधानः।
राधाननेन्दुसुषमामृतपानमत्तो नन्दात्मजो हृदि तमोहृतये स मेऽस्तु॥ १॥

इति श्रीसेवाफलटीका।

इसमें तात्पर्य यह है कि, यदि पूर्वपक्षी ये सोचे कि- भगवदीयजीव को तो फल मिलना ही है और यदि एक भगवदीय को फल मिलने में विलंब होता है तो उसका भगवदीय होना ही व्यर्थ हो गया अतः भगवदीय को तो प्रतिबन्ध होंगे ही नहीं ! सो व्यर्थ में प्रतिबन्धों या गुणक्षोभ होने की चर्चा करने से क्या लाभ ? तो हम इसमें ये कहेंगे कि, यह पूर्वपक्षी की केवल शंका मात्र ही नहीं है अपितु पुष्टिमार्ग का सिद्धांत न समझ पाने के कारण भ्रमवश एक कुसृष्टि ही है, जिसे आचार्यचरण **कुसृष्टिरत्र वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भ्रम इसलिये क्योंकि वह समझा ही नहीं है कि, अपनी स्वतंत्र इच्छा से कार्य करने वाले प्रभु की लीला भक्तों के उत्तम-मध्यम आदि भेद किये बिना तो चलेगी ही नहीं। मर्यादापुष्टि में भगवान जिस ढंग से फल देते हैं या प्रतिबन्ध करते हैं, उस प्रक्रिया को भी नकारा नहीं जा सकता। अतः मर्यादापुष्टि वाले भक्तों को तो ऊपर कहे प्रतिबन्ध एवं फल में होने वाले विलंब को तो झेलना ही होगा। अतः पूर्वपक्षी जो "आचार्यचरण का ऐसा निरूपण करना व्यर्थ है, वैसा निरूपण करना व्यर्थ है" इत्यादि कह कर चिल्ला रहा है, वह पुष्टिमार्ग के मूलभूत सिद्धांत को न समझ पाने के कारण ही है। वैसे आचार्यचरणों ने पहले भी कहा और अब भी कहा कि- पुष्टिजीव को फलदान करने में प्रभु विलंब नहीं करेंगे।

वृष्णिवंशरूपी सागर में प्रकट हुए चंद्र, जो चंद्रावली से रमन करने में कुशल है,
एवं राधा के मुखचंद्र की शोभारूप अमृत का पान करने में जो मत्त है, वह नंदपुत्र श्रीकृष्ण अंधकारविनाश हेतु मेरे हृदय में विराजे॥ १॥

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम्। २

※※※※※※

वल्लभाचार्यचरणाः प्रसीदन्तु सदा मयि। यदाश्रयकथामात्रेऽप्यखिलाः पुष्टिसिद्धयः॥ १॥
यद्यपीश्वरवाक्यार्थाः स्वतोऽज्ञेयास्तथाप्यहम्। सेवाफले टिप्पणं तत्कृपया वक्तुमुत्सहे॥ २॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यनिरूपितं सेवाफलाख्यं प्रकरणं तन्निरूपितयैव टीकया सहितं सुगमत्वाय विव्रियते। **यादृशीति**। यादृशी सेवा मया मुख्यसेवासाधनीभूता तनुवित्तजा सिद्धान्तमुक्तावल्यादिषु प्रकर्षेणोक्ता तस्याः सिद्धौ परिणामदशायां इहामुत्र च यत्फलं भवति तदुच्यते। अत्र फलमिति जात्यभिप्रायेणैकवचनम् , तेन फलत्रयमुक्तं भवति। तदेवोक्तं टीकायां सेवायां फलत्रयमित्यनेन।

यद्यपि ईश्वरवाक्यों का अर्थ स्वयं जाना नहीं जा सकता, तथापि आपकी कृपा द्वारा मैं सेवाफल की टिप्पणी करने को उत्साहित हूँ॥ २॥

अब मैं आचार्यचरणों द्वारा निरूपित सेवाफल नामक प्रकरण को उनके द्वारा निरूपित टीका के सहित सुगमता के लिये विवेचित कर रहा हूँ। पहले श्लोक में **यादृशी** शब्द से आचार्यचरणों का अर्थ है - जिस प्रकार से सिद्धांतमुक्तावली में मैंने मुख्यसेवा मानसी की साधनीभूत तनुवित्तजा सेवा विस्तार से बतायी है , उस सेवा के सिद्ध होने पर अर्थात् जब वह परिणाम देने की अवस्था में पहुँचा जाय तब लौकिक एवं अलौकिक में जीव को जो फल प्राप्त होता है , वह कह रहा हूँ। यहाँ फल शब्द जाति-अभिप्राय से एकवचन में है , तथापि सेवा में प्राप्त होने वाले कुल तीन फल इस ग्रंथ में कहे गये हैं। यही बात आपश्री ने टीका में "सेवा में तीन फल हैं" यों कही है।

नन्वेकस्या एव सेवाया विसदृशं फलत्रयं कथं भवितुमर्हतीति चेत् , इत्थम् , भगवानस्मिन् भक्तिमार्गे शुद्धपुष्टिमर्यादापुष्टिप्रवाहपुष्टिभेदेन भक्तानंगीकरोति। तत्र शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यप्रकटितत्वात् साक्षात्परम्पराभेदेन सद्यो विलम्बेन वा पुरुषोत्तमसम्बन्धावश्यंभावरूपः पुष्ट्यंशस्त्रिष्वप्यनुस्यूत एव। इतरावग्रे वक्ष्यमाणबाधकसम्भवान्यथापत्त्यवधेयौ फलत्रयकथनेन च। साधनफलयोस्त्रित्वे वस्तुतो

नियामिका विचित्रा तदिच्छैव। तथा च यं भक्तं यस्मिन्मार्गे भगवानंगीकरोति तस्मै तदनुसारेण फलं प्रयच्छतीति न काप्यत्रानुपपत्तिः।

यदि कोई ये पूछता हो कि एक ही सेवा के अलग-अलग तीन फल कैसे हो सकते हैं ? तो सुनिए। भगवान इस भक्तिमार्ग में जीव को शुद्धपुष्टि , मर्यादापुष्टि एवं प्रवाहपुष्टि यों तीन प्रकार से अंगीकार करते हैं। इनमें शुद्धपुष्टिमार्ग तो आचार्यचरणों ने प्रकट किया है अतः साक्षात् अथवा तो परंपरा से देर-सवेर पुरुषोत्तम से संबंध तो इन तीनों ही प्रकार की पुष्टि में होगा अतः फल यदि तीन प्रकार के होते हों, तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। पहले अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल में बाधक आ जाने के कारण बाकी बचे दो फल प्राप्त होते हैं, जिन बाधकों की चर्चा आपश्री ने आगे की है। साथ ही साथ आपश्री ने विवरण में सेवा के तीन फल होते हैं यह भी कहा है अतः इन सभी से ज्ञात होता है कि, सेवा में कुल तीन फल होते हैं। सेवा के साधन एवं फलों के तीन प्रकार तो वस्तुतः भगवान की अपनी अनोखी इच्छा से ही बने हैं। ऐसे में होगा यह कि , जिस भक्त को भगवान जिस मार्ग में अंगीकार करते हैं , उसे उस मार्ग के अनुसार ही फल देते हैं अतः यहाँ कोई भी विरोधाभास नहीं है।

अथ तत्त्रयं किंरूपमित्याकांक्षायामुच्यते। अलौकिकस्येत्यारभ्याधिकारो वेत्यन्तेन। तद्विवरणमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि वैकुण्ठादिष्वित्यन्तम्। अर्थस्तु भगवानलौकिकं लोकवेदातीतं पूर्णं सर्वात्मभावैकलभ्यं फलं साधनरहितं यदा वरवत् दातुमिच्छति तदैव आद्यः फलाव्यभिचरितपूर्वजन्मसंबंधी सकलफलाग्रगण्यो व्रजभक्तसदृश्यो यो मनोरथः स सिध्येत्। तदवान्तरफलं अलौकिकसामर्थ्यं भजनान्दानुभवयोग्यतारूपं सिध्यतीत्यर्थः।

अब इन तीन फलों का स्वरूप क्या है , यह जान लें। इसे आपश्री **अलौकिकस्य** शब्द से आरंभ करके **अधिकारो वा** तक के शब्दों द्वारा बता रहे हैं। विवरण में आपश्री ने इसे अलौकिकसामर्थ्यादि से लेकर वैकुण्ठादिषु तक के शब्दों में बताया है। इन पंक्तियों का अर्थ यह है कि , जब भगवान अलौकिक-लोकवेदातीत-पूर्ण एवं केवल सर्वात्मभाव से प्राप्त होने वाला और जीव के साधनों द्वारा अप्राप्य फल एक वरदान की भाँति देने की इच्छा करते हैं , तब ही व्रजभक्तों की भाँति पूर्वजन्मसबंधी, निश्चितरूपसे फल देने वाला, समस्त फलों में श्रेष्ठ जो मनोरथ है, वह सिद्ध होता है। इस मनोरथ का अवान्तरफल भजनानंद की योग्यता देने वाला अलौकिकसामर्थ्य सिद्ध हो जाता है , यह अर्थ है।

अत्र दित्सायां वक्तव्यायां दान इति सिद्धवन्निर्देशस्तु भगवतः स्वतन्त्रत्वात् तद्दानस्य नित्यत्वात् निरपेक्षत्वादनंतत्वाच्च। तथा चास्मिन्नेव जन्मनि भगवान् साक्षात् स्पर्शादिसुखं कदा कदाचित् तमनुभावयतीति इह लोक एव तेषां सकलपुरुषार्थाधिकफलसिद्धिर्भवति, किमु वाच्यमग्र इति कैमुतिकन्यायेन आमुष्मिकफलस्यानिर्वचनीयत्वं सूचितम्। अत एव पुष्टिमार्गीयामुत्रिकफलस्यात्र न स्फुटोक्तिः अनुक्तसिद्धत्वादवचनीयत्वाच्च।

वैसे ठीक तो ये था कि आचार्यचरण यों कहते कि - "जब प्रभु को दान करने की इच्छा होती है, तब ऐसा मनोरथ सिद्ध होता है" - परंतु आपश्री सीधे-सीधे "प्रभु जब दान कर देते हैं, तब ऐसा मनोरथ सिद्ध होता है" यह कह कर निश्चयपूर्वक ये क्यों कह रहे हैं कि - भगवान दान दे ही देते हैं ? यह प्रश्न होता है। वह इसलिये क्योंकि यह भगवान की स्वतन्त्र इच्छा है और उनका दिया दान भी नित्य है, उस दान को प्राप्त करने के लिये किसी कर्म-कांड या साधन नहीं करना पड़ता अतः निरपेक्ष है एवं एक बार भगवान यदि दान दे दें, तो वह हमेशा बना रहता है अतः भगवान का दिया दान अनंत भी है। इस कारण आचार्यचरण निश्चयपूर्वक कह रहे हैं कि भगवान दान दे देते हैं। इसलिये इसी जन्म में भगवान जीव को साक्षात् स्पर्शादि सुख कभी-कभार अनुभव करा देते हैं और इसी लोक में उन्हें समस्त पुरुषार्थ से अधिक फल की सिद्धि होती है। जब इसी भूतल पर जीव को ऐसा फल मिल सकता है, तो फिर साक्षात् भगवान के गोलोकधाम में अलौकिकफल कैसा होगा, यह तो कहे बिना ही समझ में आ जाता है अतः इससे यहाँ आचार्यचरणों ने संकेत से यह बताया कि, अलौकिकफल अवर्णनीय है। इसी कारण पुष्टिमार्गीय अलौकिकफल को आचार्यचरणों ने यहाँ स्पष्टतया नहीं बताया क्योंकि उपर्युक्त विश्लेषणों के अनुसार इसकी महत्ता कहे बिना ही समझ में आ जाती है एवं यह निर्वचनीय भी है।

हि युक्तश्चायमर्थः। यत् परमोत्कृष्टं फलं भगवद्दत्तमेव प्राप्यते, नान्यथापीति। चकारस्त्वप्यर्थे। तथा चाद्योपि श्रेष्ठोपि जीवस्वरूपविचारे भवितुमयोग्योपि श्रीमदाचार्यपक्षपाताद्भगवता दीयते चेत् , सिध्यत्येव, केन वा रोद्धव्यः, नान्यथापीति भावः। अल्प इति पाठे पुष्टिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्सम्बन्धिफलमगम्यत्वात् जीवैर्मनोरथीकर्तुमपि न शक्यते। अतः फलापेक्षया स्वल्पोपि मनोरथः भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति पूर्ण एव सिध्यति, न तु जीवविचारितरूपमात्र इत्यर्थः।

हि शब्द इसी अर्थ की युक्तता बताने के अर्थ में है कि पुष्टिमार्ग का परमोत्कृष्ट फल तो भगवान जब दें, तब ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। च शब्द "अपि(भी)" के अर्थ में है - इसका तात्पर्य यह है कि आद्य मनोरथ तो श्रेष्ठ है और जीव का स्वरूप विचारें तो वह ऐसे मनोरथ की तुलना में अयोग्य ही सिद्ध होता है परंतु फिर भी यदि श्रीमदाचार्यचरणों से बँधे होने के कारण भगवान जीव को दे देते हैं, तो वह मनोरथ सिद्ध होना ही है ; कौन रोक सकता है ? कोई भी नहीं। और यदि आद्य पाठ के स्थान पर अल्प पाठ मान लें , तो अर्थ यह होगा कि - पुष्टिमार्गीय साक्षात् भगवत्संबंधी फल अप्राप्य होने के कारण जीव तो इस फल का मनोरथ भी नहीं कर सकता है अतः ऐसे उच्चफल की तुलना में जीव का मनोरथ भी अल्प ही होता है परंतु जब भगवान फलदान करने पर आते हैं तो अपने स्वरूप के अनुसार पूर्णफल ही देते हैं ; जीव ने जो अल्प विचार किया है केवल उसके अनुसार नहीं - यह अर्थ है।

इत्येकमविहितभक्तसदृशं फलमुक्तम्। विहितभक्तविहितं द्वितीयमाहुः फलं वेति। तद्विवृतिः सायुज्यमिति। सायुज्ये फलोक्तिस्तु लोकवेदयोस्तस्यैव फलत्वेन प्रसिद्धेः। तेन यं मर्यादापुष्टावंगीकरोति तस्मै "मामेवैष्यसी"त्यादिवाक्योपदिष्टं पुरुषोत्तमसायुज्यं प्रयच्छतीत्यर्थः।

यह एक फल तो आचार्यचरणों ने अविहितभक्त(पुष्टि) का बताया अब दूसरा विहितभक्त का फल आपश्री फलं वा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसकी विवृति आपश्री ने सायुज्यं इत्यादि शब्दों से की है। सायुज्य को फल इसलिये कहा गया है क्योंकि लोक और वेद में सायुज्य ही फल के अर्थ में प्रसिद्ध है। अतः जिसे भगवान मर्यादापुष्टि में अंगीकार करते हैं , उसे गीता में कह

"मेरा चिंतन करने वाला हो, मेरा भक्त हो, मुझे नमस्कार करे तो वो मुझको ही प्राप्त होगा(८-३४)" इस वाक्यानुसार पुरुषोत्तम का सायुज्य देंगे - यह अर्थ है।

तृतीयं फलमाहुः **अधिकारो वेति**। तट्टीका **सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति**। वैकुण्ठादिषु किञ्चित् परिचरणं कुर्वन् तिष्ठतीत्यर्थः। आदिपदाद्भूमावपि जन्मान्तरान् चेदवशिष्टान् प्राप्नोति तदापि सेवापर एव भवतीति ज्ञापितम्। अथवा देहाध्यासस्योक्तत्वात् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः। पुष्ट्यंशस्य सत्त्वादग्रे यथाधिकारं पुरुषोत्तमसम्बन्धो भावीति ज्ञेयम्। तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां "उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती"ति।

तीसरा फल आपश्री **अधिकारो वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं, जिसकी विवृति आपने **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु** इत्यादि शब्दों से की है। तात्पर्य यह है कि जिसको ये तीसरा फल मिलता है , वह भगवान के वैकुण्ठ में यत्किञ्चित् परिचर्या करता हुआ रहता है। और वैकुण्ठादिषु में जुड़े हुए आदि शब्द से यह ज्ञात होता है कि, यदि बचे हुए जन्मों को प्राप्त करके वह भूमि पर भी पुनः आता है तो वह सेवापर ही रहता है। अथवा तो पुनः जन्म लेने के पश्चात् भूतल पर होने वाले देहाध्यास के कारण वह जीवन जीते हुए ही मुक्त हो जाता है, देहाध्यास के कारण वैकुण्ठ तक नहीं पहुँच पाता - यह अर्थ है। उसमें पुष्टि-अंश रहा होने के कारण उसे यथाधिकार पुरुषोत्तम से संबंध तो होगा, यह जान लें। यही बात सि०मु० में "ज्ञानी एवं मर्यादा भक्त दोनों को क्रम से पुष्टिभक्ति सिद्ध होगी(१९)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है।

यद्वा, यादृशीति पूर्ववत्। फले त्रित्वोक्तिरैहिकामुष्मिकाभिप्रायावान्तरपरमफलाभिप्राया वा। वस्तुतः परमफले विहिताविहितभक्त्यधिकारके सायुज्यभजनानन्दरूपद्विविधे एव। तथा चैकमैहिकमवान्तरफलं वा।अग्रे आमुष्मिकमधिकारिभेदेन द्विविधं परमफलमिति त्रैविध्यं फले। अत एव निबन्धे विहितभक्तानां सायुज्यमुक्तं, परमफलत्वेन, अविहितभक्तानां गोपिकादितुल्यानां भजनानन्दरूपमेव। फलद्वैविध्ये कारणं, सर्वात्मभावतदितरभावसाध्यपदार्थतारतम्यज्ञापनमेव।

अथवा तो **यादृशी सेवना** इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार से समझें। मेरा मानना यह है कि, आचार्यचरणों ने इस ग्रंथ में सेवा के जो तीन फल बताये हैं , उनमें आपश्री का अभिप्राय दो प्रकार का है अर्थात् इन फलों को लौकिक एवं अलौकिक यों दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है अथवा अवान्तरफल या परमफल यों दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है। ऐहिक/लौकिक/अवान्तर फल के अंतर्गत एक फल है एवं आमुष्मिक/अलौकिक/परम फल के अन्तर्गत दो फल हैं। वास्तव में इन तीन में से परमफल दो ही हैं - विहितभक्त(मर्यादाभक्त) को मिलने वाला सायुज्य एवं अविहितभक्त(पुष्टिभक्त) को मिलने वाला भजनानन्द। इन तीनों में से एक लौकिकफल अवान्तरफल है एवं बाकी दो अधिकारिभेद से अलौकिकफल परमफल हैं, यह समझिए - इस प्रकार से सेवा के कुल तीन फल हुए। अतएव निबंध में आचार्यचरणों ने कहा है कि, परमफल के रूप में मर्यादाभक्त को सायुज्य मिलता है एवं पुष्टिभक्त को गोपिकाओं की भाँति भजनानंदरूप फल ही मिलता है। मर्यादाभक्त को कुछ और एवं पुष्टिभक्त को कुछ और फल इसलिए क्योंकि आपश्री को बताना है कि, सर्वात्मभाव से प्राप्त होने वाले फल और उससे अतिरिक्त भाव से प्राप्त होने वाले फल में भेद होता है।

अथ कश्चिद्ग्रहिलस्तत्फलस्य द्विविधत्वे तत्प्राप्तौ चान्यसेवैव वा भिन्नप्रकारा कारणमस्त्विवति वदति चेत् , तत्राहु **अलौकिकस्येति**। इदं फलत्रयमप्यलौकिकं भवति, अतस्तद्भगवतैव दीयते चेत् , प्राप्यते, नान्यथा। तत्रैकं प्रथमं फलमिह लोके एव भवति, इतरे त्वमुत्र। तत्राग्रिमफलद्वयस्य प्रत्येकं सूचकम्। ऐहिकफलेपि द्वैविध्यमाहु **आद्य इति**। आद्यः सिध्येत् , मनोरथश्च सिध्येत्।

अब यदि कोई आग्रही ये कहे कि यहाँ बताये गये तीन फलों के दोनों प्रकारों एवं उनकी प्राप्ति किसी अन्य की सेवा से भी हो सकती है या फिर ये फल कोई भिन्न प्रकार से भी प्राप्त हो सकते हैं, तो आचार्यचरण उसका समाधान **अलौकिकस्य** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, ये तीनों फल अलौकिक हैं अतः यदि स्वयं भगवान ही दें, तब ही प्राप्त हो सकते हैं अन्यथा नहीं। इन तीन में से प्रथमफल इसी लोक में मिल जाता है एवं अन्य दो फल परलोक में। इनमें से पहला फल मिल जाय तो वह आगे मिलनेवाले दोनों फलों की भी पूर्वसूचना दे देता है, ये समझना चाहिए। इस लोक में जो फल प्राप्त होता है, वह दो प्रकार का होता है - यह आपश्री **आद्य** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि, जब यह फल मिलता है तब आद्य सिद्ध होता है एवं मनोरथ भी सिद्ध होता है।

अयमर्थः। यस्य सायुज्यं भावि स आद्यो मुख्यः भक्तिमार्गीयसकलसाधनसंपन्नो भवति। यस्य पुनः साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमसम्बन्धिमुख्यरसानुभवो भावी तस्य संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकातिविरहजवैक्लव्यादिसहिता परमार्तिरूपाधिकार-संपत्तिर्भवति। अल्प इति पाठे अल्पस्तुच्छो दास इति यावत्। तथाच माहात्म्यपूर्वककेवलदासभावयुक्तो भवतीत्यर्थः। अग्रे पूर्ववत्।

इसका अर्थ यह है कि, जिसको सायुज्य मिलना है वह आद्य अर्थात् मुख्य ***** टीकाकार आद्य शब्द का अर्थ "मुख्य" बता रहे हैं ***** ; मुख्य का अर्थ है - भक्तिमार्गीय समस्त साधनों से संपन्न होकर मुख्य भक्त बन जाता है। और जिसको साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमसंबंधी मुख्यरस का अनुभव होना है, उसको संन्यासनिर्णय में कहे गये प्रकार द्वारा अतिविरह से उत्पन्न हुई विकलतासहित हृदय में परम आर्तिरूप अधिकार की संपत्ति प्राप्त होती है। यदि चाद्यः के स्थान पर चाल्प पाठ मान कर व्याख्या की जाय तो, अर्थ ये बनेगा कि - अलौकिकसामर्थ्य का दान मिलता है तो जीव में अपने आप को एक अल्प तुच्छ दास समझने की बुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् भगवान का माहात्म्य जानने के पश्चात् वह केवल प्रभु के दासभाव से युक्त हो जाता है और फिर जैसा कि पहले व्याख्यान किया, आगे उसका अलौकिकमनोरथ भी सिद्ध होता है।

एवमवान्तरफलद्वयं निरूप्य अग्रिमपरमफलद्वयमाहुः फलं सायुज्यं वा पुरुषोत्तमस्य। अधिकारः सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु वा। अत्र वैकुण्ठपदं लोकवेदप्रसिद्ध्यभिप्रायेण। वस्तुतस्तु ब्रह्मात्मके स्वधामनि। तथाच "यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः" इति श्रुतिनिरूपिते परमपदे मुख्याधिकाररूपसाक्षाद्भजनानन्दानुभवयोग्यस्वरूपावाप्तिरूपः। सिध्येदिति सर्वत्रानुषङ्गः। आदिपदात् यत्रैव साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तमसांनिध्यं तत्रैव सेवां कुर्वन् तिष्ठतीति ज्ञापितं भवति।

इस प्रकार से दो अवान्तर फलों का निरूपण करके अब अग्रिम दो परमफल का निरूपण आचार्यचरण **फलं वा** (अर्थात् पुरुषोत्तम का सायुज्य) **अधिकारः**(वैकुण्ठ आदि में सेवोपयोगी देह मिलनी) इत्यादि पदों से कर रहे हैं। चूँकि वैकुण्ठ शब्द लोक में बड़ा प्रसिद्ध है अतः आपश्री ने यहाँ वैकुण्ठ पद का प्रयोग कर दिया है परंतु वास्तव में इससे आपश्री का तात्पर्य भगवान के अपने ब्रह्मात्मक निजधाम से है। जैसा कि "गोकुलधाम ही वैकुण्ठ है , जहाँ बड़े-बड़े सींगों वाली सुशोभित गाएँ हैं। भगवान का परम धाम गोकुल है(तैति०सं० १-३-६)" इस श्रुति में भगवान के गोलोक का वर्णन किया गया है, तो वैकुण्ठ की प्राप्त होने का अर्थ इसी श्रुति में निरूपित परमपद की प्राप्ति से है। अर्थात् पुष्टिमार्ग में कहे भगवान के उस निजधाम में मुख्य अधिकार अर्थात् साक्षात् भजनानंदप्रभु के अनुभव करने की योग्यता वाला स्वरूप प्राप्त होता है। पूरे श्लोक में **सर्वत्र सिध्येत्** (सिद्ध होता है)क्रिया जुड़ेगी। अर्थात् सेवाफल के रूप में अलौकिकदान सिद्ध होता है , आद्यफल सिद्ध होता है एवं मनोरथ सिद्ध होता है- यों अर्थ करें। वैकुण्ठादिषु में जुड़े आदि पद का तात्पर्य यह है कि, वैकुण्ठ के साथ-साथ जहाँ भी पुष्टिपुरुषोत्तम का सानिध्य है, वहाँ वह पुष्टिपुरुषोत्तम की सेवा करता हुआ रहता है।

यद्वा। आद्य इति। आदिपदेन अग्रिमफलाधिकरणकस्थित्यपेक्षया प्राथमिकं सद्योनुभूयमानं जन्मोच्यते। तत्सम्बन्धी यो मनोरथः यथाधिकारमग्रिमफलविषयकाभिलाषरूपः स सिध्यतीत्यर्थः। पाठान्तरे तु पूर्वार्थवत्। इममेव सर्वमर्थमनुसन्धाय टीकायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमिति। सायुज्यप्रापकं भक्तिमार्गीयसाधनसम्पत्तिरूपं स्वरूपप्रापकं तद्रससहिष्णुतारूपं चेति।

अथवा "आद्य" शब्द का अर्थ है- आदि। और "आदि" शब्द का अर्थ है- अग्रिमफल प्राप्त करने से पूर्व प्राथमिक, तत्काल अनुभूत होने वाला जन्म। और "प्राथमिक" शब्द का अर्थ है- तत्काल अनुभव करनेवाला जन्म। इस समीकरण के अनुसार "आद्य" शब्द का अर्थ हुआ- जन्म। ***** सद्य का अर्थ है- तत्काल।***** इस व्याख्या के अनुसार आद्य शब्द का अर्थ अपने भीतर भगवद्-बीजभाव का तत्काल जन्म होना है। उस भाव से संबंधित जो मनोरथ है अर्थात् अपने-अपने अधिकारानुसार अग्रिमफल के लिये होने वाली अभिलाषारूपी जो मनोरथ है , वह सिद्ध होता है। और आद्य के स्थान पर अल्प पाठ मानें तो पहले जो अल्प का अर्थ बताया था, वही यहाँ पर भी लागू होगा। इन्हीं सब अर्थों का ध्यान रखते हुए आपश्री ने अपनी टीका में अलौकिकसामर्थ्य इत्यादि वाक्यों से मूलश्लोक का अर्थ समझाया है। सायुज्यप्राप्ति की सामर्थ्य का अर्थ है - भक्तिमार्गीयसाधनसंपत्ति प्राप्त होनी एवं स्वरूप को प्राप्त करानेवाली सामर्थ्य का अर्थ है - भगवत्स्वरूप को सहन कर पाने की सामर्थ्य।

अत्र साधनफलयोः सम्पत्तौ कालकर्मादयो नियामका भविष्यन्तीत्याशङ्कायामाहुः न कालोऽत्रेति। सर्वोपजीव्यत्वात् काल एवोक्तः। तेन भगवदिच्छाव्यतिरिक्तः कोऽपि न नियामक इत्युक्तं भवति।

यहाँ सेवा के साधन और फल प्राप्त करने में क्या काल-कर्म आदि नियामक हो सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में आपश्री **न कालोत्र नियामकः**(इनमें काल नियामक नहीं है) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। संसार में सभी वस्तुओं के होने न होने में काल की ही प्रमुख भूमिका होती है अतः आपश्री ने काल का ही संदेह निवृत्त किया है। जब आपश्री यह कह रहे हैं कि, काल ही नियामक नहीं है तो यह अपने आप ही सिद्ध हो जाता है कि, यहाँ इस मार्ग में भगवद्-इच्छा के अतिरिक्त अन्य कोई भी नियामक नहीं है।

तर्ह्यत्र स्वच्छंदचारित्वं भविष्यतीत्याशंक्य तन्निरासपूर्वकं सावधानतया स्थितिज्ञापनाय मध्ये अन्तरायोत्पत्तिमाहुः उद्वेग इति। तस्य विवरणं सेवायामित्यारभ्य भोगो वेत्यन्तम्। एतत्त्रितयमपि बाधकमस्ति। यथा तदनुत्पत्तिर्भवति तथा यतनीयमित्याशयः।

किंतु ऐसे में शंका यह होती है कि, यदि काल-कर्म जीव का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, तो क्या फिर जीव बेरोकटोक स्वच्छन्द नहीं हो जायेगा ? तो इसका समाधान करते हुए आपश्री जीव को सेवा में सावधानीपूर्वक रहने के लिये आगे यह भी बता रहे हैं कि, यदि सावधानी न रखें तो सेवा में कुछ विघ्न भी आ सकते हैं- इन विघ्नों को आपश्री **उद्वेग** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस पंक्ति की व्याख्या आचार्यचरणों ने विवरण में **सेवायां** से आरंभ करके **भोगो** वा तक के शब्दों द्वारा की है। उद्वेग, प्रतिबन्ध एवं भोग ये तीनों बाधक हैं। इनकी बात यहाँ छेड़ने का आशय यह है कि, जिस प्रकार से भी ये उत्पन्न न होने पायें, वैसा प्रयत्न करना चाहिए।

ननु उद्वेगप्रतिबन्धभोगाः क्रमेण मनोजन्यत्वात् दैवागतत्वात् क्षुधादिनिवर्तकत्वाच्चाशक्यपरिहारास्ते कथं त्यक्तव्या इत्याशङ्कायां त्यागप्रकारमाहुरग्रे बाधकानां परित्याग इति। तट्टीका त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति। सिद्धाश्चेत् त्यक्तुमशक्या एव। अतस्तत्साधकवस्तूनां त्यागे तदनुत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः। अथ तेषु प्रत्येकं त्याज्यात्याज्यभेदेन द्वैविध्यमस्तीति सामान्यतो वदन्तः प्रथमं त्याज्यवस्तुस्वरूपमाहुः अकर्तव्यमिति। व्याकृतिः भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इत्यारभ्य विवेक इत्यन्ता। अर्थस्तु यत्कार्यं सर्वथा भगवान् कर्तुं नेच्छति तत्र यावद्बुद्धिबलोदयं जीवैः दृष्टादृष्टोपायैः प्रयत्ने कृतेपि प्रतिबन्धराहित्यपूर्वकं तत्कार्यं न सिध्यति, तदा भगवत्कृतोऽयं प्रतिबन्धोऽयमित्यवधेयः। तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तदा अन्या तदनन्तरं कृता या सेवा सा व्यर्था। यतः फलशून्या।

परंतु एक शंका यह है कि, उद्वेग मन में होता है ,प्रतिबन्ध दुर्भाग्य से आ जाता है एवं भोग तो शरीर की भूख-प्यास मिटाता है अतः इनको दूर करना तो अशक्य है। फिर कैसे त्याग करें ? तो इनके त्याग करने का प्रकार आपश्री **बाधकानां परित्यागः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। टीका में इसे आपश्री ने " ये तीन जिन कारणों से होते हों, उन साधनों का परित्याग करें" इस वाक्य द्वारा कहा है। क्योंकि यदि ये तीन गहरे पैठ गये तो त्यागने कठिन होंगे। अतः ये जिन कारणों से होते हों, यदि उन कारणों का ही त्याग कर देंगे तो ये स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। अब इनमें से प्रत्येक बाधक त्याज्य और अत्याज्य के भेद से दो प्रकार के हैं। सो आचार्यचरण सामान्यरूप से इन बाधकों में से जिनका त्याग करना चाहिए या किया जा सकता है, उनका स्वरूप **अकर्तव्य** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका विवरण आपश्री ने अपनी टीका में **भगवत्कृतश्चेत्** से आरंभ करके **विवेक** तक के शब्दों से किया है। इसका अर्थ यह है कि, जिस कार्य को भगवान करना नहीं चाहते , उस कार्य को करने में जीव अपनी पूरी बुद्धि एवं ताकत भी लगा दे एवं दृष्ट-अदृष्ट ***** **(दृष्ट उपाय अर्थात् सामान्यरूप से लोक में प्रचलित दुःख दूर करने के उपाय एवं अदृष्ट उपाय अर्थात् आध्यात्मिक ढंग से किसी मंत्र या साधना द्वारा दुःख दूर करने के उपाय)** ***** सभी उपाय कर ले, तब भी प्रतिबन्ध दूर होकर वह कार्य सिद्ध नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में यह सोचें कि यह प्रतिबन्ध स्वयं भगवान कर रहे हैं और भगवान ऐसा इसलिये कर रहे हैं क्योंकि वे फल देना नहीं चाहते - यह मानना चाहिए। ऐसे में यदि फल प्राप्त करने के लिये भगवत्सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य सेवा करेंगे तो वह व्यर्थ ही जाने वाली है क्योंकि वह फल देने वाली नहीं होती।

तदा किं कर्तव्यं तेनेति प्रश्ने उच्यते। तदायं परिदृश्यमानो मल्लक्षणो वा जीव आसुर इति मनसि निर्धार्य ज्ञानमार्गेण वेदोक्तेन स्थेयम् , तत्र मयेयान् प्रयासः कृतस्तथापि किमिति न स सिद्धिं प्राप्त इतिरूपखेदाभावाय हरिः सर्वं निजेच्छयैव करोति करिष्यति अकार्षीदित्येवं विवेकः कर्तव्य इत्यर्थः।

ऐसी परिस्थिति में उसे क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न होने पर आपश्री इसका उत्तर देते हैं। आपश्री कहते हैं - ऐसे में यह सोचें कि यह जो परिस्थिति दिखाई दे रही है अथवा तो मेरे जो भी लक्षण हैं, उससे यही लगता है कि मेरा जीव आसुरी है, तभी तो प्रतिबन्ध मिटता ही नहीं। ऐसा मन में निर्धारित करके वेद में कहे ज्ञानमार्ग के अनुसार रहना चाहिए। और "मैंने इतना प्रयास

किया तथापि मुझे सिद्धि क्यों नहीं मिली" इस प्रकार के खेद को दूर करने के लिये मन में ये "हरि सभी कुछ अपनी खुद की इच्छा से ही करते हैं, करेंगे और किया है" ऐसा विवेक रखना चाहिए।

अत्रासुरत्वमावेशजन्यं ज्ञेयम्। अन्यथा सहजासुरस्य ज्ञानाद्यनधिकारित्वेन श्रीमदाचार्यास्तस्य कर्तव्यत्वं नोपदिशेयुः। तेनासुरत्वं आवेशिसहजभेदेन द्विविधं ज्ञेयम्। द्वितीयमग्रे वक्ष्यंति द्वितीयेत्यनेन। अन्यथा पूर्वं विवेकः साधनं मतं इत्युक्तम् , अग्रे सर्वथा चिन्ता त्याज्येति वक्ष्यते तेनान्योन्यं विरुद्धवाक्यकथनेन वदद्-व्याघ्रातः प्रसज्येत। तथा च सर्वथा भगवान् यत्कर्तुं नेच्छति तस्याचार्योक्तसंकेतैर्भगवदीयद्वारा वा यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथा कृत्वा सर्वथा असाध्यत्वे ज्ञाते तदुपक्रम एव न कार्यः, किन्तु विवेकपूर्वकं स्थेयमित्यर्थः।

जिनको आचार्यचरण ज्ञानमार्ग पर चलने का उपदेश दे रहे हैं, उसमें असुरता का आवेश मात्र है यह समझना चाहिए क्योंकि सहज आसुरीजीव तो ज्ञानमार्ग के अधिकारी ही नहीं होते अतः आचार्यचरण भी उनके लिये ज्ञानमार्ग का रास्ता क्यों बताते ? अतः ये समझें कि , एक आसुरीजीव वह होता है जिसमें असुरता का आवेश मात्र होता है और एक आसुरीजीव वो होता है जो सहज आसुर है। दूसरे अर्थात् सहज आसुरीजीव के लिये तो आचार्यचरण आगे द्वितीय इत्यादि शब्दों से बतायेंगे। क्योंकि पहले कहे आसुरीजीव के लिये तो खेद दूर करने के लिये आचार्यचरणों ने विवेक को साधन बताया है और आगे उसी खेद को दूर करने के लिये आपश्री चिन्ता न करने का उपदेश दे रहे हैं अतः आपश्री एक ही खेद को दूर करने के दो अलग-अलग उपाय क्यों बताते ? इसलिये यदि यहाँ दो प्रकार के आसुरी नहीं मानेंगे तो स्वयं आचार्यचरणों के अपने ही दोनों वाक्य आपस में विरुद्ध हो जायेंगे। अतः संक्षेप में यह समझिए कि, जिस कार्य को भगवान सर्वथा करना ही नहीं चाहते , उसे आचार्य द्वारा कहे संकेत द्वारा अथवा तो किसी भगवदीय द्वारा समझ कर जैसे बने वैसे इस तत्त्व का निर्धारण कर लेना चाहिए कि, मेरा जीव आसुरी है। और जब किसी भी ढंग से कार्य न बन पाता हो , तो उस कार्य को आगे छेड़ें ही नहीं अपितु विवेकपूर्ण ढंग से रहें।

अथ त्याज्यात्याज्यभेदान् तत्स्वरूपाणि च विविच्य प्रकटमाहुः भोगेप्येकमित्यादि तृतीये बाधकं गृहमित्यन्तेन। तद् व्याख्यानं भोगो द्विविध इत्यारभ्य आग्रन्थपरिसमाप्ति। अर्थस्तु भोगप्रतिबन्धौ लौकिकालौकिकभेदेन साधारणभगवत्कृतभेदेन च प्रत्येकं द्विविधौ। तत्र लौकिको भोगः स्वच्छन्दतया यथेष्टं सर्वेन्द्रियसंतर्पणादिरूपः। स सर्वथा त्याज्यः। तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः "स्वयमिन्द्रियकार्याणि" , "विषयाक्रान्तदेहाना"मित्यादिवाक्यैः। साधारणप्रतिबन्धस्तु त्रैवर्गिकायासासक्त्यादिरूपः, सोपि तथा। एतस्य भगवद्धर्मापेक्षयातिनिर्बलत्वेन सेवाद्यासक्तस्य वृथा कालक्षेपजनकत्वमस्ति। तदुक्तं "तावत्कर्माणि कुर्वीत" "मत्कर्म कुर्वतां पुंसा"मित्यादिवाक्यैः।

अब इसके पश्चात् प्रतिबन्धकों में कौन सा त्याज्य है और कौन सा अत्याज्य इसका एवं प्रतिबन्धों के स्वरूप की भी विवेचना करके आचार्यचरण प्रकट या स्पष्टतया दिखाई देने वाला प्रतिबन्ध **भोगेप्येकं** से लेकर **तृतीये बाधकं गृहं** तक के शब्दों से कह रहे हैं। इसका व्याख्यान आपश्री ने **भोगो द्विविध** से लेकर टीका की समाप्ति तक किया है। इसका अर्थ यह है कि, भोग एवं प्रतिबन्ध दोनों लौकिक-अलौकिक भेद से और साधारण-भगवत्कृत भेद से दो प्रकार के होते हैं। इसमें लौकिकभोग का अर्थ है - स्वच्छन्दरूप से जैसे चाहें वैसे समस्त इंद्रियों को संतृप्त करना। यह सर्वथा त्याग देना चाहिए। इसे आचार्यचरणों ने "इंद्रियों के कार्यों को स्वयं ही मन-वाणी-काया द्वारा त्याग देना चहिए(वि०धै०आ० -८)", "विषयों से घिरे देह में हरि का प्रवेश नहीं होता(सं०नि०-६)" इत्यादि वाक्यों से कहा है। साधारणप्रतिबन्ध होता है त्रैवर्गिक(धर्म-अर्थ-काम)पुरुषार्थ करने के प्रयास में आसक्ति रखने से। इसका भी त्याग करें। ये साधारणप्रतिबन्ध वैसे भगवद्-धर्म की तुलना में तो अति निर्बल ही है अतः और कुछ नहीं तो सेवा में आसक्त जीव को व्यर्थ में ही काल द्वारा फल में विलंब करवा देता है। यही बात "कर्म तब तक ही करने चाहिए जब तक स्वर्गादि के सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा तो मेरी लीलाकथा में श्रद्धा न हो जाय(श्री०भा ११-२०-९)" , "मत्कर्म" इत्यादि वाक्यों में कही गयी हैं।

ननु तर्हि धर्मादिशास्त्रभयवैयर्थ्यं स्यादिति चेत्। न। यतो बुद्ध्येत्युक्तं टीकायाम्। लोकसंग्रहार्थकरणाभिप्रायेण। तदेव गीतायामुक्तं "सक्ताः कर्मण्यविद्वांस" इति। अन्यथा तत्तन्नियतकारणकमेव फलं स्यात्, नैतन्मार्गीयम्। अथालौकिकभोगस्तु वस्तुमात्रस्य भगवदुपयोगे तदयोग्यत्वे च जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपयोगादिरूपः, स न त्याज्यः। यतः स भोगः फलानां मध्ये

प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति, तदङ्गतां प्राप्नोति। कायवाङ्मनःशोधकत्वात् , स्वधर्मत्वाच्च। तदुक्तं “त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धे”त्यादिवाक्यैः।

किंतु प्रश्न यह है कि उपर्युक्त वाक्यों के अनुसार यदि लौकिकवैदिक सभी कर्म त्याग दिए जाएँ तो धर्मशास्त्र में जो इन कर्मो को करने का आग्रह बताया है और न करने पर दंड का भी विधान बताया गया है ; तो फिर किसी को धर्मशास्त्रों का भी भय नहीं रह जायेगा ! नहीं, ये बात नहीं है। इसलिये क्योंकि आचार्यचरण इन्हें बुद्धिपूर्वक दूर करने का उपदेश दे रहे हैं। आपश्री यह कह रहे हैं कि लोक-व्यवहार निभाने के लिये लौकिकवैदिक कार्य कर लेने चाहिए। यही बात गीता में भी “बुद्धिमान को चाहिए कि आसक्ति न रखते हुए लौकिककार्य करे(३-२५)” । अन्यथा तो सेवा करने वाले जीव यदि लोक में आसक्ति रखते हुए लौकिककार्य करते होते, तो उन्हें लौकिकफल ही प्राप्त होता, पुष्टिमार्गीय फल नहीं। अब दूसरी बात यह समझिए कि, अलौकिकभोग का अर्थ तो – प्रत्येक वस्तु भगवान के उपयोग में आती होने के कारण जीव उसका उपभोग नहीं कर सकता परंतु भगवान के उपयोग में आने के पश्चात् भगवान की प्रसादीरूप से अपने उपयोग में लाना है अतः यह त्याज्य नहीं है। क्योंकि अलौकिकभोग तो फलों के अंतर्गत प्रथमफल अलौकिकसामर्थ्य में प्रविष्ट होता है, उसका अंगरूप बन जाता है। क्योंकि भगवत्प्रसाद लेना काया-मन-वाणी को शुद्ध करता है एवं यह जीव का स्वधर्म भी है। जैसा कि “हमने आपकी प्रसादी वस्तुएँ ली हैं अब हम आपकी माया को जीत लेंगे(श्री०भा० ११-६-४६)” इस वाक्य में कहा गया है।

“यत्करोषि यदश्नासि” , “कायेन वाचा मन्सेन्द्रियैर्वा” इत्यादिभिर्भोगस्य यथाकथञ्चित् कर्तव्यताप्युक्ता। द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः, स स्वरूपतः फलतश्च पूर्वमुपपादितः।

“जो करे, जो खाये, जो हवन करे, उसे मुझे अर्पण करे(भ०गी ९-२७)” , “काया,वाणी, मन, बुद्धि से जो करे उसे मुझे समर्पित करे(श्री०भा० ११-२-३६)” इत्यादि वाक्यों में थोड़ा-बहुत भोग भी करने की बात कही गयी है। दूसरा है भगवत्कृतप्रतिबन्ध। उसका स्वरूप और फल तो हमने पहले ही कह दिया है।

नन्वनिषिद्धसुखत्यागी पशुरेवेति न्यायेन साधारणो भोगः किमर्थं त्यक्तव्यः, तत्राहुः सविघ्नेति। अस्य टीका सविघ्नत्वादादिप्रतिबन्धेत्यन्ता। अर्थः सविघ्नत्वात् बह्वन्तरायवत्त्वात् तत्रापि स्वरूपतः कालतश्च स्वल्पत्वात् घातकोयं त्याज्य एवेत्यर्थः। तथाच साधारणभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धौ प्रसह्य फलाभावजनकौ। यतस्तौ मतौ संमतौ न, प्रतिबन्धकत्वात्। अथवा मतौ प्रतिबन्धकत्वेन संमतावित्यर्थः। तत्र तयोराद्यः स्वसाध्यत्वात् त्याज्य एव। इतरोसाध्यत्वात् मर्यादामार्गेण स्थित्वा सोढव्य इति। पूर्वं यदुक्तं तत् “प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चे”त्यादिभगवद्वाक्यैः सहजासुरेषु मर्यादामार्गोपि याथातथ्येन न सिध्यतीति ज्ञानस्थित्यभावेत्याभासेनानूद्य तेषां कर्तव्यमाहुः द्वितीयेति। द्वितीये बाधके भगवत्कृतप्रतिबन्धे, अथवा द्वितीये आसुरत्वे साहजिके जाते फलविषयिणी चिन्ता साधनान्वेषणं न कर्तव्यम्। यतः फलं तस्यैतन्मार्गीयं न भवत्येव।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, “जिस सुख का निषेध नहीं है, उस सुख का त्याग करने वाला तो पशु ही है” इस वाक्यानुसार साधारणभोग का त्याग क्यों करें ? इसका समाधान आपश्री **सविघ्नः** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इसकी टीका आचार्यचरणों ने **सविघ्नत्वात्** से लेकर प्रतिबन्ध तक के शब्दों से की है। इसका अर्थ यह है कि, साधारणभोग में विघ्न होते हैं अतः यह सेवा में अन्तराय तो पैदा करता ही है तथापि स्वरूपतः एवं कालतः स्वल्प भी होने के कारण घातक भी है अतः त्याज्य ही है। तात्पर्य यह हुआ कि साधारणभोग एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध हठात् फल का अभाव कर देते हैं अतः प्रतिबन्धक होने के कारण संमत नहीं हैं। या तो यों अर्थ कर लें कि, ये दोनों प्रतिबन्धकरूप माने गये हैं। इन दोनों प्रतिबन्धों में से आद्य अर्थात् साधारणप्रतिबन्ध को हटाना जीव के वश में है अतः त्याग करना ही चाहिए। दूसरा भगवत्कृतप्रतिबन्ध जीव के वश में नहीं है अतः मर्यादामार्ग में रह कर उसे सहन करें। जैसा कि हमने पहले कहा कि “आसुरी यह नहीं जानते कि क्या धर्म है और क्या अधर्म ?(भ०गी १६-७)” इत्यादि भगवद्वाक्यों के अनुसार सहज आसुरीजीवों को तो मर्यादामार्ग भी यथार्थरूप में सिद्ध नहीं होता अतः आचार्यचरणों ने **ज्ञानस्थित्यभावे** इत्यादि वाक्यों से ऐसे आसुरीजीवों को क्या करना चाहिए यह बताया और अब **द्वितीय** इत्यादि वाक्यों से उनका कर्तव्य कह रहे हैं। आपश्री यहाँ ये आज्ञा कर रहे हैं कि, दूसरा बाधक भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर अथवा तो दूसरा बाधक यानि अपने भीतर रही सहज आसुरता का बोध हो जाने पर फल के लिये अन्य साधनों को ढूँढने जैसी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ऐसे सहज आसुरीजीवों को इस मार्ग में फल प्राप्त होगा ही नहीं।

तर्हि तस्य किं भवतीति प्रश्ने आहुः **संसारेति**। तस्याविद्यकोऽहंममात्मकः संसार एव भवति, अग्रेपि तदनुसारेणैव फलम् , नान्यदपीत्यर्थः। नन्वन्त्यबाधकद्वये द्विरूपत्वं विविच्योक्तं नत्वादिनैतत्कुतः इत्यत्राहुः **नत्वाद्य** इति। तट्टीका **आद्य** इति। आद्यो यः फलस्याभावो यस्मादिति फलाभावः प्रतिबन्ध उद्वेग इति यावत्। स यद्यपि साहजिकदुःसङ्गकृतभेदेन द्विविधोस्ति तद्वशात्तत्र चित्तशुद्ध्यभावेन कदाचित् स्वधर्मत्यागनिन्दादिकमपि भवति, तथापि द्वैविध्येपि भगवान् सर्वात्मना फलं नैव संपादयतीति न, किन्तु किञ्चिन्न्यूनाधिकं भवत्येव। अतस्तत्र भगवतोऽदातृत्वं फलविषयकं नास्ति, किन्त्वग्रिमजन्मान्तरेषु फलमुत्तमं मध्यमं वा भवत्येवेत्यर्थः। तदेवोक्तं निबन्धे "अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा। नरके न भवेत्पातः किन्तु हीनेषु जायते। पूर्वसंस्कारस्तत्र भजन्मुच्येत जन्मभि"रिति।

तो फिर ऐसे आसुरीजीव का अंत में होगा क्या ? यह प्रश्न होने पर आपश्री **संसार** शब्द से उत्तर दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि, ऐसे आसुरीजीव को अविद्यारूपी अहंताममतारूपी संसार ही मिलता है और आगे भी इसी के अनुरूप फल मिलता है , इसके अतिरिक्त और कोई फल नहीं मिलता। अब यहाँ शंका ये होती है कि, आचार्यचरणों ने इन तीन बाधकों(उद्वेग,प्रतिबन्ध,भोग)में से अंतिम दो यानि प्रतिबन्ध और भोग के तो दो प्रकार बताये परंतु पहले वाले उद्वेग के दो प्रकार क्यों नहीं बताये ? तो इसका उत्तर आपश्री **नत्वाद्ये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसके विषय में आपश्री ने टीका में आद्य इत्यादि शब्दों से बताया है। टीका में कहे "आद्यफलाभाव" शब्द का अर्थ है - आद्य फल का अभाव जिस प्रतिबन्ध के कारण हो जाता है, वह है "उद्वेग"। अर्थात् आद्यफलाभाव शब्द का अर्थ है - उद्वेग। ये उद्वेग सहज एवं दुःसंग इन दो कारणों से होता है और इसके कारण चित्तशुद्ध न होने से कदाचित् वह जीव स्वधर्म का त्याग एवं स्वधर्म की निन्दा भी करता है, तथापि इन दोनों प्रकारों के उद्वेग के कारण भगवान उसे सर्वथा ही फल न दें, ऐसा नहीं है किंतु थोड़ा-बहुत फल तो देते ही हैं। अतः इस परिस्थिति में यह नहीं है कि भगवान को फलदान करने की इच्छा नहीं है किंतु उसे अगले जन्मों में उत्तम या मध्यम फल प्राप्त होगा ही। यही बात आचार्यचरणों ने निबंध में "भक्तिमार्ग में रह कर वेद की निन्दा करे और अधर्म का आचरण करे तो नरकपात होना चाहिए परंतु उसने यत्किञ्चित् भगवन्नाम लिया है और भगवन्नाम नरक का विरोधी है अतः उसे हीनयोनि में जन्म मिलेगा। ऐसी शूद्र की हीनयोनि में जन्म के पश्चात् जब वह भगवद्भजन करता है तब भगवान प्रसन्न होकर उसे मुक्त करते हैं।(सर्व० २१६)" इस वाक्य द्वारा कही है।

तर्हि सद्यस्तस्य किं भवतीत्याकांक्षायामाहुस्तदेति। तदा तनुवित्तजा सेवा आधिदैविकी न भवति। यस्यां कदा कदाचित् साक्षात्स्वरूपानुभवः सर्वदा तत्सङ्गमार्थं परमार्तिश्च नियता तादृशी साम्प्रतं न भवतीत्यर्थः। अथ लौकिकभोगत्यागप्रकारमाहुः **तृतीय** इति। तद्-व्याकृतिर्भोगाभाव इति। गृहे त्यक्ते तदधीनत्वात् सोपि त्यक्तो भवतीत्यर्थः।

तो फिर अभी इस जन्म में उसे कौन से फल या कौन सा प्रतिबन्ध होगा - यह जिज्ञासा होने पर आपश्री **तदा** इत्यादि शब्दों से टीका में कह रहे हैं। **तदा** का अर्थ है - तब ऐसे वेदनिन्दा एवं अधर्म करने वाले जीव की तनुवित्तजा सेवा आधिदैविकी नहीं बन पाती। आधिदैविकी न बनने का अर्थ है - वर्तमान में उसकी सेवा में यदा-कदा प्रभु का साक्षात् अनुभव नहीं होता एवं भगवत्-दर्शन के लिये उसे सर्वदा मन में परम आर्ति नहीं होती। अब आपश्री इसके पश्चात् लौकिकभोग के त्याग का प्रकार तृतीय इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका व्याख्यान आचार्यचरणों ने टीका में **भोगाभावस्तदैव** इत्यादि शब्दों से किया है। लौकिकभोग तो घर में रहने के कारण होता है अतः घर ही छोड़ देंगे तो लौकिकभोग भी अपने आप ही छूट जायेगा।

अथ अवश्येत्याद्यवशिष्टमूलव्याख्या श्रीमदाचार्यकृता न लभ्यत इति तद्-व्याख्यायते। इयं सेवा सदा अवश्या जीवकृत्यसाध्येति भावनीया। अयमाशयोऽत्र। तस्याः कृतौ स्वस्य कर्तृत्वाभिमाने जाते कृताप्यकृतप्राया भवतीति भगवत्येव सर्वं भारं निक्षिप्य तदिच्छयैव सर्वं सम्पद्यत इति निश्चित्य तत्परतया स्थेयमिति। तदुक्तं "अशक्ये वा सुशक्ये वे"त्यादिवाक्यैः। एतदन्यप्रकारा भावना मनोभ्रमरूपा।

अब इसके पश्चात् ग्रंथ के अवश्येयं सदा भाव्या इत्यादि पदों पर आचार्यचरणों की व्याख्या प्राप्त नहीं होती अतः मैं स्वयं व्याख्या कर रहा हूँ। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि - जीव को सदा ये भावना करनी चाहिए कि ये सेवा हमारे वश में नहीं है अर्थात् जीवकृति से साध्य नहीं है। मन में ऐसी भावना इसलिये करनी चाहिए क्योंकि यदि नहीं करेंगे तो मन में "हमने सेवा की" ऐसा अभिमान पनपेगा और की हुई सेवा भी न करे के बराबर हो जायेगी अतः उचित यही है कि संपूर्ण भार भगवान पर ही डाल दें और प्रभुतत्पर होकर मन में ऐसा निश्चय करें कि , सभी कुछ भगवान की इच्छा से ही होता है, जीवसाध्य कुछ भी नहीं है। देखिए , यही

बात वि०धै०आ० में “कोई कार्य शक्य हो या अशक्य, सभी में हरि ही शरण है(११)” इस वाक्य द्वारा कही गयी है। इस भावना के अतिरिक्त यदि कोई अन्य भावना की, तो वह मन का भ्रम है।

यद्वा। इयं सेवा सदा अवश्या, जीवकृत्यसाध्या भाव्या च, भावसम्बन्धिनी तत्प्रधाना च ज्ञेयेति शेषः। एतस्मादन्यज्जीवसाध्यत्वविध्यधीनत्वज्ञानं मनसो भ्रमः। इति संक्षिप्य सेवास्वरूपमापातत उक्तम्। एवं स्वरूपमुक्त्वा तस्या एतत्प्रकारेणैव ज्ञानं कर्तव्यतां चाज्ञापयंति तदीयैरिति।

अथवा **अवश्येयं सदा भाव्या** इन पंक्तियों का अर्थ दूसरे ढंग से करें। अर्थ यों करें - यह सेवा सदा अवश्या है , जीवकृति से साध्य नहीं है , भावसबंधिनी है एवं भगवद्-प्रधान है। इसके अतिरिक्त ऐसा सोचना कि “जीवकृति से साध्य है या अन्य साधनों से साध्य है” मन का भ्रम है। इस प्रकार आचार्यचरणों ने यहाँ तक सेवा का स्वरूप संक्षिप्त में कहा। सेवा का स्वरूप कह कर आपश्री आगे **तदीयैरपि** इत्यादि शब्दों से जीव को सेवा का यही स्वरूप समझाने एवं यही सेवा करने की आज्ञा दे रहे हैं।

अत्राप्रस्तुतत्वेन प्रतीयमानोप्यपिशब्द एतत्प्रकारकज्ञानविशिष्टत्वमाक्षिपति। तथाचैवं ज्ञानपूर्णैरपि तन्मदुक्तमेव कार्यम् , नान्यदित्यर्थः।

यद्यपि एकबारगी ऐसा लगता है कि आचार्यचरणों को तदीय जीवों को भी ये सेवा करने का उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जो तदीय ही हो गये हैं, वे तो ये सब समझते ही हैं, इसीलिये तो तदीय कहलाये अतः उन्हें उपदेश करने की क्या आवश्यकता ? किंतु समझिए कि आचार्यचरणों ने **तदीयैरपि** शब्द में **अपि** शब्द का प्रयोग किया है , जिससे आपश्री अभिप्राय पता चलता है कि जिसे ऊपर कही बात का संपूर्ण ज्ञान हो, ऐसे तदीयों को भी आपश्री कहे अनुसार चलना ही है एवं करना ही है, अन्य कुछ भी नहीं।

नन्वन्त्यमार्गद्वये यथोक्तकरणं युक्तं, लोकवेदानुसारित्वात् , न तु शुद्धपुष्टौ, लोकवेदातीतत्वात्। अतस्तत्र यथोक्तकरणं नोपदिश्यत इति चेत् , तत्राहुः पुष्टाविति। एवकारेण विचारान्तराभावपूर्वकमवश्यकर्तव्यत्वं सूच्यते। तथा च पुष्टिमार्गे एतदुक्ताचरणे विलम्बो न कार्यः। यतस्तत्र मार्गाचार्यप्राधान्यमेवोत्कर्षः, तदेव च निर्वहति। तथाकरणेनैव भगवान् प्रसीदति, नान्यथा। अतस्तादृशैस्तदुक्तकरणे सर्वथा विलम्बो न कार्यः।

अब कोई पूर्वपक्षी एक शंका करता है। वह कहता है कि चलो ठीक है , मर्यादापुष्टिजीव एवं प्रवाहपुष्टिजीव आपश्री द्वारा कही सेवा करें भी क्योंकि ये दोनों मार्ग लोकवेद में कहे गये हैं ; परंतु शुद्धपुष्टिमार्ग तो लोकवेदातीत है ,शुद्धपुष्टि के जीवों को सेवा का उपदेश करने का अवकाश ही कहाँ है ? ****** क्योंकि शुद्धपुष्टि की कोटि में आने वाले जीवों को तो निरंतर भगवत्सन्निधि है। ***** तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **पुष्टौ** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री आगे एवकार का प्रयोग करके अन्य दूसरे विचारों का त्याग करके इस ग्रंथ में कही बात का ही अवश्य अनुकरण करने पर भार दे रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, यदि आप पुष्टिमार्ग में हैं तो इस ग्रंथ में कहे उपदेशों का पालन करने में विलंब न करें क्योंकि इस मार्ग की आचार्य कही जाने वाली स्वामिनी/गोपिकाओं की प्रधानता मानने में ही उत्कर्ष है एवं उनका उत्कर्ष मानने से ही इस मार्ग में कही सेवा भी निभ पाती है। उन्होंने जैसी प्रभुसेवा की है , वैसी सेवा करेंगे तभी भगवान भी प्रसन्न होंगे, अन्यथा नहीं। अतः तदीयों को गोपिकाओं के अनुसार करने में सर्वथा विलंब नहीं करना चाहिए।

ननु पूर्वं यदुक्तं भगवत्कृतप्रतिबन्धसंभवे तत् सोढ्वा स्थेयमिति, तन्न युक्तम् , यतस्तपोऽनशनदेहाभिट्टातादिभिराग्रहे क्रियमाणे देवव्रतादेरिवास्यापि प्रतिज्ञापालनं भगवान् करोत्येवेति चेत् , तत्राहुः गुणेति। गुणानां सत्त्वादीनां क्षोभेऽतिक्रान्तमर्यादत्वे जाते अर्थात् गुणाधिक्येन क्रोधमदमात्सर्यादिविकारसंभवेपि स्वाभाविकं त्यक्त्वा मदुक्तमेव कार्यमित्यर्थः।
दर्शनमालोचनज्ञानं दृष्ट्वा कर्तव्यमित्यर्थः।

अब यहाँ शंका यह है कि, जो पहले भगवान का प्रतिबन्ध होने पर उस दुःख को सहन करना बताया गया, वह उचित नहीं है। क्योंकि सहन करने से अच्छा यही है कि तप, अनशन, आत्मघात इत्यादि करते हुए भगवान से फलदान का हठाग्रह करें, तो देवव्रत(भीष्म) आदि की प्रार्थना जैसे भगवान को स्वीकार करनी पड़ी, वैसे ही ऐसे हठाग्रही जीव की भी प्रार्थना प्रभु स्वीकार करेंगे ही। ***** (जैसे महाभारत के युद्ध में भीष्म पितामह ने हठाग्रह रखते हुए भगवान से शस्त्र उठवाने की प्रतिज्ञा की और भगवान को उनकी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये शस्त्र उठाना पड़ा, वैसे)***** तो इसका उत्तर आपश्री **गुण** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि सत्व-रज-तम आदि गुणों के क्षोभ के कारण यदि जीव पर ऊपर कहे प्रकार से मर्यादा का उल्लंघन

कर देने की नौबत आ जाय अर्थात् इन लौकिकगुणों की अधिकता के कारण भले ही क्रोध-मद-मात्सर्य आदि विकार होते हों, तब भी उसे मेरा कहा ही करना चाहिए। मेरे कहे अनुसार करने के उपदेश से आपश्री का तात्पर्य यह है कि, मेरे कहे को देखो-परखो-जानो और करो।

तत्र प्रमाणं मे मतिरिति। पूर्वं यदाक्षिप्तं तत्सर्वं सगुणभाववद्भक्तकृत्यम् , मदीयास्तु निर्गुणभावा इति तैर्मदुक्तमेव विधेयम्। तत्राज्ञानमन्यथाज्ञानं च वारयन्ति कुसृष्टिरिति। अत्र मदुक्तौ या कुसृष्टिर्हेतुवादादिरुत्पद्येत स वै निश्चयेन भ्रम एव। श्रीमदाचार्योपदिष्टप्रकारेषु यत्प्रमाणान्तरान्वेषणं तद्भ्रमरूपमेवेति दिक्।

इति सेवाफले मूले टीकायां च कृतं मया। टिप्पणं श्रीमदाचार्यपदपद्मानुसारिणा॥ १॥

इति श्रीसेवाफलटिप्पणम्।

क्यों करो ? तो करने के लिए प्रमाण के रूप में आपश्री आज्ञा करते हैं - **मे मतिः**। आपश्री कहते हैं - पहले जो तुमने फलप्राप्ति के लिये हठाग्रह रखते हुए तप, अनशन इत्यादि की बात कही, वह सभी कुछ सगुणभाव वाले भक्तों के कार्य हैं (लौकिकगुणों से युक्त को सगुण कहते हैं)और मेरे जीव तो निर्गुण हैं अतः मेरे जीवों को तो मेरे कहे का ही अनुसरण करना चाहिए। इसमें अज्ञान एवं अन्यथाज्ञान का निवारण करते हुए आपश्री **कुसृष्टिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - मेरे कहे में तर्क-वितर्क करने जैसी कोई कुसृष्टि पैदा होती हो, तो वह निश्चित **भ्रम** ही है। तात्पर्य यह कि, श्रीमदाचार्यचरणों के द्वारा उपदिष्ट प्रकार में अन्य कोई प्रमाण ढूँढना उसका भ्रम ही है।

इस प्रकार श्रीमदाचार्यचरणकमलों के अनुसार मैंने मूल सेवाफल एवं उसकी टीका की टिप्पणी की॥ १॥

श्रीकृष्णाय नमः।

सेवाफलम् विवृतिप्रकाशसहितम्। ३

⁂

प्रणम्य पुष्टिमार्गीयं ससूनुं वल्लभं प्रभुम्। सेवाफलस्य विवृतिप्रकाशः क्रियते मया॥ १॥

श्रीमदाचार्याः पुष्टिमार्गीयदैवजीवानां मानसीसेवासिद्धावङ्गभूतं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं तदभावं च प्रतिपादयन्ति **सेवायां फलत्रयमिति**। मानसीसेवायामङ्गभूतं तनुवित्तजासेवासाध्यं फलत्रयम्। **अलौकिकसामर्थ्यं सर्वेन्द्रियाणां** भगवत्परतारूपमेकं फलम्। **सायुज्यं** सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, व्यसनभावानन्तरं देहनाशकेन विगाढभावेनान्यस्फूर्तिराहित्यपूर्वकं भगवता सह योगः द्वितीयं फलम्। **सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु**। यथा वैकुण्ठव्रजादिषु साक्षात् सेवोपयोगिदेहस्तथा देहो मानसीसेवाया-मधिकाररूपस्तृतीयं फलम्।

वल्लभप्रभु को उनके पुत्रों सहित नमस्कार करके, सेवाफल की विवृति को मैं प्रकाशित कर रहा हूँ॥ १॥

इस ग्रंथ में आचार्यचरण मानसीसेवा सिद्ध होने के अंगभूत तीन फल, तीन प्रतिबन्ध एवं उन प्रतिबन्धों को दूर करने के उपाय **सेवायां फलत्रयम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तनुवित्तजा सेवा द्वारा सिद्ध होने वाले ये तीन फल हैं और ये तीन फल मानसीसेवा के अंगभूत हैं। *****(मानसीसेवा जिन अंगों से सिद्ध होती है या मानसीसेवा को सिद्ध करने में जिनकी आवश्यकता पड़ती है, वह मानसी के अंगभूत कहे जायेंगे। टीकाकार के अनुसार मानसीसेवा को सिद्ध करने में सेवा में प्राप्त होने वाले ये तीन फल सहयोगी बनेंगे अतः ये तीन फल मानसीसेवा के अंगभूत हैं। इसी के साथ-साथ टीकाकार कहते हैं कि ये तीन फल तनुवित्तजासेवा द्वारा सिद्ध होंगे)***** इनमें से अलौकिकसामर्थ्य मिलनी पहला फल है, जिसमें समस्त इंद्रियाँ भगवत्पर बन जाती हैं। सायुज्य का अर्थ ऐसे होगा - संग में जुड़ने को सयुक् कहते हैं ; संग में जुड़ने का भाव है, सायुज्य। भगवान का व्यसन सिद्ध होने के पश्चात् लौकिकदेहनाश के द्वारा प्रभु में विगाढभाव के कारण जीव को अन्य दूसरी वस्तु की स्फूर्ति न होकर भगवान के संग रहने का नाम है -सायुज्य, जो दूसरा फल है। तीसरा फल है - भगवान के वैकुण्ठ आदि में उनकी सेवा में उपयोगी देह प्राप्त होनी। तात्पर्य यह कि जैसे भगवान के वैकुण्ठ, व्रज इत्यादि स्थलों पर साक्षात् सेवा में उपयोगी देह प्राप्त होती है, वैसी ही देह मिलनी तीसरा फल है, जो मानसी सिद्ध होने में अधिकाररूप से प्राप्त होती है।

एतत्फलत्रयमेव सार्धश्लोकेन प्रतिपादयन्ति **यादृशीति**। यादृक्प्रकारिका मानसी सेवा "ता नाविद"न्नित्यादिवाक्यैर्भगवता प्रोक्ता तत्सिद्धावङ्गभूतं येन विना यन्न संभवति तत्तदङ्गमेतादृशमलौकिकसामर्थ्यरूपं फलमुच्यते। **यतो हि निश्चितम्**। अलौकिकसामर्थ्यस्य दाने सति तनुवित्तजासेवाप्रारम्भे जातो यो मनोरथः ममानया सेवया मानसीसेवा सिध्यत्वेवंरूपः स सिध्येत्, अत इदं फलमङ्गभूतमुच्यते। अथवा सायुज्यं फलमङ्गभूतमुच्यते। अथवा साक्षात्सेवोपयोग्यधिकाररूपदेहोऽङ्गभूतं फलमुच्यते। यत एतयोरपि दाने प्रथमं जातो मनोरथः सिध्येत्, नान्यथा। तस्मादेतयोरपि मानसीसेवायामङ्गभूतत्वम्। अस्मिन् फलत्रये कालो न नियामकः संपादको न भवति। यतः पुष्टिमार्गीयदैवजीवे मानसीसेवार्थं भगवदुत्पादितमेवैतत्फलत्रयम्।

इन्हीं तीन फलों के बारे में आचार्यचरणों ने मूल के डेढ़ श्लोक द्वारा **यादृशी** इत्यादि शब्दों द्वारा कहा है। यादृशी का अर्थ है - जिस प्रकार की मानसीसेवा भगवान ने "गोपियाँ मुझमें इतनी तन्मय हो गयीं थीं कि उन्हें लोक-परलोक किसी की भी सुध न रही(श्री०भा० ११-१२-१२)" इस वाक्य द्वारा कही है, वह मानसीसेवा की अंगभूत सेवा तनुवित्तजा के सिद्ध होने पर जो फल प्राप्त होता है, वह कह रहे हैं। अंगभूत उस वस्तु को कहते हैं ,जिसके बिना कार्य बनना संभव न हो अतः मानसीसेवा के अंगभूत अलौकिकसामर्थ्यरूप फल को आचार्यचरण यहाँ कह रहे हैं। **हि** शब्द इसी निश्चित अर्थ को बताने के लिये है। जब भगवान अलौकिकसामर्थ्य का दान करते हैं, तब तनुवित्तजा सेवा प्रारंभ करने पर मन में "मुझे इस सेवा से मानसीसेवा सिद्ध हो जाय" इस प्रकार का जो मनोरथ आता है, वह सिद्ध होता है। अलौकिकसामर्थ्य का दान मिलने पर ही मन में मानसीसेवा सिद्ध करने का मनोरथ आता है अतः अलौकिकसामर्थ्य को हमने अंगभूत कहा है। अथवा तो सायुज्य या साक्षात् सेवा में उपयोगी अधिकाररूपी

देह को अंगभूत समझ लें क्योंकि सायुज्य या सेवोपयोगिदेह के अधिकार मिलने पर भी जीव के मन में मानसीसेवा सिद्ध हो जाने का मनोरथ आता है, सायुज्य या सेवोपयोगिदेह मिलने के बिना नहीं। इसलिये इन दोनों को भी मानसीसेवा का अंगभूत मानना चाहिए। इन तीनों फलों में काल नियामक नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि ये फल काल द्वारा प्राप्त होते हैं। क्योंकि पुष्टिमार्गीयजीव को मानसी सिद्ध कराने के लिये भगवान ही ये तीन फल देते हैं।

एवं मानसीसेवायामङ्गभूतं फलत्रयमुपपाद्य मानसीसेवायां प्रतिबन्धकत्रयमुपपादयन्ति **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्**। तदेव विशदयन्ति **उद्वेग इति**। मानसीसेवायां तु उद्वेगः बाधकं भवेत्। अथवा प्रतिबन्धः बाधकं भवेत्। **भोगो** वा बाधकं भवेत्। एवं बाधकत्रयं सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्। तु शब्दोन्यव्यावृत्त्यर्थम्। **बाधकानां परित्याग इति**। बाधकत्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः।

इस प्रकार मानसीसेवा के अंगभूत तीन फलों को कह कर अब आचार्यचरण मानसीसेवा सिद्ध होने में तीन प्रतिबन्धकों को **सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन्हीं प्रतिबन्धकों को आपश्री **उद्वेगः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। मानसीसेवा में या तो उद्वेग बाधक होता है या प्रतिबन्ध या फिर भोग। इस प्रकार से सेवा में ये तीन प्रतिबन्ध बाधक होते हैं। **तु** शब्द यह बताता है कि, इन तीन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त सेवा में अन्य कोई दूसरा प्रतिबन्ध नहीं होता। **बाधकानां परित्यागः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है - ये तीनों बाधक जिस कारण से होते हों , उन कारणों का परित्याग कर देना चाहिए।

भोगो द्विविधः। लौकिकोऽलौकिकश्च। द्विविधेपि भोगे एकं लौकिकभोगरूपं बाधकं तथा त्याज्यम्। अपरं द्वितीयमलौकिकभोगस्वरूपं निष्प्रत्यूहं निर्विघ्नं भगवतैव निर्वाहात्। स अलौकिकभोगस्तु महान् भोगः सदा निरन्तरं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारूपः। फलत्रयाणां मध्ये प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति। अतो न त्यक्तुं योग्यः। प्रतिबन्धोपि द्विविधः। साधारणो भगवत्कृतश्च। तत्र प्रतिबन्धद्वये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायेन त्याज्यः। भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्। तदेवाहुः **अकर्तव्यमिति**। भगवतो जीवकर्तृकं भजनं कर्तुमयोग्यं चेत्तदा सर्वप्रकारेण गतिर्नहि। फलं नेति निश्चयः। यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धः सर्वथा निवारयितुमयोग्यस्तदा तत्प्रतिबन्धनिवारणार्थं कृता या अन्यदेवतासेवा सापि व्यर्था। अन्यफलदातृणामपि देवानां भगवदधीनानां भगवत्कृतप्रतिबन्धानिवारकत्वात्।

भोग दो प्रकार का होता है - लौकिक एवं अलौकिक। दोनों प्रकार के भोगों में से एक लौकिकभोग सेवा में बाधक है अतः त्याज्य है। दूसरे अलौकिकभोग का स्वरूप निष्कंटक है , निर्विघ्न है क्योंकि अलौकिकभोग का दान भगवान ही करते हैं। यह अलौकिकभोग तो महान होता है क्योंकि इसका भोग इंद्रियों में निरंतर भगवत्परता उत्पन्न करता है एवं तीन फलों में प्रथम अलौकिकसामर्थ्यरूपी फल में प्रवेश दिलाता है अतः अलौकिकभोग का त्याग नहीं करना है। प्रतिबन्ध भी दो प्रकार का होता है - साधारणप्रतिबन्ध एवं भगवत्कृतप्रतिबन्ध। इन दो प्रतिबन्धों में से पहला साधारण प्रतिबन्ध बुद्धिपूर्वक उपाय करके दूर करना चाहिए। किंतु यदि भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता हो, तो भगवान फल देना नहीं चाहते, यह मानना चाहिए। यही बात आपश्री ने **अकर्तव्यं** इत्यादि वाक्यों से कही है। भगवान को जीव द्वारा किया जाने वाला भजन/सेवा यदि अयोग्य लगती हो, तो फिर जीव की कोई गति नहीं रह जाती। अर्थात् फिर उसे फल नहीं मिलता ये निश्चित है। तात्पर्य यह कि , जब भगवत्कृतप्रतिबन्ध का निवारण करने में सर्वथा अयोग्य हो जाओ, तो भगवान के प्रतिबन्ध का निवारण करने के लिये अन्यदेवताओं की सेवा करनी भी व्यर्थ सिद्ध होगी। क्योंकि अन्य दूसरे फलों को देने वाले देवता भी भगवान के ही अधीन हैं और वे भगवान द्वारा किये गये प्रतिबन्धों का निवारण नहीं कर सकते।

किञ्च, यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा आसुरोयं जीव इति निर्धारः। अयं जीवो दैवः पुष्टिमार्गीयजीववत् सेवादिना प्रतीयमानोप्यासुर इति निर्धारः। दैवजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धासंभवात्। ननु यदा भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय तेन किं कार्यमित्याकांक्षायामाहुः **यथा वेति**। वेत्यनादरे। यथा येन प्रकारेण वेदान्तश्रवणादिना अन्येनापि येन केनचित्प्रकारेण तत्त्वनिर्धारः स्वरूपनिर्धारो भवति तेन प्रकारेण तस्य विवेकः साधनं संमतम्। विवेकस्वरूपं तदेव विवृतं तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं , शोकाभावायेति विवेकः। यदा भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय ज्ञानमार्गेण मया स्थातव्यमिति विवेकरूपं साधनम्।

और भी, जब भगवान द्वारा प्रतिबन्ध होता हो, तो मन में इस प्रकार से निर्धारित करना चाहिए कि- मेरा जीव आसुरी है और इसी कारण भगवान मेरी सेवा में प्रतिबन्ध कर रहे हैं। उसे यह निर्धारित करना चाहिए कि, भले ही यह जीव एक पुष्टिमार्गीय की भाँति सेवा करता दिखाई देता है तथापि ये आसुरी है। क्योंकि दैवीजीव होता तो भगवान प्रतिबन्ध न करते। अब प्रश्न यह ह

कि, यदि भक्तिमार्गीय भजन करने में भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता हो , तो अपने शोक को दूर करने के लिये वह क्या करे ? इसे आपश्री **यथा वा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। वा शब्द अनादर अर्थ में है। तत्वनिर्धार का अर्थ है- अपने स्वरूप को पहचान लेना। **यथा वा** का तात्पर्य यह है कि, जैसे जिस प्रकार से वेदांतों का श्रवण करने के माध्यम से या अन्य किसी भी माध्यम से अपने स्वरूप का परिचय होता हो, वैसे प्रकार से रहना विवेक है, जो शोक दूर करने में साधन है। विवेक का स्वरूप तो वही है जो विवृत किया था कि, भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता हो तो अपने शोक को दूर करने के लिये ज्ञानमार्ग की राह पर चलना चाहिए। जब भक्तिमार्गीय भजन करने में भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता हो , तो अपने शोक को दूर करने के लिये "अब मुझे ज्ञानमार्ग में रहना चाहिए" इस प्रकार का विवेक रखना ही साधन है।

साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुः **सविघ्नोल्पो घातकः स्यादिति**। सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भावविघ्नातकत्वात् साधारणो भोगस्त्याज्यः। बलावेतौ सदा मतौ। एतौ साधारणप्रतिबन्धसाधारणभोगरूपौ सदाप्रतिबन्धकौ संमतावतस्त्याज्यौ। **द्वितीय** इति। द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तस्मिन् सति ज्ञानमार्गेणापि स्थित्यसंभवे चिन्ता भवति।

तदभावार्थमाहुः **द्वितीय** इति। ज्ञानमार्गेणापि स्थितौ भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा चिन्ता त्याज्या। संसारनिश्चयात्। सर्वत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धादयं जीव आसुर इत्यस्य संसार एव भवति, नतूद्धार इति निर्धारात् सर्वथा चिन्ता त्याज्या।

अब साधारणभोग कैसे दूर करें ? यह आकांक्षा होने पर आपश्री **सविघ्नोल्पो** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - साधारणभोग में विघ्न होने के कारण एवं अल्प होने के कारण यह भगवद्भाव का विघ्नातक है अतः साधारणभोग त्याज्य है। **बलादेतौ सदा मतौ** इत्यादि शब्दों का अर्थ है - ये साधारणप्रतिबन्ध एवं साधारणभोग दोनों सदा प्रतिबन्ध माने गये हैं अतः इनका त्याग करिए। **द्वितीये** का अर्थ है - दूसरा भगवत्कृतप्रतिबन्ध। दूसरा भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने पर तो जीव ज्ञानमार्ग में भी नहीं रह सकता अतः उसे चिन्ता होती है। उसे चिन्ता नहीं करनी चाहिए - यह कहने के लिये आपश्री **द्वितीय** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - ज्ञानमार्ग पर चलने से भी यदि भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता हो तो, चिन्ता सर्वथा छोड़ दें क्योंकि तब यह सोचकर शांत हो जाएँ कि, भगवान ने मेरे लिये संसार में ही डूबे रहना लिखा है अतः व्यर्थ में चिंतातुर होने से भी क्या लाभ ? और यह भी सोचें कि - यदि सर्वत्र भगवत्कृतप्रतिबन्ध हो रहा है, तो मेरा जीव आसुरी ही होना चाहिए और मुझे संसार ही प्राप्त होना है, उद्धार नहीं- ऐसा निर्धारण करके चिन्ता करनी सर्वथा छोड़ देनी चाहिए।

भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य ज्ञापकमाहुः **नन्वाद्य** इति। नन्विति विरोधोक्तौ। दैवजीवे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वं, तेन तत्कृता सेवा आधिदैविकी, आधिदैविको भगवान् तत्सम्बन्धिनी भवति। आसुरजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धादाद्यफलाभावे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परत्वाभावे सति तत्र भगवतः फलदातृत्वं नास्ति। तदा तत्कृता सेवा नाधिदैविकी भगवत्सम्बन्धिनी न भवतीत्युक्तं भवति। तस्य प्रपञ्चासक्तत्वात्।

अब भगवत्कृतप्रतिबन्ध को बताने वाले लक्षण आपश्री **नन्वाद्ये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **ननु** शब्द उसे बताता है, जिसको भगवत्कृतप्रतिबन्ध होता है या जिसके फल में विरोध/अवरोध आता है।

दैवीजीव में यह होता है कि, समस्त इंद्रियाँ भगवत्पर बन जाती हैं , भगवत्परता से उसके द्वारा की गयी सेवा आधिदैविकी बनती है एवं आधिदैविक भगवान उससे संबंधित हो जाते हैं। आसुरीजीव में यह होता है कि, भगवत्कृतप्रतिबन्ध होने के कारण उसे आद्यफल नहीं मिलता जिससे उसकी इंद्रियाँ भगवत्पर नहीं बन पातीं और जब इंद्रियाँ ही भगवत्पर नहीं हैं , तो भगवान ऐसे जीव को फलदान की भी इच्छा नहीं रखते। ऐसी परिस्थिति में यह कहा जायेगा कि, उसके द्वारा की सेवा आधिदैविकी नहीं बनती, भगवत्संबंधिनी नहीं बनती क्योंकि वह प्रपंच में आसक्त है।

तृतीय इति। ननु तृतीये-भोगाभावे बाधकं गृहम्। भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः। **अवश्येयमिति**। इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकाभावत्रयी अवश्या, न स्वशक्या। तथापि भाव्या विचारणीया। मम फलत्रयं भवतु, प्रतिबन्धकाभावत्रयं भवतु, एवं विचारणीया। फलत्रयप्रतिबन्धकाभावत्रयाभ्यामन्यत् सर्वं फलभावनं प्रतिबन्धकभावनं स्वान्तभ्रान्तिरित्यर्थः। ननु पुष्टिमार्गीयाणां किमर्थं भावनं, तं विनैव फलसिद्धेरित्याशंकायामाहुः **तदीयैरिति**। पुष्टिमार्गीयैरप्येतद्भावनं कार्यम्। एतद्भावने भगवान् पुष्टिमार्गे फलदाने विलम्बं न करोत्येव। अतः पुष्टिमार्गीयाणामेतद्भावने शीघ्रं फलं भवत्यतस्तैरपि भावनं कार्यम्।

अब **तृतीय** आदि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि तीसरा प्रतिबन्ध होने पर भोग को दूर करने में गृह बाधक होता है। भोग तभी दूर होते हैं, जब गृह का परित्याग किया जाता है। **अवश्येयं** इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि - ये तीन प्रतिबन्धक एवं तीन फल यद्यपि जीव के वश में नहीं हैं, फिर भी इनका चिंतन करते रहें। यह चिंतन करते रहें कि - मुझे सेवा के तीन फल प्राप्त हों एवं सेवा में आने वाले ये तीन प्रतिबन्धक दूर हों। यह विचारें कि इस ग्रंथ में कहे तीन फलों की प्राप्ति एवं तीनों प्रतिबन्धकों की निवृति के अतिरिक्त अन्य दूसरे सभी फलों एवं प्रतिबन्धकों के बारे में सोचना या विचार करना अपनी भ्रान्ति है - यह अर्थ है। किंतु प्रश्न यह है कि, पुष्टिमार्गीयों को इन सभी का विचार करने की क्या आवश्यकता है, उन्हें तो इसके बिना ही फलसिद्धि हो जायेगी ? तो इसका स्पष्टीकरण आपश्री **तदीयैः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि पुष्टिमार्गीयों को भी इनका विचार करते ही रहना है क्योंकि इनका विचार करते रहेंगे तो भगवान पुष्टिमार्ग में फलदान करने में विलंब नहीं ही करेंगे। सो, इस प्रकार का विचार करते रहने से पुष्टिमार्गीयों को शीघ्र ही फल प्राप्त होगा अतः वे भी इनका चिंतन करें।

ननु सत्त्वादिप्राकृतगुणकृतचित्तक्षोभे सति कथं भावन कार्यं तत्राहुः **गुणक्षोभेपीति**। चित्तस्य गुणत्रयकृतक्षोभेप्येतदेव फलप्रतिबन्धकत्रयप्राप्तिनिवृत्तिभावनं तन्निवारणे साधनरूपं द्रष्टव्यम्। एतद्भावनयैव गुणत्रयक्षोभोपि नश्यतीति मे मतिः। एवंप्रकारिका मम बुद्धिः। **कुसृष्टिरिति**। अत्रैतद्भावनकृतगुणत्रयक्षोभनिवारणे काचित् कुसृष्टिरेतद्भावनयैव गुणत्रयकृतक्षोभो नश्यतीति कथं, गुणत्रयकृतक्षोभनिवारणे साधनान्तराण्यपि भविष्यन्तीत्येवंरूपानुपपत्तिरुत्पद्यते चेत् , निश्चयेन स वै भ्रमः। स्वान्तभ्रान्तिः। अत्र न काप्यनुपपत्तिरिति दिक्।

इति श्रीसेवाफलविवृतिप्रकाशः।

इसमें शंका यह है कि, चित्त में यदि लौकिक सत्व-रज-तम आदि गुणों का क्षोभ हो जाए तो चिंतन भी कैसे करें ? इसका स्पष्टीकरण आपश्री **गुणक्षोभेपि** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - चित्त में गुणों का क्षोभ हो जाने पर भी फलप्राप्ति एवं प्रतिबन्धकनिवृत्ति की भावना ही क्षोभ दूर करने में साधन समझना चाहिए। आपश्री कहते हैं - इसी की भावना करते रहेंगे तो सत्व-रज-तम गुणों का क्षोभ भी नष्ट हो जायेगा, यह मेरी मति है अर्थात् ऐसा मैं सोचता हूँ। **कुसृष्टिः** पद की व्याख्या करते हैं। आपश्री कुसृष्टि पद से यह कहना चाह रहे हैं कि; हमारे द्वारा कही भावना से सत्वरजतम गुणों के क्षोभ का निवारण करने में ये सोचना कि "केवल फलप्रतिबन्धकों का चिंतन करने मात्र से ही गुणक्षोभ का निवारण कैसे हो सकता है ?" , "इनका निवारण करने में अन्य भी तो कई साधन होंगे ! केवल यही क्यों ?" इस प्रकार की शङ्काएँ उत्पन्न होती हों, तो वह निश्चित भ्रम ही है , अपने मन की भ्रांति है अतः हमारे कहे अर्थ में कोई संदेह नहीं है।

यह सेवाफलप्रकाश समाप्त हुआ।